

गया था। साथ ही मैं कमेटी से लिखितरूप में यह प्रतिज्ञा की गई थी कि "५ सहस्र रु० की लागत के हिन्दी-वैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीवालबन्धु ई० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जायंगे। तदनुसार एक वर्ष के भीतर भीतर हमें लगभग २॥ सहस्र के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं। लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के हिसाब के साथ प्रकाशित खण्डों की १०० प्रतिशत कमेटी की सेवा में भेज दी गई है। बाकी बचे हुए ऋण से भी हम शीघ्र ही मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कमेटी से, विशेषतः श्रीमतीलेडीनन्दमीबाई, एवं राजासाहब श्रीमुकुन्दलाननी से यह विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी ने जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वकथनानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगा है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिष्कृत होना चाहिए, नहीं होसका है। कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार संकट-ग्रस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामने रखने में समर्थ होसके हैं, इस का पूरा विवरण "हमारी यात्रा, और वैदिकस हिंस" नाम के यत्न से कमेटी को विदित होगा। इन सब संकटों के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिलाते हैं कि अग्रिम वर्ष की समाप्ति तक जैसे भी बनेगा, हम शेष ऋण से मुक्त होने का प्रयास करेंगे। हमें आशा है—लेडी साहिबा, एवं राजासाहब हमारी विनम्र परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए मविष्य में भी हम साहित्य पर इसी प्रकार अनुग्रहदृष्टि बनाने रखेंगे।

इस के अनन्तर "उपनिषद्-विद्वानभार्यभूमिका" का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा। यह भूमिका २०० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है। इसी लिए इसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

- | | | |
|-------------------------|------|-------------------|
| १—प्रारम्भिक वक्तव्य— | —१०० | } भूमिकाप्रथमखण्ड |
| २—पद्मनपात्रदृश्य— | —४० | |
| ३—उपनिषद् गन्ध का अर्थ— | —१०० | |
| ४—यथा उपनिषद् वेद है !— | —१२० | |



- (५)—१—उपनिषदों में क्या है ?
 (६)—२—उपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है ?
 (७)—३—उपनिषद हमें क्या सिखाती है ?
 (८)—४—औपनिषद ज्ञान के प्रवर्तक कौन थे ?
 (९)—५—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद में परस्परमें क्या सम्बन्ध है ?
 (१०)—६—श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि ।

भूमिकाद्वितीयखण्ड

(लगभग ५०० पृष्ठ)

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए सजा का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला है । कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही कम मिलता है । साथ ही में अर्थसम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति रखने में भी असमर्थ हैं । इन्हीं सारी परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए पाठक उक्त अपराध के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे, यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना समाप्त करते हैं ।

प्रियतामनेनात्मदेवतेति-शम्

चालगुणकृष्ण १३ शिवरात्रिः

विद्वद्भिर्विधेयः—

वि० सं० १२६०

मोतीलालशर्मा, भारद्वाजः

(ग्रन्थसमाहित)

जयपुर—राजधानी

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड की

स्फियसूची



अथ

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणाम्

१

(१ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—पंक्तिवैभव	*	६—अद्वैत की मीमांसा	३
२—अधिकरणस्वरूप	*	७—सजातीय-विजातीय-स्वगतमेद	"
३—अव्यक्तात्मस्वरूपनिर्दर्शन	*	८—कल्पित अद्वैतवाद	४
१—मूलमन्त्र	१	९—अनीश्वरवादप्रधान जगन्नि-	५
२—मन्त्र का अक्षरार्थ	२	ध्यात्ववाद	
३—विश्व की द्वितियति	११	१०—विश्व का मूल	"
४—इन्द्रमान की व्यापकता	"	११—सत्यमूलक विश्व की सत्यता	"
५—एकत्व-अनेकत्व	३	१२—अमृत मृत्युमय विश्व	६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३—नाम रूप की सत्यता	६	१७—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय	१०
१४—जगन्निर्घ्यात्ववाद की अशास्त्रीयता	७	१८—मन्त्रसम्बन्धी सोपाधिकमान	"
१५—जगत् की सत्यता के समर्थक त्रौणप्रमाण	८	१९—आहिति एव आधान सम्बन्ध	"
		२०—मन्त्रोपात्त यज्ञक्रम	११
१६—आमा के स्वरूपधर्म	१०	२१—विवाकर्ममय अन्वय	"

इति-विषयोपक्रमः

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदानिरुक्तिः

(१० पृष्ठ से ३० पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—ज्ञानसाधक वेद	१०	१०—क्रिया का स्वरूप	१३
२—महा से सर्वप्रथम वेद का प्रादुर्भाव	"	११—कम्पन एव गति का तात्- म्य (हल-चल)	"
३—वेद के चार विभाग	"	१२—अग्निविषयामक शरीर	१४
४—अग्निवेद, सोमवेद	"	१३—प्राणाग्नि का निरूपण	"
५—अग्निप्रतिष्ठा का अग्नि	"	१४—उर्माध्यय अग्नि	"
६—दाहक-दाहमान	"	१५—प्राण-भूत मेद से अग्नि के दो विवर्त	"
७—तेज-स्नेहमान	१३	१६—विशकलनधर्मी अग्नि	१५
८—अग्निमयी मूर्ति	"	१७—सकोचधर्मी सोम	"
९—कर्मपुत्र	"	१८—रवि-प्राण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१६—अग्नीषोमात्मकं जगत्	१५	४२—प्राजापत्यवेद	२३
२०—सत्याग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि	"	४३—वेद से श्राप्ति	२४
२१—अग्नित्रयी (त्रयीवेद)	"	४४—वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति	"
२२—सोमवेद (अथर्ववेद)	"	४५—पुष्करपर्श	"
२३—सायतन-निरायतन सोम	१६	४६—पुरा की उत्पत्ति	२५
२४—आत्मवेदोपक्रम	"	४७—चतुर्मुखब्रह्मा	"
२५—उक्थ-प्रज्ञ-साम	"	४८—क्षीरसमुद्र	"
२६—आत्मवेद में त्रयीवेद	१७	४९—सरस्वतीवाक्	"
२७—प्रतिष्ठावेदोपक्रम	"	५०—नारदऋषि	"
२८—प्रतिष्ठात्रयी	"	५१—सरस्वान् समुद्र	"
२९—धृतिस्वरूपनिर्घचन	"	५२—प्राकृतिक आन्वधान	२६
३०—असतोधृति	१८	५३— " अग्निहोत्र	"
३१—सतोधृति	"	५४— " दर्शपूर्णमास	"
३२—प्रतिष्ठावेद में त्रयीवेद	१९	५५— " चातुर्मास्य	"
३३—ज्योतिर्वेदोपक्रम	"	५६— " पशुबन्ध	"
३४—षडज्योति	"	५७— " ज्योतिष्टोम	"
३५—मूलज्योति	२०	५८— " अग्निचयन	"
३६—सत्यज्योति	"	५९—कुण्डलाजिन	"
३७—ज्योति, चेतना, आनन्द	२१	६०—आतानयज्ञ	२७
३८—सन्निदानन्दघन वेद	"	६१—महापृथिवी	"
३९—अग्निवेदविर्घट	२२	६२—प्रजापति के रमश्रु	"
४०—अनन्तवेद	२३	६३—निषति वेद	२८
४१—श्रमीगर्भित भूतप्रपञ्च	"	६४—गुर्तिभाव	२९

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६५—गतिमान	२२	६७—वेदतालिका	३०
६६—तेजोमान	"		

षष्ठीवेदनिरुक्ति-समाप्त

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयववेदीनिरुक्तिः

(११ पृष्ठ से ४६ पर्यन्त)

— ० —

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—समन्वयमूलासृष्टि	३१	१४—सत्याग्नि	३६
२—प्राणाग्निद्वेष	"	१५—यज्ञाग्नि	"
३—अभिन्नसत्ता	"	१६—मयाग्नि (प्राणाग्नि)	"
४—दाम्पत्यमान	"	१७—देवाग्नि (मायाग्नि)	"
५—एनाकी न रपते	३२	१८—भूताग्नि (अन्नादाग्नि)	"
६—विराट्निरुक्ति	"	१९—वैश्वानराग्नि (देवाग्नि)	"
७—चाक्षुस्पुण्य	"	२०—निधरण-प्रतिष्ठा	३७
८—द्वन्द्वितरस्तु	३३	२१—रूप-निकास	"
९—नपुंसक ऋक्मान	३४	२२—पाक-मिलयन	"
१०—असुयधि	"	२३—अग्निप्रजापति	३८
११—वेद से दरबितान	३५	२४—अग्नेरपति	३९
१२—विश्वानिरुक्ति	"	२५—मरीची की उपपत्ति	"
१३—देषशाग्नि	"	२६—मरु की उपपत्ति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—भद्रा की उत्पत्ति	४६	४२—महाण्ड का उदय	४३
२८—परिश्रमजन्य श्वसु	"	४३—भरावल की उत्पत्ति	"
२९—ललाट से स्वैद्योत्पत्ति	"	४४—जायावल की उत्पत्ति	४४
३०—प्रेम के अश्रु	४०	४५—प्राणी के चार जन्म	"
३१—शोक के अश्रु	"	४६—आदिपुरु की उत्पत्ति	४५
३२—प्रेमविरति	४१	४७—कमल-निरुक्ति	"
३३—वासरूपभाव	"	४८—अलभाव	"
३४—थद्भाव	"	४९—जीवनश्लोत्पत्ति	"
३५—स्नेहभाव	"	५०—जीवनशक्ति	"
३६—कामभाव	४२	५१—श्रुतवल की उत्पत्ति	४७
३७—रतिभाव	"	५२—अपुत्रत्व की व्यापकता	"
३८—बन्धन-मुक्तिरहस्य	"	५३—सुवेद का प्रादुर्भाव	४८
३९—महानाया	"	५४—स्वेदवेद	"
४०—अनतिप्ररन	४३	५५—बल-सुमल	"
४१—ईश्वरेन्द्रा	"	५६—गोपयश्रुति	४६

अथर्ववेदनिरुक्ति-समाप्त

मन्त्रार्थप्रकरण

(५० पृष्ठ से ११५ पृष्ठ्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—सृष्टि के अनुबन्ध	५०	३—घार और मधुरस्त	५०
२—भृगुतन्त्र	"	४—मर्जनशीलत्व	५१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—रेत का मृगुभाव	५१	२८—'अय-अर्वाक्' अर्वा	५७
६—वरुणपुत्र-मृगु	"	२९—सर्वप्रथमज वेद	"
७—दीपशिखा-अगिरा	"	३०—गायत्रीमात्रिक वेद	"
८—दीरप्रभा-मृगु	"	३१—पौरुषेय वेद	"
९—मृद्गु	५२	३२—अस्त्वण्ड	५८
१०—प्राणवायु	"	३३—पोषण्ड	"
११—पञ्चमान वायु	"	३४—यशोऽण्ड	"
१२—मातरिष्वा वायु	"	३५—रेतोऽण्ड	"
१३—सविता वायु	"	३६—व्योम	"
१४—दिग्मेद से वायुविभाग	५३	३७—समुद्र	"
१५—वातवायु	"	३८—ब्रह्माण्ड	"
१६—पञ्चमान, पावक, शुचि	"	३९—सूयनारायण	"
१७—अपरिप्राणरहस्य	५४	४०—सत्याधतार	"
१८—अपरिवात	"	४१—मल, वेद, प्रथी, अग्नि	५९
१९—शुक्लाप्रयोग	"	४२—सुव्यय, सुवेद, अर्वा, सोम	"
२०—आशौच का संक्रमण	५५	४३—निवा, स्थिति, आकार, धारु, ज. ६०	"
२१—अपरिहितरा	"	४४—कर्म, गति, वायु, प्राण, पद	"
२२—गुरुत्व अपर्वा	"	४५—अमृत-मर्वाकारा	६१
२३—ब्रह्मा वा अष्टगुण अपर्वा	"	४६—अमृत-मर्वावायु	"
२४—मधुरपानी	५६	४७—इदं देवता	"
२५—आरगानी	"	४८—इदं भूतम्	"
२६—नेत्रमीत्रतोष्य	"	४९—पुरुष षण्देदं सर्वम्	"
२७—शोण्डरितक अपर्वा	५७	५०—गूवायु	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५१—व्याख्याताओं का मातरिक्षा	६१	७५—भूपृष्ठ-अन्वय	६५
५२—पारमेष्ठ्य मनोता	"	७६—सूत्र-सूत्रवायु	"
५३—पट्प्रहा	६२	७७—चक्र-यजुर्वेद	"
५४—इन्द्रपत्नी	"	७८—मिट्टी-त्तरभाग	"
५५—वाङ्मयभूत	"	७९—दण्ड-ध्रुवनिघति	"
५६—वेदवाक्	"	८०—पानी-आपोमयप्रहा	"
५७—आकाशात्मिका वाक्	"	८१—कीलक-विघ्ननामि	"
५८—पादूकौशिक विवर्त	६३	८२—घटात्मक-महाण्ड	६६
५९—आत्मन्वी प्रजापति	"	८३—उत्कारूप-महाण्ड	"
६०—अनेजदेजत्	"	८४—भूलोक-बुध्न	"
६१—अवयवगति	"	८५—सुक्तीक-उदर	"
६२—अवयवीगति	"	८६—सुक्तीक-मुख	"
६३—उमयगति	"	८७—घटनिर्माता, विश्वनिर्माता में स्पर्धा	"
६४—गतिस्थिति का दिग्दर्शन	६४	८८—अनेजदेजत् का एकत्रसम्बन्ध	"
६५—कुम्भकार प्रजापति	"	८९—गतिस्थिति का सम्बन्ध	६७
६६—प्रजापति का धरातल	"	९०—मनसो जवीयः	६८
६७—घट का निमित्त कारण	"	९१—देवसृष्टि	६९
६८—" उपादानकारण	६५	९२—इन्द्रियदेवता	"
६९—" सहकारीकारण	"	९३—पूर्वमर्षत्	"
७०—बौद्धघट	"	९४—देवताओं का परमत्व	"
७१—घटज्वंस	"	९५—महतोभूत भायी महेश्वर	७०
७२—घटोत्पत्ति	"	९६—मन्त्र के तीन पाद	७१
७३—पिठरपाक	"	९७—मन्त्र का चौथा चरण	"
७४—कुम्भकार-अक्षर	"		

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६८—रेत तत्र	७१	१२१—ब्राह्मलीला	७६
६९—योनित्रय	७२	१२२—पद्म और शूकर	"
१००—रेतोधातव	"	१२३—अन्त्यज और शूकर पशु	"
१०१—सृष्टिप्रवर्तक शिवराज्य	"	१२४—मलविशोधक अन्त्यज	"
१०२—सृष्टिनिवर्तक यमराज्य	"	१२५—मलविशोधक शूकरपशु	"
१०३—पिण्डनिर्माता मातरिखा	"	१२६—सप्त क्षिप पुरुष हैं	७७
१०४—पिण्डशब्द की व्याप्ति	"	१२७—मन्त्रप्रमाण	"
१०५—पृथिवी—दुलोक	"	१२८—श्रीसायणभिमत् अर्थ	"
१०६—मातरिरथा का कर्म	७३	१२९—सप्त पुरुष क्षिप हैं	"
१०७—अपाशर	"	१३०—सायणभाष्य और कर्मशास्त्र	"
१०८—मातरिरथा और ब्राह्म	"	१३१—सायणभाष्य में विज्ञानदष्टिका श्रमाव	"
१०९—ज्ञानज्योति	"	१३२—अक्षरशब्द का निर्वचन	"
११०—स्वप्नोति	"	१३३—ऋद् मन्त्रसम्बन्धिनी आत्मविप-	
१११—परज्योति	"	पिणी भावना का उपक्रम	७८
११२—रूपज्योति	७४	१३४—स्वप्नसुप्त प्रज्ञाणा	"
११३—आदिकाह	"	१३५—सौर देवता	"
११४—यहवराह	"	१३६—पार्ष्णि भूतात्मा	७९
११५—रथेतराह	"	१३७—उपनिषदों का आत्मा	"
११६—मत्स्यराह	"	१३८—त्रयीवेद का आत्मा	"
११७—एम्पवराह	"	१३९—श्रगम शास्त्र का आत्मा	"
११८—शूकरपशु	७५	१४०—केनोपनिषत् की सम्गति	"
११९—बाराही उपानत्	"	१४१—ज्ञान—काम—यर्मात्मा	"
१२०—श्रेयमूर्तिगृह	७६	१४२—आत्मनिकास का दिग्दर्शन	८०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४३-आत्मविवर्त्तपरिलेख	८१	१६६-क्षरोपासना	६०
१४४-त्रिपात् पुरुष की विभूति	८२	१६७-काण्डव्रयी	६१
१४५-आत्मविवर्त्तों की व्याप्ति	८३	१६८-उपनिषत्काल की उपासना	"
१४६-त्रिपात् अक्षरपुरुष	८४	१६९-उपासना का अर्थ	"
१४७-त्रिपात् क्षरपुरुष	"	१७०-उपासना का अर्थ	"
१४८-एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त	८५	१७१-मूर्त्त-मूर्त्तिप्रल	"
१४९-चेतनसृष्टि	८६	१७२-अक्षी की उपासना	"
१५०-अर्द्धचेतनसृष्टि	"	१७३-अक्ष की उपासना	"
१५१-अचेतनसृष्टि	"	१७४-उपासना का प्रथमस्तम्भ	६२
१५२-ब्रह्मात्मसृष्टि	८७	१७५-उपाना का द्वितीयस्तम्भ	"
१५३-दैवात्मसृष्टि	"	१७६-पीतल-वट-तुलसी आदि की उपाना	"
१५४-भूतात्मसृष्टि	"	१७७-भगवत्प्रतिमाओं उपासना	"
१५५-प्रथमाधिकारी	८८	१७८-शालग्राम की उपासना	"
१५६-मध्यमाधिकारी	"	१७९-त्रिमूर्त्ति श लग्राम	"
१५७-उत्तमाधिकारी	"	१८०-उदासीनभाव	"
१५८-सर्वभूतान्तरात्मोपासना	"	१८१-प्रकृतिभाव	"
१५९-हिरण्यगर्भोपासना	"	१८२-विकृतिभाव	"
१६०-अश्वत्थोपासना	"	१८३-स्त्रीरूप महात्मा	६३
१६१-श्रोद्धारोपासना	८९	१८४-क्षेत्र में वीर्याहुति	६४
१६२-उद्गीषोपासना	"	१८५-विश्वयोनि	"
१६३-प्रणवोपासना	"	१८६-विज्ञानवेत्ता कवि	"
१६४-अव्ययोपासना	९०	१८७-वृद्धराव्द की व्याख्या	६५
१६५-अक्षरोपासना	"	१८८-वैदिक आरूपान	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६८—रैल तन	७१	१२१—वराहलीला	७६
६९—योनित्तय	७२	१२२—पवन और शूकर	"
१००—रेतोघातन	"	१२३—अन्वज और शूकर पशु	"
१०१—सृष्टिप्रवर्तक शिववासु	"	१२४—मलविशोधक अन्वज	"
१०२—सृष्टिनिवर्तक यमवासु	"	१२५—मलविशोधक शूकरपशु	"
१०३—पिण्डनिर्माता मातरिश्वा	"	१२६—सब खिरं पुरुष हैं	७७
१०४—पिण्डशब्द की व्याप्ति	"	१२७—मन्त्रप्रमाण	"
१०५—भूमिनी—बुलोक	"	१२८—श्रीसायणभिमत् अर्थ	"
१०६—मातरिश्वा का कर्म	७३	१२९—सत्र पुरुष खिरं हैं	"
१०७—अपाशर	"	१३०—सायणभाष्य और कर्मकाण्ड	"
१०८—मातरिश्वा और ब्राह्म	"	१३१—सायणभाष्य में विज्ञानदष्टिका अभाव	"
१०९—ज्ञानज्योति	"	१३२—अनशब्द का निर्वाचन	"
११०—स्रज्योति	"	१३३—ऋग्वेदमन्त्रसम्बन्धिनी आत्मविषय-	
१११—परज्योति	"	यिगी भावना का उपक्रम	७८
११२—रूपज्योति	७४	१३४—सायण्युग महाभाष्य	"
११३—आदिकाह	"	१३५—सौर देशका	"
११४—पञ्चराह	"	१३६—पार्ष्णि भूतारता	७९
११५—रवेणराह	"	१३७—उपनिषदों का आमा	"
११६—अक्षराह	"	१३८—त्रयीवेद का आमा	"
११७—पञ्चराह	"	१३९—धर्म शास्त्र का आमा	"
११८—शूकरपञ्च	७५	१४०—वेदोपनिषत् की सम्मति	"
११९—पारादी उपनिषद्	"	१४१—ज्ञान—काम—कर्मार्त्ता	"
१२०—बोधपूर्वशूकर	७६	१४२—आत्मविकास का दिग्दर्शन	८०

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४३-आत्मविवर्तपरिलोख	८१	१६६-क्षरोपासना	६०
१४४-त्रिपात् पुरुष की विभूति	८२	१६७-काण्डत्रयी	२१
१४५-आत्मविवर्तों की व्याप्ति	८३	१६८-उपनिषद्काल की उपासना	"
१४६-त्रिपात् अक्षरपुरुष	८४	१६९-उपासना का अर्थ	"
१४७-त्रिपात् क्षरपुरुष	"	१७०-उपासना का अर्थ	"
१४८-एक ही आत्मा के तीन विवर्त	८५	१७१-मूर्त्त-मूर्त्तिब्रह्म	"
१४९-चेतनसृष्टि	८६	१७२-ब्रह्मी की उपासना	"
१५०-ब्रह्मचेतनसृष्टि	"	१७३-ब्रह्म की उपासना	"
१५१-अचेतनसृष्टि	"	१७४-उपासना का प्रथमस्तम्भ	६२
१५२-महात्मसृष्टि	८७	१७५-उपासना का द्वितीयस्तम्भ	"
१५३-दैवात्मसृष्टि	"	१७६-गीतल-वट-तुलसी आदि की उपासना	"
१५४-भूतात्मसृष्टि	"	१७७-भगवत्प्रतिमाओं की उपासना	"
१५५-प्रथमाधिकारी	८८	१७८-शालग्राम की उपासना	"
१५६-मध्यमाधिकारी	"	१७९-त्रिमूर्त्ति शालग्राम	"
१५७-उत्तमाधिकारी	"	१८०-उदासीनभाव	"
१५८-सर्वभूतान्तरालोपासना	"	१८१-प्रकृतिभाव	"
१५९-द्वितीयदर्शोपासना	"	१८२-विकृतिभाव	"
१६०-अक्षरुपासना	"	१८३-शरीररूप ब्रह्मात्मा	६३
१६१-ओङ्कारोपासना	८९	१८४-क्षेत्र में वीर्याहुति	२४
१६२-उद्गीषोपासना	"	१८५-विश्वोनि	"
१६३-प्रणवोपासना	"	१८६-विज्ञानवेत्ता कवि	"
१६४-अक्षरुपासना	९०	१८७-हृदयानन्द की व्याख्या	६५
१६५-अक्षरोपासना	"	१८८-वैदिक आख्यान	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८६-पितृपितासत्त्व	६६	२११-संकोच-विकास	१००
१८७-रश्मिविपयिणीभावना का उपक्रम	"	२१२-निःसीमभात्र श्रुता का प्रवर्तक	"
१८१-आत्मा-प्राण-पशु	"	२१३-एति—प्रेति	"
१८२-परोरजाप्राण	६७	२१४-समिद्धाग्नि	"
१८३-आग्नेय-सौम्यप्राण	"	२१५-सामिधेनी	"
१८४-स्थूलभूत	"	२१६-भृगुत्रयी	१०१
१८५-पुरुषप्रजाति	"	२१७-अग्निरात्रयी	"
१८६-कविभृगु	"	२१८-स्त्री का पुरुषरत्न	१०२
१८७-विराट् पुत्र	"	२१९-पुरुष का स्त्रीत्व	"
१८८-रश्मिभात्र	"	२२०-स्त्रीकामुक पुरुष	"
१८९-स्त्रीरूप रश्मिर्ष	६८	२२१-पुरुषकामुका स्त्री	"
२००-शुक्रविपयिणीभावना का उपक्रम	"	२२२-मंगलग्रह	"
२०१-अचेतन अग्नि	"	२२३-मकरराशि और मंगल	"
२०२-अचेतन सोम	"	२२४-मकरध्वज (काम)	"
२०३-वाचिसीसृष्टि	"	२२५-पुरुष की प्रजननशक्ति	"
२०४-मैथुनीसृष्टि	"	२२६-शुक्रताव	१०३
२०५-पुरुष-स्त्री	"	२२७-मीनराशि और शुक्र	"
२०६-शरीररचनाभेद	"	२२८-मीनध्वज [काम]	"
२०७-वर्कश शरीर	"	२२९-शक्तितरंग	"
२०८-कोमल शरीर	"	२३०-शिशतरंग	"
२०९-सौम्य शुक्र	६९	२३१-शिवशक्ति का समन्वय	"
२१०-आग्नेय श्रेणित	"	२३२-शीतर्तु और अन्तःपृष्ठ	"
	"	२३३-ग्रीष्मर्तु और अन्तःपृष्ठ	"
	"	२३४-प्रकृति का वैषम्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३५—अग्निप्रधान पुरुषशरीर	१०४	२४६—पितृष्पितासत्	१०७
२३६—सोमप्रधान पुरुषात्मा	"	२५०—ऋद्धमन्त्रार्थोपसंहार	"
२३७—सोमप्रधान स्त्रीशरीर	"	२५१—एवयामरुद्	"
२३८—अग्निप्रधान स्त्री का आत्मा	"	२५२—योनि में शुक्राहुति	"
२३९—स्त्री का सौम्य भूय	"	२५३—रेतोधा मातरिरवा	१०९
२४०—पुरुष का आग्नेय भूय	"	२५४—वायुवाहिनीनाडिं	"
२४१—पुंभूय—स्त्रीभूय	"	२५५—प्रज्ञोत्पत्तिक्रम	"
२४२—त्रिसल देवता	१०५	२५६—अभिदेवतसंस्था	"
२४३—प्रजननकर्म का त्रिविधत्व	"	२५७—मन्त्रार्थसङ्कति का उपक्रम	"
२४४—प्रथमाक्रमण	"	२५८—दशिनी विराट्	"
२४५—द्वितीयक्रमण	"	२५९—मन्त्रार्थक्रम	११२
२४६—ऋद्धमन्त्रसंगति	१०६	२६०—पुण्डरी सयम्भू	"
२४७—कविपुत्र का रहस्यार्थ	१०७	२६१—धनेजदेजत् प्राकृतात्मा	"
२४८—जायाभाग	"	२६२—शान्तात्मा	"

मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

अव्यक्तात्माधिकरण में ब्रह्म—कर्मसंबन्धाधिकरण

(११७ पृष्ठ से १५१ पर्यन्त)

१—सम्बन्धप्रतिपादकमन्त्रपरिलेख	११७	४—मल-कर्ममय अव्यय	११९
२—सम्बन्धनिरुक्ति का उपक्रम	११९	५—विद्यात्मा—मल	"
३—महति के द्वारा विधनिर्माण	"	६—विध-कर्म	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
७—ब्रह्म-शुद्ध-विरत	११६	२६—प्रारम्भसम्बन्ध	१२०
८—अमृत-ब्रह्म-शुद्ध-विरत	"	३०—श्रौद्धाविकसम्बन्ध	१२६
९—ईश के प्रतिपाद्य विषय	"	३३—सातानिकसम्बन्ध	"
१०—अव्यक्तानिरूपकमन्त्र	"	३२—निवर्तसम्बन्ध	"
११—विवृतिरूपनिरूपकमन्त्र	१२०	३३—वैकृतिकसम्बन्ध	१३०
१२—वैकारिकतरुनिरूपकमन्त्रभाग	"	३४—ऐन्द्रिकसम्बन्ध	"
१३—कारणताचतुष्टयी	"	३५—श्रौषपादिकसम्बन्ध	"
१४—चतुष्पाद आत्मा	१२१	३६—परिणामी सम्बन्ध	"
१५—चतुष्पाद ब्रह्म	"	३७—रसानुवृत्तिरूपसम्बन्ध	"
१६—अष्टाक्षर गायत्री	"	३८—सायोनिसम्बन्ध	"
१७—गायत्रब्रह्म की व्यापकता	"	३९—श्रौषपादानिकसम्बन्ध	१३१
१८—गयत्रप्रश्नपरिलेख	१२२	४०—सात्त्विकसम्बन्ध	"
१९—प्रकृतिरूपनिरूपणस्मिता	"	४१—आत्मिकसम्बन्ध	"
शोपनिषत्	"	४२—प्रमत्तलम्बन-प्रमत्तविल-	
२०—अधिररुद्रयी	"	यना-निलयन-प्रमत्तवृष- चारत्यमन्त्र (१)	१३७
२१—मंत्रों का विषयानुसार विभाग प्रदर्शन	१२३	४३—प्रमत्तलम्बन-प्रमत्तविलयन- प्रमत्तवृष-चारत्यमन्त्र (२)	"
२२—विषयपरिचय	"	४४—प्रमत्तलम्बन-प्रमत्तविलयन- प्रमत्तवृष-चारत्यमन्त्र (३)	"
२३—सम्बन्ध शिक्षा	१२६	४५—प्रमत्तलम्बन-प्रमत्तविलयन- प्रमत्तवृष-चारत्यमन्त्र (४)	"
२४—दार्शनिक दृष्टिकोण सम्बन्ध	"		
२५—हेतुसम्बन्ध	१२७		
२६—निर्दिष्टसम्बन्ध	"		
२७—प्रकृतिसम्बन्ध	"		
२८—वेदिसम्बन्ध	१२८		



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४६—प्रभवात्मन्वत्त्व-प्रभवविलयनत्व- प्रभवपृथक्चरत्वसम्बन्ध (५) १३१		६५—“तदेजति०” मन्त्र का अक्षरीय १६७	
४७—प्रभवात्मन्वत्त्वानात्मन्वत्त्व- प्रभवविलयनत्वानिविलयनत्व-प्रभव- पृथक्चरत्वापृथक्चरत्वसम्बन्ध (६) ”	”	६६—कृतात्मा मनुष्य ”	”
४८—सम्बन्ध में संशय १३४	”	६७—अकृता मनुष्य ”	”
४९—स्वरूपसम्बन्ध (४) ”	”	६८—सत्व का तारतम्य ”	”
५०—पर्याप्तवृत्तित्वसम्बन्ध (४) ”	”	६९—विषयानुगताबुद्धि ”	”
५१—अन्वामक्तिवृत्तित्वसम्बन्ध (५) ”	”	७०—अयुक्त मनुष्य १६८	”
५२—अभिन्नसत्ताकार्यकारणभाव- ५३—(१) कार्य कारण में है १३५	”	७१—सर्वज्ञानविमूढमनुष्य ”	”
५४—(२) कारण कार्य में है ”	”	७२—सम्बन्धमेददृष्टि ”	”
५५—(३) कार्य-कारण भिन्न हैं ”	”	७३—निष्ठ द्वयी १३६	”
५६—(४) कारण ही कार्य है ”	”	७४—भेदवाद का निराकरण ”	”
५७—(५) कार्य कारण से अभिन्न है, किन्तु कारण कार्य से भिन्न है ”	”	७५—विधेयआत्मा १४०	”
५८—(६) कारण में कार्य अन्वयत है ”	”	७६—मार््यादिकजीव ”	”
५९—ब्रह्म कर्म में प्रतिष्ठित है (१) १३६	”	७७—प्राथमिकजीव ”	”
६०—कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है (२) ”	”	७८—पुष्टजीव ”	”
६१—ब्रह्म कर्म परस्पर भिन्न हैं (३) ”	”	७९—पुष्टिमांस ”	”
६२—ब्रह्म ही कर्म है (४) ”	”	८०—युक्तयोगी १४१	”
६३—ब्रह्म कर्म से भिन्न है, किन्तु कर्म ब्रह्म से अभिन्न है (५) ”	”	८१—युद्धानयोगी ”	”
६४—ब्रह्म में कर्म भास रहा है (६) ”	”	८२—यथाजातमनुष्य ”	”
		८३—ब्रह्म-कर्ममयी उपासना ”	”
		८४—सर्वत्र आत्मभावना ”	”
		८५—कुम्भकार का चक्र ”	”
		८६—मन्त्रार्थसङ्गति १४२	”
		८७—अनिर्वचनीयसम्बन्ध १४३	”
		८८—ओतप्रोतभावसम्बन्ध ”	”

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८६—अन्तरात्तरीभाजसम्बन्ध	१४३	१०६—मन्त्रार्थोपसंहार	११
८७—आधाराद्येवभाजसम्बन्ध	"	१०७-७ मन्त्रार्थोपक्रम	"
८१—भेदसम्बन्ध	१४४	१०८—सर्वत्रत्यागभावना	१४६
८२—अभेदसम्बन्ध	"	१०९—मोहकलिङ्गाद्युद्धि	"
८३—भेदाभेदसम्बन्ध	"	११०—मोहमूलरुशोक	"
८४—मन्त्रार्थोपसंहार	१४५	१११—शोकनिवृत्त्युपाय	"
८५—आत्मज्ञान में कर्मका समन्वय	"	११२—अद्वैतभावकीउपासना	"
८६—स्थूलारुन्धति-याप	"	११३—"विमानतः" शब्दरहस्य	१५०
८७—६ प्रमन्त्रार्थोपक्रम	१४६	११४—सामान्यज्ञान	"
८८—मन्त्रका अक्षरार्थ	"	११५—तात्त्विकज्ञान	"
८९—प्रत्यक् परागूढज्ञ	"	११६—कनौ वैदान्तिनः सर्वे	"
१००—युष्मदस्मदप्रत्ययगोचरविषय- विषयी	"	११७—"इदमित्यमेव"	"
१०१—ज्योति आरण्य	"	११८—उपलक्षण	"
१०२—निदास्तुतिमान	१४७	११९—भेदबुद्धिका आस्थितिक निराकरण	"
१०३—त्रिजगुप्सा	"	१२०—प्रातिभासिकद्वैत	१५१
१०४—रागद्वेष	"	१२१—व्यावहारिकद्वैत	"
१०५—आनन्दप्राप्ति	१४८	१२२—पारमार्थिकद्वैत	"
		१२३—मन्त्रार्थोपसंहार	"

सम्बन्धाधिकारसमाप्त

इति—अन्यत्तत्त्वाधिकारणं समाप्तम्

अथ

प्रौकृतात्माधिकरणो—

२— महदात्माधिकरणम्

(१५३ पृष्ठ से २५१ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—महत्स्वरूपनिदर्शन	१५४	२१—वेद और प्रजापति	१६६
२—अष्टाक्षरागायत्री	१५७	२२—प्रजा और प्रजापति	"
३—महाप्रजापति के आठ अवयव	"	२३—सुवेद और श्लोक	१६७
४—चत्वारिंशत्कलपरमाविराट्	१५८	२४—वेद और सुवेद	"
५—सहस्राक्षरा विराट्	"	२५—विश्वकर्मा	"
६—अनाधृष्ट हृम्	१५९	२६—विश्वकर्मा के अभिन्नमित्र	"
७—प्रजापति के तीन अवयव	"	२७—कामप्रपञ्च	"
८—मूलमन्त्र	"	२८—दर्शपूर्णमासविज्ञान	"
९—मन्त्र का अक्षरार्थ	"	२९—प्रतिपत्-अनुचर	"
१०—मन्त्रार्थ और प्राचीनव्याख्याता	१६०	३०—मधुसृष्टि	१६८
११—प्रकरणसंगत मन्त्रार्थ	१६१	३१—व्यापक पूर्णिमा	१६९
१२—शुक्रशब्द के प्रयोग	"	३२—नाकस्थान	"
१३—	१६२	३३—त्रिपुरामूर्त्ति महान्	"
१४—भाष्याभिमत शुक्रशब्द	१६३	३४—प्राणमयी अदिति	"
१५—सायणाभिमत शुक्रशब्दाग	"	३५—पुण्याहकाल	१७०
१६—शुक्र की २७ स्थानों में व्याप्ति	१६४	३६—ई रज	"
१७—शुक्रम्-और शुक्रः	१६५	३७—परोरजासत्य	"
१८—सम्प्रदायवाद से हानि	"	३८—परम-मध्यम-अधमधाम	"
१९—उपादानकारणता	१६६	३९—मात्वा, पद, पुनःपद	१७१
२०—सृष्टि का आधार	"	४०—प्राजापतिसंस्था	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—श्रुतिसम्बन्ध	१७२	६५—सर्गद्विति	१७७
४२—परमप्रजापति	१७३	६६—श्राप की श्राद्धति	"
४३—प्रतिमाप्रजापति	"	६७—मातरिश्वा जुहोति	१७८
४४—आम्भृणीवाक्	"	६८—मातरिश्वा दधाति	"
४५—जगतःपितरौ	१७४	६९—स पर्यगात्	"
४६—अन्न अनादसम्बन्ध	"	७०—पर्याय सम्बन्ध	"
४७—समुदायसम्बन्ध	"	७१—पर्याय की अवैज्ञानिकता	"
४८—अत्रयसम्बन्ध	"	७२—संस्कृतसाहित्य पर कलक	"
४९—द्वीपुरुषसम्बन्ध	१७५	७३—शास्त्रों की निपतार्थता	"
५०—महानिस्फोटन	"	७४—एकदेश की समानता	"
५१—समत्रयसम्बन्ध	"	७५—शुक्र वीर्यरेत का पार्थक्य	१७६
५२—उदरशक्तिसम्बन्ध	"	७६—ब्रह्म का वैज्ञानिकरूप	"
५३—अग्नि अग्नि का सम्बन्ध	"	७७—रीर्यवा "	"
५४—पानी पानी का सम्बन्ध	"	७८—पराक्रम का "	"
५५—अग्नि पानी का सम्बन्ध	"	७९—मलनीर्य	"
५६—पृथिवीसम्बन्ध	१७६	८०—क्षत्रवीर्य	"
५७—निषण्डसम्बन्ध	"	८१—विन्त्रीर्य	"
५८—विस्फोटकसम्बन्ध	"	८२—वर्ण अरररण	"
५९—सृष्टिरसम्बन्ध	"	८३—देवभाग	१८०
६०—रथि प्राणसम्बन्ध	"	८४—मलभाग	"
६१—परोक्षप्रियदेवता	"	८५—दैवीसम्पत्	"
६२—ईश्वर की व्याप्ति	१७७	८६—आसुरीसम्पत्	"
६३—वायक मल	"	८७—ब्रह्मचर्यनिरुक्ति	"
६४—रेत की व्याप्ति	"	८८—शुन का अर्थ	१८१

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८६—रेत का अर्थ	१८१	११३—बीजावस्थापन शुक्र	१८४
८७—वीर्यरक्षा	"	११४—विरोधपरिहार	"
८८—उपादानद्रव्यत्व	"	११५—सब कुछ वही है	१८५
८९—आग्नेयरेत-शुक्र	"	११६—सब कुछ उसी में है	"
९०—सौम्यरेत-रेत	"	११७—असत्य का विकास	"
९१—घनरेत	१८२	११८—मलासत्य	१८६
९२—तरलरेत	"	११९—कर्मासत्य	"
९३—चित्प्राण	"	१२०—मायामेतां तरन्ति	"
९४—भ्रूक	"	१२१—शुक्रातिवर्धन	"
९५—प्रजननकर्मके अवरोधक दोष	"	१२२—'तत्'-विज्ञान	"
९६—पितृदोषनिवर्तकधातुकर्म	"	१२३—कर्म में प्रवृत्ति	१८७
९७—सारश्रेय	"	१२४—द्वारात्मिका अविद्या	"
९८—प्रवादितरेत	"	१२५—अक्षरात्मिका विद्या	"
९९—शुक्ल और शुक्र	"	१२६—मन्थिवन्धन सम्बन्ध	"
१००—शुक्रग्रह	१८३	१२७—विद्यदुर्ग	"
१०१—अप्ताशुक्र	"	१२८—दुर्ग की ईंटें	"
१०२—अप्ता रेत	"	१२९—आरगन्धी ईश्वर	१८८
१०३—शुक्र-रेत के पद्विकल्प	"	१३०—शिपिविष्ट प्रजापति	"
१०४—आत्मयोनि	१८४	१३१—तीन ज्योतिरं	"
१०५—प्रकृतियोनि	"	१३२—चिदात्मल	"
१०६—विकृतियोनि	"	१३३—चित्तेनिधेयमल	"
१०७—सर्वम्	"	१३४—बीजचित्ति	"
१०८—सृष्टिमूल	"	१३५—देवचित्ति	"
१०९—सृष्टिवीज	"	१३६—भूतचित्ति	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१३७-ज्योतिष ज्योति-	१८८	१६१-५-प्राणमात्रा	१६१
१३८-आत्मा-शरीर	"	१६२-५-प्रज्ञामात्रा	"
१३९-आत्मप्राप्त	१८९	१६३-सप्तदशराशि	"
१४०-देवप्राप्त	"	१६४-साहस्री	१६२
१४१-भूतप्राप्त	"	१६५-बीज-कारण-आरम्भक	"
१४२-प्राप्त-पुर	"	१६६-निचृत् विद्युत्	"
१४३-आत्मपरिच्छेद	"	१६७-त्रिकल आत्मा	"
१४४-वृत्	"	१६८-त्रिकलपद	"
१४५-पुत्रल	"	१६९-त्रिकलपुनःपद	"
१४६-सुख	"	१७०-नभ्रकल प्रजापति	"
१४७-रुशि	"	१७१-न्यूनविद्युत्प्रजापति	"
१४८-धारण्य प्राप्त या रहस्यार्थ	"	१७२-अकृतमान	१६४
१४९-धारण्यशु	"	१७३-कृतमान	"
१५०-सम्पन्नशु	"	१७४-नास्त्वकृतःकृतेन	"
१५१-आध्यात्मिकसंग (प्राप्त)	१९०	१७५-वाम-वर्त्म-शुक्र	"
१५२-आधिदेविकसंग (पुर)	"	१७६-मानना-नासनासरकार	१६५
१५३-वायु निनाय	"	१७७-आधिनारिकनीन	"
१५४-निवायवृन्द	"	१७८-दयाजातत्रीन	"
१५५-पञ्चाननशूलछरि	"	१७९-प्रक्रमकर्म	"
१५६-नामस्वामीमानक भाषाशु	"	१८०-अभिरामकर्म	"
१५७-विद्विपयं	१९१	१८१-वर्त्मशुद्ध	"
१५८-विद्या-प्रज्ञा-वर्त्म	"	१८२-पुराणार्थकर्म	"
१५९-वर्त्मशु	"	१८३-वर्त्मशुद्ध	"
१६०-२-भूतनाश	"	१८४-कलाध्यात्मिकत्रीन	१६६

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१८५-नियतकर्मशक्तिजीव	१९६	२०९-आपोमय महान्	२००
१८६-नित्यजीव	"	२१०-महद्गल	"
१८७-सामयिकजीव	"	२११-पञ्चपर्वविषय	२०१
१८८-आत्माभिमानिदेवता	"	२१२-अमृतविभाग	"
१८९-प्रकृतिका क्षोम	"	२१३-मर्त्यविभाग	"
१९०-अवतार की आवश्यकता	"	२१४-बहुव्रतैकमन्त्रम्	२०२
१९१-अनासक्तयोगीश्वर	१९७	२१५-प्रजापतिः	"
१९२-त्रिकलावाक्	"	२१६-पञ्चव्रत	२०३
१९३-ध्विषामयशुक	"	२१७-काम-कर्म-शुकः	"
१९४-कामनाओंकासमुद्र	१९८	२१८-शुक की चतुर्धा व्याप्ति	"
१९५-प्राजापत्यब्रह्मा	"	२१९-विश्वशुक	"
१९६-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	१९९	२२०-पञ्चमूलासृष्टि	२०४
१९७-अनन्तमहेश्वर	"	२२१-शुक का दहरोत्तरभाव	"
१९८-ऊर्ध्वमूल अक्षत्य	"	२२२-वाङ्मय स्वप्नम् (१)	}
१९९-इदमस्यान और ऊर्ध्वभाव	"	२२३-आपोमय परमेष्ठी (२)	
२००-विरवोपक्रमस्यान	"	२२४-अमृताग्निमय सूर्य (३)	
२०१-विरवोपसंहारस्यान	"	२२५-मर्त्याग्निमय सूर्य (४)	
२०२-सोम का उदय	"	२२६-आपोमय चन्द्रमा (५)	
२०३-योगमाया	"	२२७-वाङ्मयी पृथिवी (६)	"
२०४-शुक की सामान्य व्याप्ति	"	२२८-मन्त्रार्थोपक्रम	२०५
२०५-ब्रह्म की शुकता	२००	२२९-कायत्व	२०६
२०६-सुब्रह्म का रैतव्य	"	२३०-वैश्वदेव	"
२०७-महान् की महत्ता	"	२३१-स्वोत्पत्त	"
२०८-सूर्यनगद	"	२३२-अशुद्धत्व	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२३२—पाम्पलिकृत्य	"	२३६—कवि	२०७
२३४—अकायत्व	२०७	२४०—मनीषी	"
२३५—अमरात्व	"	२४१—परिभू	"
२३६—अस्नाविरत्य	"	२४२—स्यधम्भू	"
२३७—शुद्धत्व	"	२४३—कवि का महाकाव्य	"
२३८—अपापविद्धत्व	"	२४४—ययार्यनिर्माणा	२०८
		२४५—त्रिगुणमीमांसा	२०९
		२४६—षड्गुणकमदान्	२१०
		२४७—सृष्टिक्रमेभयमदान्	"
		२४८—मन्त्रापीपसंहार	२११

इति प्राकृतात्मधिकरणे
महदात्माधिकरणम्

३

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे
विज्ञानात्माधिकरणम्
(२१५-३०४ पद्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—विज्ञानान्वानरूपनिदर्शन	२१५-२१६	३—संयत्तरजम्भ	२१७
२—षड्गुणद्वयनिर्देश	२१७	४—सुपर्ण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—महासुपर्ण	२१७	२९—घडिशमत	२२२
६—स्वयम्भुमूलासृष्टि	२१८	३०—वेदेहजन रुमत	"
७—सूर्यमूलासृष्टि	"	३१—करयपमत	"
८—पृथिवीमूलासृष्टि	"	३२—धन्वतरिमत	"
९—प्रथमासृष्टि	२१९	३३—चकरमत	"
१०—द्वितीयासृष्टि	"	३४—शार्कराक्षपमहापिमत	"
११—तृतीयासृष्टि	२२०	३५—आरुष्णिमत	"
१२—ओङ्कारविद्या	"	३६—ज्ञानप्रधानसृष्टिक्रम	२२३
१३—उद्गीयविद्या	"	३७—क्रियाप्रधानस्मृतिक्रम	"
१४—प्रखरविद्या	"	३८—अर्थप्रधानसृष्टिक्रम	"
१५—नासविद्य	"	३९—शिरोमूलासृष्टि	"
१६—वैष्णवविद्य	"	४०—हृदयमूलासृष्टि	"
१७—माहेश्वरविद्य	"	४१—पादमूलासृष्टि	"
१८—पुराणसम्बन्ध	"	४२—हिरण्यगर्भविद्या	२२४
१९—ज्ञानमूर्तिनला	"	४३—सुत्या-चित्या	"
२०—क्रियामूर्तिविष्णु	"	४४—पादको व यज्ञः	२२५
२१—अर्थमूर्तिशिव	"	४५—अग्निचिति	"
२२—त्रिमूर्तिविराट्	"	४६—वायुचिति	"
२३—प्राणान्तकुरार	"	४७—आदित्यचिति	"
२४—गर्भस्थिति	"	४८—साध्यचिति	"
२५—कुमारशिरामाहाजमत	"	४९—पिण्डस्थिति	"
२६—काङ्कायन बालहीकमत	२२२	५०—स्वयमातृगणचिति	२२६
२७—भद्रकायमत	"	५१—विश्वज्योतिचिति	"
२८—भद्रशौनकमत	"	५२—साध्यदेवता	२२७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३३—पोटशीन्द्र	२२७	७७—घूमकेतु	२३३
३४—प्रजापतिके पुत्र	"	७८—श्रुकसंहिता	"
३५—आत्मज्योतिप्रसार	"	७९—महाभारत में घूमकेतु	२३४
५६—ज्येष्ठ-श्रेष्ठन्द्र	२२८	८०—ऋत-अग्निपुत्र	२३५
५७—हृदयेन्द्र	"	८१—शशिशुद्रमासमानाः	"
५८—सर्वोत्कृष्टशिल्प	"	८२—अग्निगोल	"
५९—इन्द्रमहिमा	"	८३—सूर्य के उग्रमह	"
६०—परमधाम	२२९	८४—उपग्रहोंकी स्थिति	"
६१—अवमधाम	"	८५—धारावाहिक सृष्टिक्रम	२३६
६२—विज्ञानका सूर्य	"	८६—तेजोमेघविचार	"
६३—ज्ञानशक्तिमयसूर्य	२३०	८७—केट एवं तालापक्षके विचार	"
६४—क्रियाशक्तिमयसूर्य	"	८८—पूर्व-पश्चिमविज्ञान की तुलना	"
६५—अर्थशक्तिमयसूर्य	"	८९—सत्य का अन्तार	२३७
६६—प्रजापतिका पुण्यवाह	"	९०—अर्षा गम्भसीन्द्र	"
६७—सतिलभाव	"	९१—सत्यव्रत	"
६८—संज्ञसरोपति	२३१	९२—पर्यव्रत	"
६९—सर्वि-शरा	२३२	९३—देवानां विषयं धाम	"
७०—वतागणु	"	९४—संश्रुत श्रुत् का अर्थ	"
७१—विपराणु	"	९५—संश्रुत की वेला	"
७२—महोत्तम	"	९६—पृथिवी परिश्रमण	२३८
७३—नादोत्पत्ति	"	९७—कालराचक संश्रुत	"
७४—वाह्येण	"	९८—अनुवाद-अनुवादकभाव	"
७५—वाह्येण	"	९९—मूढ-ज्ञानज्योति	"
७६—विज्ञाना वन्द	२३३	१००—आकाशसंस्था	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१०१-आधिदैविकसंस्था	२३८	१२५-उत्तमश्रुति	२४३
१०२-अष्टौ बुद्धयः	"	१२६-त्रिष्टपस्वर्ग	"
१०३-धर्मलक्षण	"	१२७-प्रलविष्टप	"
१०४-ज्ञानलक्षणा	"	१२८-विष्णुविष्टप	"
१०५-वैराग्यलक्षण	"	१२९-इन्द्र विष्टप	"
१०६-ऐरवर्षलक्षण	२३९	१३०-त्रिविष्टपस्वर्ग	"
१०७-अधर्मलक्षण	"	१३१-नवाह्वयज्ञ	"
१०८-अज्ञानलक्षण	"	१३२-अहर्गण	"
१०९-आसक्तिलक्षण	"	१३३-एदविशस्वर्ग	"
११०-अनैरवर्षलक्षण	"	१३४-सकसरप्रतिभा	"
१११-प्राज्ञप्राण	"	१३५-प्रतिष्ठास्तोम	"
११२-दधीसम्पत्	"	१३६-परमस्तोम	"
११३-अवाङ्म्राण	"	१३७-सप्तदशस्तोम	"
११४-आसुरीसम्पत्	"	१३८-सप्तदशप्रजापति	"
११५-इन्द्रसन्तान	"	१३९-यज्ञात्मक विष्णु	२४४
११६-अहोरात्रे	२४०	१४०-विष्णु के तीन विक्रम	"
११७-सम्पत्पसिलेख	"	१४१-अध्वरुपविष्टप	"
११८-त्रिचातुर्द्वयः	२४१	१४२-स्वाराग्य यज्ञ	"
११९-अग्निचातुर्द्वयः	"	१४३-नाकस्वर्ग	"
१२०-अभिनवेशलक्षण	"	१४४-सौम्यविद्युत्	"
१२१-अर्द्धज्ञानजनितमोह	"	१४५-अमानवपुरुष	"
१२२-पराशुष्टनीव	२४२	१४६-स्वर्वाग्नि	"
१२३-अपराशुष्ट ईश्वर	"	१४७-स्वस्ताम	२४५
१२४-अन्त वै देवस्वर्गाः	२४३	१४८-सूर्यग्रहण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१४६-त्रिणाविकेतरर्ग	२४५	१७३-वसिष्ठाश्रम	२४८
१५०-रर्गवरुण	"	१७४-सूर्यसदन	"
१५१-धरुणप्रतिष्ठा	"	१७५-विज्ञानमन्त्र	"
१५२-धरुणरक्षत्रिणः	"	१७६-सौगिराष्ट	"
१५३-रर्गम	"	१७७-साहीरिया	"
१५४-सुनहरीरथ	२४६	१७८-अमरावती	"
१५५-सानअष	"	१७९-देवाधिपतिइन्द्र	"
१५६-अरगाष्ट्रिन	"	१८०-सुधर्मा	२४९
१५७-अरमानण	"	१८१-मेरुवडनामक रर्गीपरदी	"
१५८-उद्या	"	१८२-मेनाप नामक रर्गीपहाथी	"
१५९-समुद्र	"	१८३-अपराजितादिक	"
१६०-अरुण	"	१८४-ऐन्द्रधाम	"
१६१-सुर्ग	"	१८५-प्रामेरु (पामीर)	"
१६२-वृषभो रोहरीनि	"	१८६-कान्तिमनीगमा	"
१६३-अर्धमसुद्र	"	१८७-प्राग्पोनिपनगर	"
१६४-वृष्टिमवसङ्गमूर्ध	२४७	१८८-भट्टगिरि-चन्द्रगिरि	"
१६५-अरुणदी	"	१८९-देवपजनभूमि	"
१६६-अरुणदी	"	१९०-उत्तररत्न	"
१६७-दिम्बिमान	"	१९१-यासकर्ममाल	"
१६८-अर्धमहिला	"	१९२-प्राचींसारगम्भी	"
१६९-अर्धमहिला रर्गीरुण	२४८	१९३-अवमूषानान	"
१७०-अर्धमहिला रर्गीरुण	"	१९४-अर्धमहिला	"
१७१-अर्धमहिला	"	१९५-अर्धमहिला	"
१७२-अर्धमहिला	"	१९६-अर्धमहिला	"



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या.....
१६७-चतुर्भेदप्रणाल	२५०	२२०-सूर्यकेन्द्र	
१६८-भौतिकधरुण	"	२२१-महापथ	
१६९-ज्ञानप्रधान सत्वगुण	२५१	२२२-निमेषगति	"
२००-किगाप्रधान रजोगुण	"	२२३-अरतुः पन्थाः	"
२०१-अर्षप्रधान तमोगुण	"	२२४-प्रज्ञान-विज्ञान	"
२०२-अजाप्रकृति	"	२२५-मास निर्वाचन	२५७
२०३-सत्त्वादधि महानात्मा	"	२२६-पूर्णिमा-अमावास्या	"
२०४-ज्ञानानन्दविरास	"	२२७-आधिदैविक जगत्	"
२०५-त्रिगुणवैभव	२५२	२२८-"वायु" धरातल	२५८
२०६-सौरद्रष्टा सूर्य	"	२२९-स्तन इवाललम्बे	"
२०७-आत्मद्रष्टा विज्ञानात्मा	"	२३०-इन्द्रयोनि	"
२०८-वासुप पुरुष	"	२३१-आध्यात्मिकी पूर्णिमा	"
२०९-आध्यात्मिकी के प्रभव, प्रतिष्ठा	"	२३२-जामदवस्या (पूर्णिमा)	"
शेनि, आशयों का निदर्शन २५२-२५४		२३३-जामत प्राण्यग्नि	"
२१०-आध्यात्मिकी परिलेख नं० १		२३४-आध्यात्मिकी अष्टमी	"
२११-इन्द्रियप्रभववादि परिलेख नं० २		२३५-अवस्थान्थी परिलेख	"
२१२-कर्माण्यप्रभववादि परिलेख नं० ३		२३६-वाण्यग्नी	"
२१३-शरीरप्रभववादि परिलेख नं० ४		२३७-रत्नावस्या (अष्टमी)	२५९
२१४-शिलाधारण रहस्य	२५५	२३८-आध्यात्मिकी अमावास्या	"
२१५-विज्ञानशिव	"	२३९-सुप्रतिकाल (अमावास्या)	"
२१६-अमूलपुरुष	"	२४०-स्वस्वचित्त	"
२१७-स्वस्तिक एव चतुर्भुज	"	२४१-उक्थविज्ञान	"
२१८-भूकेन्द्र	२५६	२४२-दक्षिणचतु	२६०
२१९-अपानप्राण	"	२४३-अनूरु-प्रतीकदृष्टि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२४४-विज्ञानोपासना	२६०	२६८-मोक्षकालिदासबुद्धि	२६६
२४५-इन्द्रपत्नी	"	२६९-वासनासंस्कार	"
२४६-विज्ञानप्रदर्शन	"	२७०-चान्द्रविचर्त्त	"
२४७-तेजोनाडी	२६१	२७१-मनोविचर्त्त	"
२४८-अहः-अहम्	"	२७२-वासनानिर्वचन	"
२४९-माण्डलिकपुरुरूप	"	२७३-आसक्तिनिर्वचन	"
२५०-दीर्घशिखा	"	२७४-संस्कारों की दृढता	२६७
२५१-असंग-ससंगभाव	२६२	२७५-विरकात्मिकत्व में मूल	"
२५२-चिदानन्द	"	२७६-उभयात्मकं मनः	"
२५३-अरुनाथा (बुमुदा)	"	२७७-शोकःसारीन्द्र	२६८
२५४-इन्द्रियवृत्ति	"	२७८-संकल्पविरुध्वात्मकमन	"
२५५-पराञ्चि खानि	"	२७९-स्मिपलक्षणबुद्धि	"
२५६-इन्द्रियातीतआत्म	"	२८०-शुद्धिद्वेष्य	२६९
२५७-त्रिषणन्द	२६३	२८१-संस्कारशैथिल्य	"
२५८-आनन्दोभोक्ता	"	२८२-अनुष्णलक्षण	२७०
२५९-आनन्दका अरुणान	"	२८३-कामलक्षण	"
२६०-आमानन्दाशक्ति	२६४	२८४-सगलक्षण	"
२६१-विज्ञानेन परिपश्यति	"	२८५-द्वेषलक्षण	"
२६२-सुगन्दःशुचिनेक	२६५	२८६-शोधलक्षण	"
२६३-मनकी शिथिलवृत्ति	"	२८७-संमोक्षमात्र	२७१
२६४-अष्टात्तनन	"	२८८-समृत्तिविधन	"
२६५-अस्वाम्यमन	"	२८९-बुद्धिनाश	"
२६६-मायापुमन	"	२९०-सर्वनाश	"
२६७-मोक्षनिर्वाण	२६६	२९१-भावनासंशय	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२६२—विद्या-अविद्योपक्रम	२७१	२६४—मन्त्रप्रकरणसङ्गति	२७२
२६३—मन्त्रार्थोपक्रम	२७२	२६५—विषयसंगतिप्रकरणसमाप्त	"

मन्त्रार्थप्रकरण

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

(२७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रथममन्त्र (१० मन्त्र)	२७३	१४—नेति-नेति समन्वय	२७६
२—मूलार्थ	"	१५—अस्तीत्येव	"
३—विद्या-अविद्यादर्शन	"	१६—प्रथमार्थोपसंहार	"
४—ज्ञायते-क्रियते	"	१७—द्वितीयार्थोपक्रम	"
५—एव-योति पर-योति	२७४	१८—विद्या-अविद्याते मित्र	२७७
६—मधवाइन्द्र	"	१९—धीराः	"
७—कारयिताक्षेप्रश्च	"	२०—द्वितीयार्थोपसंहार	"
८—कर्ममयविज्ञान	"	२१—संहिता का मन्त्र	"
९—अहं सूर्य इवाजनि	२७५	२२—तृतीयार्थोपक्रम	२७८
१०—अन्यत्-विषया	"	२३—भान्तमन्तनिराकरण	"
११—अन्यत्-अविषया	"	२४—विद्यागर्भितकर्म	"
१२—शब्दातीतमात्मता	"	२५—ज्ञानगर्भिताविद्या	"
१३—नेति-नेति	"	२६—तृतीयार्थोपसंहार	"

प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२७८ पृष्ठसे २८८ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—द्वितीयमंत्र (१ मन्त्र)	२७८	२१—सिनिललाइन , ज्ञान)	२८४
२—कर्मप्रपञ्च	२७९	२२—मिलिट्री लाइन (कर्म)	"
३—ज्ञानमूलककर्म	२८०	२३—शतपथश्रुति	"
४—विज्ञानमूलककर्म	"	२४—मित्र और वरुण	२८५
५—अज्ञानमूलककर्म	"	२५—अभिगन्ता ब्राह्मण	"
६—योगसंसिद्ध	"	२६—कर्त्ता क्षत्रिय	"
७—योगानुयायी कर्मठ	"	२७—मैत्रावरुणग्रह	"
८—सांख्यानुयायी ज्ञानी	"	२८—क्षत्रियशून्यब्राह्मण	"
९—द्विविधा निष्ठा	२८१	२९—ब्राह्मणशून्यक्षत्रिय	"
१०—कर्मठों की दुर्दशा	"	३०—मनोबल	२८६
११—येऽत्रिंशामुपासते	"	३१—प्राणबल	"
१२—हनमार्ग का दग्ध	२८२	३२—अक्षोरग्रह	"
१३—निष्पाचार	"	३३—मैत्रपहः	"
१४—उभयतः पतन	"	३४—रात्रिर्वारुणी	"
१५—ज्ञानमार्ग का भूयोऽन्धकारान	"	३५—नागूरल	"
१६—अज्ञान तक्ष्य शरणाप	२८३	३६—निद्र्यन्विष्ट	"
१७—वायुशूराः पदिष्ठाभिमानिनः	"	३७—क्षत्रयोनिमल	२८७
१८—धर्मसदस्य	२८४	३८—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य	"
१९—ब्रह्मदत्त (श'न)	"	३९—वर्णव्यवस्थासूत्र	"
२०—दण्डदत्त (धर्म)	"	४०—घाणवपुरोधा	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
४१—पद्मावन्वहस्त	२८७	४४—दोनों की भान्ति	२८७
४२—सनातनी-श्रार्यसमाजी	"	४५—देश की दुर्दशा	"
४३—विद्वन्मण्डली-राष्ट्रादी	"	४६—य उ विद्यायां रताः	२८८

द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—तृतीयमन्त्र (! ! मन्त्र)	२८८	१४—प्रकृतिसिद्धत्व	नं० ४ २९१
२—ज्ञाननिष्ठा	"	१५—अनासक्तकर्मयोग	नं० ५ "
३—कर्मनिष्ठा	"	१६—कार्मरमश्रेष्ठत्व	नं० ६ २९२
४—बुद्धियोगनिष्ठा	"	१७—जीवनयात्रानिर्वाहकत्व	नं० ७ "
५—कुरु कर्म्य त्वं	"	१८—अबन्धनपहार्थकर्म	२९३
६—अभिपन्ता श्रीकृष्ण	२९९	१९—प्राकृतिकवश	"
७—कर्ता अर्जुन	"	२०—अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत	"
८—अर्जुन की भान्ति	"	२१—अग्नी सोमादृतिर्वशः	२९४
९—भान्ति का निराकरण	"	२२—सोमताम की व्याप्ति	"
१०—सर्वकर्मोपापक्षयसंस्था	"	२३—प्राणवह	"
११—नैऋत्योपावाच	नं० १ २९०	२४—आयोपज्ञ	"
१२—कर्मसंस्थासवैश्वर्ध्य	नं० २ "	२५—वाग्वश	"
१३—कर्मपरित्यागशक्तवाच	नं० ३ "	२६—अन्नादयश्च	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
२७—अन्नयज्ञ	२६४	४७—शरीरत्रयी	२१७
२८—मिथ्ययज्ञ	"	४८—ऋतस्य प्रथमजा	२१८
२९—अनुगमश्रुति	"	४९—महिता संयोगः	"
३०—प्रजापतिपञ्च	२६५	५०—उच्छिद्यद्यजिरे सर्वम्	"
३१—यज्ञेन यज्ञनपत्न्यत्	"	५१—व्यक्ति-समाजस्थिति	"
३२—यज्ञ से प्रजोत्पत्ति	"	५२—पञ्चमर्म की अव्यञ्जिता	"
३३—प्रजाशब्दनिर्वाचन	"	५३—संन्यासजन्म	२१९
३४—चातुर्वर्ण्यसुद्धि	२६६	५४—कर्मण्येवधिकारस्ते	"
३५—यागशब्दनिर्वाचन	"	५५—फलाशा भी बन्धकता	"
३६—देवपूजा	"	५६—हेतावीर्षुः-फले नेर्षु	३००
३७—देवसगमन	"	५७—कुवन्नपि न लिप्यते	"
३८—देवदान	"	५८—मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि	"
३९—भूतसम्बन्धी दानपञ्च	"	५९—बुद्धियोग पर आक्षेप	३०१
४०—देवसम्बन्धी सगमनपञ्च	"	६०—आक्षेपसमाधान	"
४१—आत्मसम्बन्धी पूजापञ्च	"	६१—बुद्धिमहिमा	"
४२—पुरोडाश (आहुतिश्च)	"	६२—उपनिषदाकाशा	३०२
४३—३३ देवता, ५ भूत	२१७	६३—उत्थिताकाशा	"
४४—यावद्विचि त्तावदसमा	"	६४—ऋतार्थकर्म	"
४५—आत्मसमर्पणपञ्च	"	६५—समत्वलक्षण बुद्धियोग	"
४६—"श्राद्धा" शब्दनिर्वाचन	"	६६—प्रकरोरणसंज्ञा	३०३

तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

इति

माकृतात्माधिकारणे-विज्ञानात्माधिकरणम्
समाप्तम्

अथ
प्राकृतात्माधिकरणे
प्रज्ञानात्माधिकरणम्

—४—

(३०५ पृष्ठसे ३४६ पृष्ठपर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्दर्शन	३०५-३०६	१७—गायत्र पुरुष का द्वितीयपर्व	३११
२—विषयोपभक्तः	३०७	१८— " " तृतीयपर्व	"
३—अधिकरण संगति	"	१९— " " चतुर्थपर्व	"
४—सृष्टिक्रमानुसार संख्याविभाग	३०८	२०— " " पञ्चमपर्व	३१२
५—अध्यात्मानुसार संख्याविभाग	"	२१— " " षष्ठपर्व	"
६—पितरप्राण	"	२२— " " सप्तमपर्व	"
७—पितृतिथि	"	२३— " " अष्टमपर्व	"
८—सोपिदग्नि	"	२४—गायत्रपुरुषपरिलेख	"
९—दर्शोष्टि	"	२५—सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा	३१३
१०—रातपगश्रुति	"	२६—पतित्रयी	"
११—अमावास्या नाम	३०९	२७—चन्द्रपिण्ड	"
१२—आख्यान रहस्य	"	२८—द्विरण्णवर्ग मन्त्रा	"
१३—गायत्रो वै पुरुषः	३१०	२९—वाष्परूप पानी	३१४
१४—ईश्वरः - जीवः	"	३०—यज्ञरराह	"
१५—गायत्रं प्रथ	"	३१—अत्रिप्राण से चन्द्रोत्पत्ति	"
१६—गायत्रपुरुष का प्रथमपर्व	३११	३२—मन्त्राण्डपुराण	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३३—पुराणसंगति	३१५	५७—सर्वाधिष्ठाता चन्द्रमा	३२२
३४—सोमो राजा	"	५८—अन्तरंग प्रकृति	३२३
३५—मौमवक्षा	३१६	५९—सृष्टिसाक्षि	"
३६—गन्धर्वनगर	"	६०—पुरुपाग्नि	"
३७—अत्रिपुत्र चन्द्रमा	"	६१—आमाग्नि	"
३८—महाभारत	"	६२—सुतो भवति	"
३९—महाभारतसंगति	३१७	६३—चन्द्रिकामय चन्द्रमा	"
४०—ऋक्संहिता	३१८	६४—पुरुष-प्रकृति	३२४
४१—संभूति-विनाशोपक्रम	३१९	६५—रस—बल	"
४२—आविर्भाव-तिरोभाव	"	६६—अग्नि—सोम	"
४३—उदय—अस्त	३२०	६७—सर्वमनम्	"
४४—संमृष्टिसम्बन्ध	"	६८—सवमन्नादः	"
४५—सत्त्वारस	"	६९—मन्त्रश्रुति	"
४६—अयं घटोऽस्ति	"	७०—प्रत्यक्षदृष्टि	३२५
४७—सत्ता का अनुग्रह	"	७१—पुण्डरीकस्वयम्भू	"
४८—सत्ता का निग्रह	"	७२—ऋक्संहिता	"
४९—सत्ता की श्रियुति	३२१	७३—मन्त्रसंगति	३२६
५०—मय की उदरति	"	७४—प्रज्ञानारामा	३२७
५१—निभृति सम्बन्ध	"	७५—आधिदैविक चन्द्रमा	३२८
५२—समिपैत्रीभावे	"	७६—अप्यव्यात्मिक चन्द्रमा	"
५३—सम्—भृति	"	७७—विष और जगत्	"
५४—उदयावस्था	३२२	७८—संयती-कन्दसी-रोदसी	"
५५—उद-घपन	"	७९—तेजस-स्नेहन	"
५६—विनाशोपस्था	"	८०—हृदय-परिधि	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
८१—उक्त्य-अर्क	३२८	१०४—संभूतआत्मा	३३५
८२—संकोच-विकास	"	१०५—आत्म-प्रति	"
८३—अङ्गिरात्रयी	"	१०६—प्रेतात्मा	३३६
८४—भृगुत्रयी	३२९	१०७—अधुमुखपितर	"
८५—दशविधसोम	"	१०८—पिण्डदानसङ्ग्रहश्राद्ध	"
८६—पञ्चावयवयज्ञ	३३०	१०९—श्रद्धासूत्र	३३१
८७—पद्याग्निविधा	"	११०—रेत	"
८८—शिवतमो रसः	३३१	१११—दिव्यनिरलरस	"
८९—अनभ्याविभाग	"	११२—अहंभाव की व्याप्ति	३३७
९०—करवपप्रजापति	३३२	११३—सहासि	३३८
९१—दक्षप्रजापति	"	११४—पितर	"
९२—दक्षवृत्त	"	११५—अजमयमन	"
९३—दश की ६० कन्यारं	"	११६—अविद्याशुक्र	"
९४—दाक्षायस्त्रिंश	"	११७—पुनःसंभूति	३३९
९५—नियतसमय	"	११८—चान्द्रनाडी	"
९६—मोसम-अनु	३३३	११९—सौरपञ्चदशति	"
९७—आरोहावरोहक्रम	"	१२०—वैगुण्यभाव	३४०
९८—मन्त्रिवचन	"	१२१—मात्राविभाग	"
९९—मन्त्रविमोक्त	३३४	१२२—चिदंश-सोमंश	"
१००—फौपीतकिश्रुति	"	१२३—पद्मोपेता-धीः	३४१
१०१—विचक्षणव-द्रमा	३३५	१२४—चिन्मन	"
१०२—शिवत-व	"	१२५—रवोवसीपसमन	"
१०३—संचर-प्रतिसंचर	"	१२६—सर्वेन्द्रियमन	३४२

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१२७—अनिन्द्रियम्न	३४२	१२६—नियतविषय	३४२
१२८—प्रज्ञानम्न	"	१३०—महर्षि फेलेरेय	"

विषयसंगति—समाप्त

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्रथममन्त्रार्थ—	३४२—३४४	३—तृतीयमन्त्रार्थ—	३४७—३४८
२—द्वितीयमन्त्रार्थ—	३४५—३४६		

इति

प्राकृतात्माधिकरणौ प्रज्ञानात्माधिकरणौ

समाप्तम्

—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणौ

प्राणात्माधिकरणम्—

—५—

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—प्राणाकाररूपानिर्देशन—	३४७—३५०	५—त्रयसंख्या	३५२
२—सिद्धावसोपन	३५१	६—त्रयसंख्या, ५४	"
३—मान्मा-वर्दे-पुनःपदम्	३५२	७—त्रयसंख्या-वेदसंख्या	"
४—साधना	"	८—गुणदकश्रुति	३५३



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
६—महेश्वर	३५३	३३—अदितिगर्भ से देवोत्पत्ति	
१०—अश्वत्थवृक्ष	"	३४—वागेवोपनिषत्	
११—सहस्रवरुणा	"	३५—अतिशयादेवता	३५६
१२—गूलभाग	"	३६—स्तोमविभाग	"
१३—मध्यभाग	"	३७—देवविभाग	"
१४—अन्तभाग	"	३८—सर्वभूतान्तरात्मा	"
१५—भोक्ता	"	३९—अमृत-ब्रह्म देव-भूत	३५७
१६—मध्वद	"	४०—शुद्धिसंस्कार	"
१७—साक्षीसुपर्ण	"	४१—स्मार्तसंस्कार	"
१८—भोक्तासुपर्ण	"	४२—धीतसंस्कार	"
१९—उपेश्वर	"	४३—सयुक्-सखा	"
२०—महेश्वर	"	४४—ईश्वरजगत् परिलेख	३५८
२१—परमेश्वर	"	४५—जीवजगत्परिलेख	३५९
२२—योन्मन्तरगमन	३५४	४६—एष सर्वभूतान्तरात्मा	३६०
२३—अजन्मात्माः	"	४७—भोक्तात्मविधत्	३६१
२४—अग्निः सर्वा देवताः	"	४८—सायधर्म	"
२५—अमृत-पृथु	"	४९—प्रकरणसंगति	३६१-३६४
२६—चित्वाग्नि	"	५०—हिरण्यमयपात्र	३६४-३६५
२७—चित्तेनिधेयाग्नि	"	५१—पूपक्षेप	"
२८—पिण्डपृथ्वी	"	५२—असत्प्राण	"
२९—महिमापृथिवी	"	५३—ऋषि	"
३०—कृष्णार्जुन	"	५४—सर्वापेप्राण	"
३१—पुष्करपर्ण	३५५	५५—प्राणविभूति	३६६
३२—देवमाता अदिति	"	५६—वागेवात्रिः	३६७

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
३७—एकर्विप्राण	३६७	७१—उपास्य-उपासक	३७०
३८—पूषा	"	७२—झायामयीपूषा	३७१
३९—शुद्धकर्ण	३६८	७३—त्रिविधजीव	३७२
६०—अदन्तकपूषा	"	७४—प्राण-व्यान-अपान	३७३
६१—रेवतीपूषा	"	७५—इरा	"
६२—पृथिवीपूषा	३६९	७६—अनिर	३७४
६३—सूर्यपूषा	"	७७—अगिल	"
६४—वायुपूषा	"	७८—ज्ञानान्मुक्तिः	"
६५—एकर्विप्राजापत्य	"	७९—वापुरनिलममृतम्	"
६६—यमप्राजापत्य	"	८०—भूतचिति	"
६७—सूर्यप्राजापत्य	"	८१—प्राणचिति	"
६८—पूषन्	"	८२—देवचिति	"
६९—पशवो वै पूषा	"	८३—मन्त्रार्थोपसंहार	३७५
७०—कल्पवाणतमरूप	३७०		

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणं
समाप्तम्

५

अथ

प्राकृतात्माधिकरणो
शरीरात्माधिकरणम्
६

(३७६ पृष्ठसे ३८६ पृष्ठपर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—शरीरात्मस्वरूपनिर्देशन	३७६-३७८	९—हृदय	३८१
२—भस्मान्त शरीर	३७९	१०—नाभि	"
३—इह चेदवेदीव	३८०	११—ब्रह्मप्रणिधि	"
४—८४ अङ्गुल	"	१२—सप्तवितस्त्रिकाय	"
५—पुरुष परिमाण	"	१३—आधिभौतिक पुरुष	"
६—प्रादेशमित प्राण	"	१४—भस्मान्तविश्व	३८२
७—ब्रह्मरन्ध्र	३८१	१५—कृत-कृत	३८३
८—कण्ठ	"	१६—प्रकरणोपसंहार	३८४

इति

प्राकृत त्माधिकरणो शरीरात्माधिकरणं
समाप्तम्

६

अथ

प्राकृतात्माधिकरणो

उभयोः सत्यात्मनोरग्निना-ऐकात्म्यम्

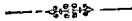
(३८४ पृष्ठ से ३८६ पृष्ठ पर्यन्त)

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—जीव-ब्रह्मसत्य	३८४	३—जीव-देवसत्य	३८५
२—ईश्वर-ब्रह्मसत्य	"	४—ईश्वर-देवसत्य	"

विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
५—सत्यप्रतिष्ठा	३८५	६—जातवेदा	३८५
६—वयुन	"	१०—अन्नभेद	३८६
७—वय	"	११—व्युनाधिष्ठाता अग्नि	"
८—वयोनाथ	"	१२—प्रकरणोपसंहार	"

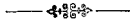
इति

वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम्



उपनिषत् निष्कर्ष

(३८७ पृष्ठ से ३६२ पृष्ठ पर्यन्त)



विषय	पृष्ठसंख्या	विषय	पृष्ठसंख्या
१—भोगसहामन	३८७	६—द्वितीय आदेश	३८६
२—चित्त की अस्तिपस्ता	"	७—तृतीय आदेश	३८७
३—महाराज यथाति	"	८—चतुर्थ आदेश	३८८
४—६ आदेश वाक्य	३८८	९—पञ्चम आदेश	"
५—प्रथम आदेश	३८९	१०—षष्ठ आदेश	३८९

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



“ मयाव्यक्षेण प्रकृतिः सृयते सचराचरम् ”

प्राकृतात्माधिकरण

२

प्राण-आप-वाक्-अन्न-अनादमयः प्राकृतात्मा **‘विश्वत्मा’**

४—१—१—अनेजदेक मनसो जवीप	}	अप्यक्तात्माधिकरण
५—२—२—तदेजति तनैजति		
६—३—३—यस्तु सर्वाणि भूतानि		
७—४—४—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि		
८—५—१—स पर्यगाच्छुक्लमण्डलम्	}	महदात्माधिकरण
९—६—१—अन्ध तम प्रविशन्ति		
१०—७—२—अन्यदेवाहुर्निधया	}	विज्ञानात्माधिकरण
११—८—३—विद्या चात्रिया च		
१२—९—१—अन्ध तम प्रविशन्ति	}	मज्ञानात्माधिकरण
१३—१०—२—अन्यदेवाहु सम्भवाद्		
१४—११—३—सम्भूतिं च विनाश च	}	प्राणात्माधिकरण
१५—१२—१—हिरण्यमयेन पात्रेण		
१६—१३—२—पूपन्तेकपे		
१७—१४—३—गायुर्निलममृतम्	}	शरीरात्माधिकरण
१—अधेद भस्मान्त शरीरम्		
१८—१५—१—अग्रे नय सुपथा राये	}	अग्निदेव की सर्वता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

पूर्णमदः >>>→

पूर्णेमिदम्

अविद्यमानम् >>>→

?-शान्तात्मा

अधिदैवतम् >>>→

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

ब्रह्म-कर्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

?

स्वयम्भूः ←←←← क्षणः >>>→ शान्तात्मा

(अव्यक्तात्माधिकरणे शान्तात्मा)

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्तिर्विद्याकर्ममयात्मा

किञ्चेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आनुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्स्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोपनिषत् ४ मन्त्र)





अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्रान्ते यद्ब्रह्मवात् ।
एव स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्टत्येकः ॥ १ ॥
यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वपधितिष्टत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥
तद्वेदं गुह्योपनिषत्सु गृहं तद् ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम् ।
य पूर्व देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ३ ॥
गुणान्वयो यः फलकर्षकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रियस्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिपेष्टितारं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपातैः ॥ ५ ॥
स तन्मयोऽश्रमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनन्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुविद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भग्य यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्पायी सृजते विश्वमततं तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥ ८ ॥
यो योनिं योनिपधितिष्टत्येको यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाग्येमां शान्तिमस्यन्तमेति ॥ ९ ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पाद ।
सं बाहुभ्या घमति संपतत्रैर्घावाभूमिं जनयन् देव एकः ॥ १० ॥

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

॥ श्रीः ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !

अव्यक्तनिधनान्धेव तत्र का परिदेवना ॥ १ ॥ (गी० २। २८।)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २ ॥ (गी० ८। १८)

प्रवृत्तिं ध्यामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतप्रापमिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९। २८।)

मवाध्यक्षेण प्रकृतिः सृयते सचराचरम्

हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी० ९। १०)



त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग विषय समाप्त होगया । अब मन्त्र-
प्रकरण आरम्भ होता है । पुरुष प्रकरण का 'असुर्या नाम ते लोकाः'
इत्यादि मन्त्र आवरणतन्त्र का निरूपण करता है । आवरणतन्त्र विश्व है ।
इसी विश्वावरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो रहा है । इस
आवरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि—आवरणतन्त्र

का प्रवर्तक कौन है ? विशुद्ध अव्यय पुरुष तो केवल आत्मकाम बनता हुआ आत्मकाय, अतएव
निष्काम है । ऐसी अवस्था में विशुद्ध अव्यय से आवरणरूप विश्व की प्रवृत्ति हो—यह संभव
नहीं है । इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'असुर्याः' इत्यादि मन्त्र के अव्यवहितोत्तरकाल
में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्भावतोऽन्यानृत्येति तिष्ठत्तास्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

“वह (कोई) एक (बिलक्षण तत्व सर्वथा) कम्प रहित है । (वह) मनसे भी (अधिक)
वेग वाला है । पहिले से ही (सर्वत्र) व्याप्त उस तत्व को देवतालोक प्राप्त करने में

यस्यार्थं हे । वद तत्र दौडनहुए देवनामा का स्वयं बैठा बैठा ही अनिक्रमण कर रहा है ।
ऐस इम तत्र में माभरिश्वा (नाम का तत्रविशेष) अप् नाम के पदार्थ को रखता है”
यह है मन्त्र का अक्षरार्थ ।

श्रुति व ती है कि एक तत्र ऐसा है जो सदा के लिए ठहरा हुआ है एव वही तत्र एक
क्षणके लिए भी ठहरा हुआ नहीं है । यह एका-तत्र शान्त है, एकांतत अशा त है । दोनों
धर्मों से यह अन्य व्याकृत है । उभयधर्मान्निष्ठत्वं अस्तुतत्र एक है । इस प्रकार श्रुत एक ही
तत्र में सर्वथा निरुद्ध दो भागों का सन्निवेश प्रतीत रही है । ऐसा कौनसा तत्र है जो अन्तर-तर
चल भी रहा है, एव ठहरा भी हुआ है, जो अनेकत्व भी है, एव मनसे भी तेज दौड़ने वाला है ?
इस का उत्तर है यही अक्षरपुरुष । अक्षय का अमृतरूप विद्याभाग सर्वथा स्थिर (अनेकत्व)
है, मृत्युरूप धर्मभाग सर्वथा चर है । अपनी इन्हीं दोनों नियतियों से वह ससारमें व्याप्त हो रहा
है । ससार चलाचल है । बनना—विगड़ना ससार का स्वभाविक धर्म है । इसी द्विनियति से
यह निष्ठ भी द्विनियति नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । निष्ठ के बनना (स्थिति—इदम) और
विगड़ना (गति—अन्यथात्वं) यही दो रूप (रग) हैं, अतएव लोकाभाषा में निष्ठ के लिए—
‘दुनिया दुर्गा’ यह आभाषण प्रसिद्ध है । निरुक्त ऋषानुसार द्विनियति शब्द ही दुनिया’
बन गया है । यह एक जनता है, एक विगड़ता है । एक रोता है, दूसरा हसता है । एक सोता
है, एक जगता है । एक सेरक है, दूसरा स्वामी है । एक पति है, दूसरी पत्नी है । एक
भोजी है, दूसरा भोग्य है । एक बालक है दूसरे खिलौने हैं । इन प्रकार भावद्वयान्निष्ठत्वं
अक्षय की सृष्टि में सुप्तदुःख, पुण्यपुण्य, अशुद्धा दुःख, सय विध्या, दिन रात, रवाह सुषेद, गुरु
शिष्य, राजा प्रजा, निदान् पूर्व रामरक आदि भेद से सर्वत्र इसी द्विनियतिभाव का साक्षात्त्व है ।

अक्षय का विद्याभाग रसप्रधान है, धर्मभाग बलप्रधान है । रसभाग अमृत है, बलभाग
मृत्यु है । यदि मृगयुग्म मारे जल उग अमृतरूप रस समुद्र में प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्मुग्ध
बन जाते हैं तो वही अक्षय द्विनियतिमर्यादा से बाहर निकलना हुआ ‘परात्पर’ बनजाता है,
जैसा कि परात्परनिरुक्ति में गितार से बतलाया जाचुरा है । (देखिए ई. उ प्र स २५५-२६४ पृ) ।

यही सीमित ब्रह्मचिह्न बनता हुआ, अतएव द्विनियतिभाव का प्रवर्तक बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट करदिया गया है। (देखिए ई० उ० प्र०-२६५-२८५ पृ०) बलभाग सर्वथा क्षणिक है, जोम ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक जोम से अव्ययपुरुष 'असत्' कहलाने लगता है। रसभाग सर्वथा अक्षय है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' भाग से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित निव्य शान्त अमृत-मृत्वरूप सदसत् तत्त्व ही अहंकार (ईश्वर) है, वही अहंकार (ईश्वरांशभूत जीवाव्यय) है, वही अहंकार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है-कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर अपने ब्रह्म से पूंछिए। ब्रह्म में वपदा है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, जल है, तेज है, वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। ब्रह्म में इतनी चीजें, फिर भी ब्रह्म एक कहलावे, ऐसा क्यों ? वस जो उत्तर इस 'व्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'व्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि " यदि रसवत् बल को भी शाश्वत एवं वस्तुसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूल त्रिनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मान्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अनृतं द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानने वाले— " असत्यमपतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् " (गी० १६ अ० ८ श्लो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के व्याज से इस बल की शाश्वतता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि थोड़ी देर के लिए अम्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेने पर भी बल स्वीकार करने से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हुआ करते हैं। अन्न और मनुष्य का भेद विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में कान-नाक-मुख-दाढ़-पैर आदि शरीरार्थों का पारस्परिक भेद "स्वगत" भेद है। ब्रह्मत्व इन तीनों भेदों से पृथक् माना जाता है, जैसा कि—“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए 'एकम्' कहा है, सजातीय भेद को हटाने के लिए 'एव' कहा है, एवं स्वगत भेद की व्यावृत्ति के लिए 'अद्वितीयम्' कहना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उसे सजातीय-विजातीयभेदशून्य तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए अद्वैतब्रह्म के स्वरूपानुसार उसे स्वगतभेद शून्य नहीं माना जा सकता। कारण स्पष्ट है। “निश्च विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” के अनुसार उसमें सत्ता-चेतना-आनन्द यह तीन पर्व स्वतःसिद्ध हैं। अस्ति (सत्ता), भाति (चेतना), प्रिय (आनन्द) यह तीन पर्व आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से भाव हो रहा है। क्या भातिमूलक भेद अभेद का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हाँ तो इस विप्रतिपत्ति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? बड़ी सत्तादृष्टि। उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि—“यद्यपि ब्रह्मत्वरव सत्ता-चेतना-आनन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है, परन्तु सत्ता तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है, अपि तु सत्ताभेद द्वैत का कारण है। ऐसी अवस्था में सत्ताभेदमूलक स्वगतभेद का प्रकृत में समावेश नहीं हो सकता”। क्या यह उत्तर (हम नाम रूप को मानते हुए) नहीं देसकते! अवश्य देसकते हैं। बलकी भाति होती है, सत्ता एक है। पूर्णतः बखोदाहरण पर ध्यान दीजिए। मन प्राण बना है, प्राण आकाश बना है, आकाश वायु, वायु अग्नि, अग्नि जन, बल मिट्टी, मिट्टी कषाम, कषाम रुई, रुई सूत, सूत कपड़ा, एवं कपड़े से वस्त्र बना है। प्रति-संचरक्रम का आश्रय लेते हुए यदि आप प्रनियंत्रण तोड़ते जाँगो तो उक्त सत्र पदार्थ आप एक ही बस्त्र में प्रत्यक्ष देख लेंगे। इन सत्र अनेक भातियों के रहने पर भी—“वाचाग्मभण विहारो नाशेषं मृत्तिकेन्येव मत्पम्” के अनुसार पूर्वपूर्व कारण सत्ता ही उत्तरोत्तर कार्य में प्रतिष्ठित होनी है। इस एक मयाभाव से अनेक भातियों के (प्रतीतियों के) रहने पर भी

वज्र एक कहलाता है। यही अवस्था यहा है। बलतर अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है साथ ही में उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पापक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थतः सत्चारस एव है। अतः नामरूपप्रवर्तक ब्रह्मपदार्थ को मानलेने से अद्वैततत्त्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा में ब्रह्म होकर नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है। "अनृते द्वे तु पायिके" "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" यह प्रमाण किस शास्त्र के हैं, यह पता न लगा। सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में गीता में, वेदान्तसूत्रों में कहीं भी विश्व को मिथ्या नहीं बतलाया है। विश्वको मायिक अवरण बतलाया है, परन्तु माया-बल मिथ्या है—यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया। यदि ध्याय बुरा न माने तो हमें यह कहलेने दीजिए कि भारतवर्ष का उन्नति का समूल विनाश यदि किसी ने किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। "संसार मिथ्या है—आत्मा सत्य है, मांसारिक कर्म बन्धन के कारण है" इन अनुचित एव अशास्त्रीय भावनाओं ने कर्मण्य भारतवर्ष को सर्वथा अज्ञानमय बना डाला है। पाठकों को हम यह विश्वास दिलादेते हैं कि आप के शास्त्रों में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अरि तु वह विश्व को ब्रह्म की विमूर्ति मान रहा है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अनुसार विश्व का मूलप्रणय ब्रह्म सत्ता चेतना—आनन्दलक्षण अनन्ता इत्या 'सत्य' है। इधर—'ब्रह्मैवम् सर्वम्' यह श्रुति सत्यब्रह्म के कार्यभूत विश्व को 'ब्रह्म' मान रही है। एक सत्यभूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्ति ब्रह्म-की कृतिरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जासकता है। कारण के गुण ही तो कार्य के आरम्भक (स्वरूपसम्पादक) बनते हैं। जब कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या होसकता है। 'अहं सर्वस्य परमत्रो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता १० अ. ८ श्लो.) के अनुसार सत्यमूर्ति अव्यय से सारा विश्व बना है। अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्तरूप में आकर विश्व कहलाने लग गया है। ऐसा विश्व मिथ्या होगा—यह कौन विश्वास करेगा? ममवाशो जीवलोकं जीवभूतः मनातनः' (गीता १५ अ. ७ श्लो.) 'एकाशेन स्थितं सर्वम्' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादो

प्येहाभवत् पुनः' 'पुरुष एवेदं सर्वं यदभूत् यच्च माध्यम' 'एकं वा इदं
 विब्रमूव सर्वम्' 'तमेकं सन्तं विभा बहुधा वदन्' इत्यादि श्रुतिस्मृतिएं जब स्पष्ट शब्दों
 में ब्रह्मकारणतावाद को पुष्ट करती हुई विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था
 में विश्व को मिथ्या मानना क्या निरी कल्पना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रजापति से।
 प्रजापति को सृष्टिज्ञाना से तपश्चर्या करनी पड़ती है। उम की चिरकाल की तपश्चर्या से विश्व
 उत्पन्न हुआ है, जैसा कि - 'प्रजापतिश्च द्दमग्र एक-भासीत् । सोऽकामयत् बहुमस्या-
 म्प्रजायेय. भूमानं मन्त्रेयं. स तपोऽतप्यत्' (जै० उ० १।४६।१) इत्यादि श्रुतियों से
 स्पष्ट है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस
 का आदर होता है। ऐसी श्रिति में जगन्निष्पत्ता ने तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण
 किया उसे एक हेला से मिथ्या बतला देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अज्ञान्य
 अपराध है। अपिच—'अहं ब्रह्मस्मि' 'योऽहंस्तोऽसौ' इत्यादि रूप से उपनिषद्श्रुतिएं अहं
 पदार्थ को 'ब्रह्म' मानती हैं। "उभयं हैतद्ब्रह्म प्रजापतिरास-भर्त्यं वैनामृतञ्च" (शत १०।
 कां. ११ अ. १४ ब्रा. ११ कं.) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति उस अहं प्रजापति को अमृत-मृत्युमय मान रही है।
 श्रौती उपनिषत् के आधा पर चलनेवाली स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता) 'अमृतं च मृत्युश्च सद-
 सन्चाहमर्जुन' इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मावच्छिन्न बतला रही है। ऐसी
 श्रिति में ब्रह्म के मृत्युप्रधान विरव को मिथ्या मानना साहस नहीं तो और क्या है। जिस
 नामरूपमय विरव को आप मिथ्या मान रहे हैं, देखिये श्रुति उसी के लिए अपने क्या विचार
 प्रकट करती है—

"अयं वाऽद्वयं नाम रूप कर्म । तेषा नाम्नां च गित्येतदेपायुक्तम् । अतो हि
 सर्वाणि नामान्युत्पिष्टानि । एतदेपां साम, एतद्धि सर्वैर्नापभिः समम् ।
 एतेदेपां प्राप्त्, एतद्धि सर्वाणि नामानि विभक्ति । अथ रूपाणां
 चतु..... । अथ कर्मणापत्त्या (शरीरम्) ।
 एतेतत् अयं मदेकमयपत्त्या । आन्धा—३ एकः सन्नेतत्त्रयम् । तदेतद्दृष्टं

सत्येन ह्यन्नम । प्राणो वाऽन्नमृतम् । “नामरूपं सत्यम्” । ताभ्या-
मय प्राणश्छन्नः” —

(शत० १४ का० । ३ प्र० । ४ अ० । ४ ब्रा०) इति ।

जिसप्रकार हमने स्पष्ट शब्दों में 'नामरूपे सत्यम्' इस रूपसे स्वयं वेद में नाम रूपा-
नक विश्व की सत्यता बतलाई है, क्या विश्व को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई वाक्य आप
बतला सकेगे ? नहीं तो क्यों आपके काव्यनिक मत का आदर किया जाय । 'असत्यम-
प्रतिपत्तं ते जगदाहुरनीश्वरम्' के अनुसार क्यों नहीं आपको 'अनीश्वरवादा' माना जाय ।
रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार क्यों नहीं आपको 'अ-छन्नबौद्ध' कहा जाय । समस्या बड़ी
बटिल है । आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्राय सभी विद्वानों का दृढ़ अभिनिवेश है । उनके
इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निमन्त्रण देना है । फिर भी सत्य
सिद्धान्त सत्य ही रहेगा । ऊपर की पङ्क्तियों से केवल झोम प्रकट कर देना दूसरी बात है,
एवं शास्त्रीय विचार से निर्णय पर पहुँचना दूसरी बात है । हम आज स्पष्ट शब्दों में आर्या
वर्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है ।
'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाक्य का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रस्थानत्रयी का कोई
भी वाक्य जगत् को मिथ्या नहीं बतला रहा । विश्व के लिए 'अनृत' शब्द अपरम्य आया है ।
परन्तु इस अनृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है, जैसा कि विचार उपस्थित होने पर प्रकट
होगा । नीरक्षीरविवेकियों के सम्मुख कुछ एक वचन उपस्थित कर दिये जाते हैं । यह
वचन विश्व ईश्वर की कृति है—ईश्वर ही अपने अक्षरूप से विश्व बना है । अतः
तदंशभूत विश्व तद्रूप ही है' इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं । विद्वानों का यह
कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन वचनों का समन्वय कर चिरकाल से चली आने वाली
जगन्मिथ्यात्वविषयिणी मिथ्या भ्रान्ति का निष्करण कर देश को निष्काम कर्मयोग में
प्रवृत्त करें ।

- १—“ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् ” (तै० उ० १) ।
- २—“ स एवाधस्तात्, स उपरिष्ठात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेद सर्वम्—(ब्रह्मैवेदं सर्वम्) ” (छां० उ० ७।२।५।१) ।
- ३—“ पुरुष एवेदं सर्वम्—यद्भूतं यच्च भाव्यम् ” (यजुः सं० ३१ अ० १२ मं०) ।
- ४—“ एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ”
- ५—“ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव ” (यजुः १०।२०) ।
- ६—“ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ” , ऋ.सं. १।१६४।४६) ।
- ७—“ ब्रह्म त्वं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो आवापृथिवी निष्टतलूः ” (तै.ब्र.२।१।२।१६)
- ८—“ तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तन्निर्भल्लोकाः अिताः सर्वे ” (कठ.२।६।१)
- ९—“ यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ” (श्वेता. उप. ३।४) ।
- १०—“ षोडशरुलः प्रजापतिः ” (शत० ७।२।११.७) ।
- ११—“ एष ह प्रजानां प्रजापतिर्यद्विश्वजित् ” (गी० पू ५।१०) ।
- १२—“ प्रजापति ह्येवेदं सर्वमनु प्रजायते ” (शं० ४।५।५।१३) ।
- १३—“ प्रजापतिर्लोकान्मन्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृष्टत्—अग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः ” (छां० उ० ४।१७।१) ।
- १४—“ प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा ” (शं० ७।४।२।५) ।
- १५—“ इमे लोकाः प्रजापतिः ” । शं० ७।५।१।२७) ।
- १६—“ आवापृथिवी हि प्रजापतिः ” (शं० ५।१।५।२६) ।
- १७—“ स बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्धीवाभूमी जनगन् देव एकः ” (ऋक् १०।१०।१३) ।
- १८—“ सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः ” (शं० ५।१।१।४) ।
- १९—“ त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोत्प्रेक्षाभवत् पुनः ” (यजुः ३।१४) ।
- २०—“ प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च ” (.....)
- २१—“ य एको जातवानीशत ईशनीभिः सर्वल्लोकानीशत ईशनीभिः ” (श्वे. उ. ३।१) ।

२२-“ हरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ” (श्वे० १।१०) ।

२३-“ य एको वर्यो बहुषा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ”
(श्वे० ४।१) ।

२४-“ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ” (गी० पृ० ८) ।

२५-“ गमैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ” (गी०) ।

२६-“ मत्तः परतरं नान्यद् किञ्चिदस्ति धनंजय ” (गी० ७।७) ।

२७-“ लिष्ट्वाहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगद् ” (गी० १०।४२) ।

२८-“ नामरूपे सत्यम् ” (शं० १४ कां० । ३।४) ।

२९-“ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तद् सत्यं, स आत्मा ” (छां० उ० ५।८।७) ।

३०-“ तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्ने-
रापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ध्योषधयः, ध्योषधीभ्योऽन्नं, अन्नादेता, रेतसः पुरुषः ।
स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । + + + + अन्नाद्दे प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च
पृथिवी श्रिताः । सर्वं वै तेऽन्नमाम्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नं हि भूतानां
ज्येष्ठम् (तै० उ० १।१-२-१) ।

३१-“ यद्दे किञ्च प्राणि स प्रजापतिः ” (शत० ११।६।३) ।

३२-“ मनोमयोऽयं पुरुषो माः सत्यः ” (बृ० आ० ५ अ० ६ ब्रा०) ।

३३-“ अन्नमयं हि सोम्य मनः ” (छां० उ० ६।७।१) ।

३४-“ षोडशकलः सोम्य पुरुषः ” (छां० उ० ६।७।१) ।

३५-“ रूपं वै प्रजापतिः + + + । नाम वै प्रजापतिः ” (तै० ब्रा० २।२।७।१) ।

३६-“ प्रजापतिः प्रजा असृजत । स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेषु देवानसृजत, येऽवाञ्चप्राणा-
स्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः + + + तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धमममृतम् ”
(शत० १०।१।२।१-२-१) ।

३७-“ स आसेनैव देवानसृजत, तस्मै स ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणः,
तेनासुरानसृजत । तस्मै ससृजानाय तम इवास ” शत० ११।१।६।७-८) ।

३८-“ एषो ह देवः प्रदियोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः
स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे० उ० २।१६।१) ।

उक्त सत्यमीमांसा से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि एर बलरूप विद्या-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म हैं । अभिन्नसत्ताभाव के कारण दोनों एकतत्त्व हैं । विद्याभाग स्थितिमूर्ति होने से सर्वथा कम्प रहित है । इसी विद्याभाग को लक्ष्य में रखकर श्रुतिमें 'अनेजत्' कहा है । कर्मभाग गतिरूप होने से 'एजत्' है । इन दोनों विरुद्धभावों से द्वैत का भ्रम न होनाय, अतः एकत्वव्यवहारमूला उसी सत्तातत्त्व की ओर लक्ष्य रख कर श्रुति में 'एकम्' कहा है । अनेजत्-और एजत् दोनों उस एक के उदर में समाविष्ट हैं । मध्यस्थ 'एकम्' दोनों का सम्बन्ध-सूत्र है । इसी मध्य को लक्ष्य में रखकर "अनेजत्—एकम्—मनसो जवीयः" यह मन्त्र रखा गया है । इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का विद्याकर्ममयाव्ययप्रतिपादकत्व सिद्ध होजाता है । यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्प्रपो मातरिश्वा दधाति' यह वाक्य न होता तो अक्षरयमेव प्रथम प्रकारखण्ड यह द्वितीय प्रकरण भी विरहोपहित (वेदोपहित) शुद्ध अन्वय का ही निरूपक मान लिया जाता । परन्तु उक्त चतुर्थ चरण ही उस के वेदयुक्त सौगधिक भाव की ओर हमारा ध्यान आश्रयित करता है ।

उस स्थितिगतिमत विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नाम का तत्त्व विशेष श्रुत् का आधान करता है । आधान का अर्थ है आह्विति । एक आलम्बन पर दूसरी वस्तु का रक्खा जाना ही आह्विति किंवा आधान है । वैदिक परिभाषानुसार जिस आलम्बन पर वस्तु का आधान होता है, जिस पर वस्तु आहित होती है, वह अन्ना (भोक्ता) बनता हुआ 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत होता है, एव आहित होनेवाला पदार्थ 'भाहुनि' कहलाता है । आह्विति शब्द ही परोक्षभाषा में आह्विति है , यही अन्न है । उदर अन्नाद है, वहाँ आहित अन्न अन्न है । दोनों का समन्वित-रूप ही यज्ञ कहलाता है । उदाहरणार्थ सूर्य अन्नाद है, उस पर आहित, अतएव आह्विति नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा (सोम) आह्विति है । यही प्राकृतिक (आधिदैविक) नित्ययज्ञ है । इसी आधानात्मक यज्ञ का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

'म वै यः सोऽन्नाग्निरेव सः । तस्मिन् यत्किञ्चाभ्यादधाति—आह्वितय
एवाभ्य नाः । आहितयो वै ना भाहुतय इत्याचक्षते परोक्षम् । आहित्यो

वा अत्ता, तस्य चन्द्रमा (सोमः) एवाहितयः, चन्द्रमसं ह्यादित्ये आदधति”
(शत० १०।६।३।१-२)

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है । प्राचीन भाष्य के अनुसार अण् का अर्थ है कर्म, मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु । सूत्रवायु उस अनेजदेजत् नाम के परमात्मत्व में कर्म का आधान करता है । वैज्ञानिकदृष्टि से अण् आहुति द्रव्य है, मातरिश्वा भी एक स्वतन्त्र तत्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । इस अवाहुति से वह अव्ययपुरुष यज्ञ-पुरुषरूप में परिणत होजाता है । पुरुष जबतक यज्ञ का आश्रय नहीं लेता, तबतक प्रजापति नहीं होसकती । कारण 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' (गी. ३।१०) के अनुसार प्रजा-सृष्टि का मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है ।

अण् की आहुति होती है, इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है । उधर हमारा शुद्ध अव्यय-पुरुष भोक्तृभोग्यलक्षण अन्नअनादात्मक यज्ञ से सर्वाया बहिर्भूत है । क्योंकि यज्ञ का पहिला मूल आधोमय परमेष्ठी है । आप्से ही यज्ञ होता है । यज्ञमूर्ति परमेष्ठी का अण् नाम का पुरंजन प्राणमय वेदपुरंजन से उत्पन्न होता है । स्वयम्भु का प्राण ही 'ब्रह्मनिश्चित' वेद है । 'सोऽपोऽसृजत वाच एव सोऽकाव' के अनुसार इसी वेदवाक् से पानी उत्पन्न होता है । ऐसी अवस्था में वेद हो तब अण् तत्र का विनाश हो, अण् हो तब मातरिश्वा द्वारा उस अव्ययब्रह्म पर अण् का आधान हो । अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अव्यय ब्रह्म वेदमय ही है । वेदमूर्ति अव्यय पर ही अवाहुति सभव है । वेदमय अव्ययब्रह्म ही, दूसरे शब्दों में अव्ययवच्छिन्न वेद ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । अव्यय स्वयं विद्याकर्ममय है । अतएव इत के आत्मस्वरूप के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवरय ही विद्याकर्ममय है । वेद में जो विद्या-कर्म का भाग है, वह अव्यय के विद्या-कर्म का ही अनुग्रह है । वेद क्या पदार्थ है ! वह अपौरुषेय है, अथवा पौरुषेय ? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है । इन सब विषयों का विवेचन भाष्यभूमिका में किया जा चुका है । अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रखा जाता है ।

इति-विषयोपक्रमः



मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदानिरुक्तिः



दार्थज्ञान का साधक तत्त्व वेद है। “अयं षट्:” “अयं पट्:” इत्यादि-रूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपलब्धि होती है, वह उपलब्धि ही वेद है, जैसा कि पूर्व की वेदनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वेद का जन्म किया आविर्भाव आत्मद्वार से होता है। आत्मद्वार की (मर्त्य) ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कक्षाएं हैं। सृष्टिनिर्माण करना ब्रह्मा का काम है। परन्तु जब तक यह ब्रह्मतत्त्व प्राणमय वेदद्वार को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है। सृष्टिनिर्माता है ब्रह्मा, परन्तु साधन (उपादान) है वेद। अतएव मन की इच्छा से ब्रह्मा से सर्व प्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मा विश्व निर्माण करता है, जैसा कि पूर्व की विश्वनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

वेदग्रन्थों के महत्त्व को यह सुविदित है कि वेदतत्त्व ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वेद से चार भागों में विभक्त है। चतुर्धा विभक्त वेदतत्त्व विज्ञानदृष्टि से अग्नि-सोम वेद से दो भागों में विभक्त है। अग्निवेद पहिला वेद है, सोमवेद दूसरा वेद है। वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर विशकलित होता रहता है, वही अग्रगामी होने से ‘अग्नि’ कहलाता है। आगे चलना, आगे बढ़ना इसका सामाजिक धर्म है। परोक्षभावांनुसार यह अमितत्त्व ही ‘अग्नि’ नाम से व्यवहृत होता है— (देखिए शत० ६ कां०। प्र०। १ अ। १ ब्रा०। ११ कं०)। वह तत्त्व जो दाहक होता हुआ प्रथि (परिधि) से केन्द्र की ओर आता हुआ प्रथि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि

• अग्निः कश्चात् अमयीर्भवति, अमं यज्ञेषु प्रधीपते, अन्नं भवति सन्ममाना, न ननोरपति, न स्तेरपति”

[पा० नि० ५ अ० दै० डा० ३-४-५-]।

को स्वरूप-से सुरक्षित रखता है, वही सुत (आहुत) होने से 'सूयते' इस निर्वचन के अनुसार सोम नाम से प्रसिद्ध है । सोम स्नेहतरव है, अग्नि तेजतरव है । स्नेहतरव की प्रतिष्ठा स्थिततरव है, तेजतरव की प्रतिष्ठा गतितरव है । स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में परिणत होजाती है । प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की समष्टिमात्र है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । संसार में आप जितनी भी मूर्तियाँ देख रहे हैं, वे सब अग्निमयी हैं । अग्नि ही मूर्ति का निर्माण करता है । दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का स्वरूप है । वस्तु (पदार्थ) 'गुणकृतो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्गल है । यह कर्म कर्म एवं क्रिया भेद से दो भागों में विभक्त है । एक एक क्रिया क्रिया कहलाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होती है । अनेक क्रियाओं के संघात से एक कर्म (काम) पूरा होता है । उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है । उस कर्म की सिद्धि के लिए ईंधन-अग्नि-पानी-आटा-नमक-शुक्राकार आदि अनन्त क्रियाएं करनी पडती हैं । 'रसोई तै पार हो गई' यह एक कर्म संपन्न होगया । इस कर्मसंपत्ति के लिये तदवयवभूत अवान्तर कितने ही कर्म करने पडे । उस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण अवान्तर कर्म क्रिया नामसे, एवं अवान्तर कर्मों से निष्पन्न कर्म कर्म नाम से व्यवहृत किया जाता है । एक ही कर्म की दो अवस्थाएं होजाती हैं । इसी क्रियासंतानरहस्य को लक्ष्य में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजम्भनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ 'वान्यपदी'

कर्म की क्रिया अवस्था लोभयुक्ता है, कर्मावस्था शान्तवत् है । हल-चल क्रिया है । स्थिति कर्म है । इस्थान पर स्थिर रहते हुए चलना हिलना है, इसे ही कम्पन कहते हैं । स्वदेश का परित्याग करते हुए आगे बढ़ना चलना है, वही गति है । इस प्रकार क्रियाभाव कम्पन-और गति दो भावोंमें परिणत रहता है । इसी अभिप्राय से इस का 'हल-चल' शब्द से अभिनय किया जाता है । कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है ।

निरन्तर उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकला करते हैं, इसी (परमाणुनिर्गम) अग्न्या का नाम क्रिया है। वस्तुपिण्ड कर्म है। शरीर पर दृष्टि डालिये। शरीर अग्निपिण्ड है। आप शरीर को जटा छूते हैं, गरम पाते हैं। यह अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन है। इस अग्निमूर्ति शरीर से प्राणाग्नि का निरन्तर विस्रसन होता रहता है। इन्द्रियजय परिश्रम, रोमकूप आदि से प्राणाग्नि खर्च होता रहता है। इसी कमी जो पूरा करने के लिये साय प्रातः अन्नाहुति (भोजन) की आवश्यकता होती है। शरीरपिण्ड अग्निमय है, जो वस्तु खर्च हो रही है वह भी अग्नि है। इस प्रकार पिण्डरूप कर्म विस्रसनलक्षण क्रिया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है। वस्तुपिण्ड कर्म है, यह भी अग्नि है। वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार क्रिया है, यह भी अग्नि ही है। इस प्रकार संसार में जितने भी कर्म हैं, उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है। अग्नि की इसी कर्मव्यापकता को लक्ष्य में रखकर "विश्वानि (सर्वाणि) कर्माण्ययमग्निः" (शत० ब्रा० ६ का० १५ अ० ११ ब्रा० १२ का०) यह कहा जाता है। हम अमुक वस्तु देख रहे हैं, इस वाक्य का 'देखना' कर्म से ही तो सम्बन्ध रहता है। परिवर्तनरूपाक्रिया, एव पुद्गलास्थापन कर्म (वस्तुपिण्ड) ही तो दृष्टि के विषय बनते हैं। दृष्टि विषयक सारे कर्म अग्निरूप हैं, दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रवर्तक, कित्वा स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर निर्गन्धु (निवन्दु) शास्त्र कहता है—

“यच्च किञ्चिद्दृष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत्” (या० नि० दे० का० ७।८।३)

सर्वकर्मप्रवर्तक, सर्वकर्ममूर्ति इस अग्नि की प्राण-भूत मेद से दो अवस्थाएँ हैं। प्राणाग्नि अमृताग्नि है, यही देवता है। भूताग्नि मर्त्याग्नि है, यही भूत है। वस्तुपिण्ड भौतिक्याग्नि है, पिण्डगत निराकार प्राणाग्नि देवता है। प्राणाग्नि क्रिया है भूताग्नि कर्म है। इस प्रकार संसार के सारे भूत, एव सपूर्ण देवता "सर्वाणि वाऽएव भूतानि, सर्वान् देवान् गर्भी विभर्त्ति, योऽग्निं विभर्त्ति" (शत० ब्रा० ६ का० १५ अ० ११ ब्रा० १२ का०) के अनुसार अग्नि मय ही हैं। इस अन्नादाग्नि की सत्ता सोमाहुति पर निर्भर है। जब तक सोमाहुति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। भूताग्निमय प्राणाग्नि ही मूर्तिरूपमें परिणत हुआ है। परन्तु विषास कीजिए जब तक इस में सोम की आहुति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्ति 'कभी प्रतिष्ठित न रहेगी। कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विशकलनधर्मा है। यह ठहरना जानता ही नहीं। उसमें निरन्तर गति होती रहती है। यह मूर्ति का निर्माण नहीं करता, अपि तु उस के स्वरूप को विशकलित करता है। परन्तु स्नेहगुणक सोम इसमें आहुत होकर इस की विशकलनशक्ति का स्तम्भन कर देता है। इस सोमसम्बन्ध से अग्नि को वाप्य होकर मूर्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ही मूर्ति सत्ता का कारण बनता है, इसी आधार पर अग्नि को मूर्ति का अधिष्ठाता मानलिया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह मूर्तिभाव सोम की कृपा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार अग्नि 'प्राण' कह जाता है, एवमेव सोमत्व 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है। रयि (सोम) ही मूर्ति बनता है, इसी आधार पर—'तस्मान्मूर्तिरेव रयिः' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ क०) यह कहा जाता है। सोमत्व आहुति द्रव्य है, अत एव भोक्ता अग्नि की अपेक्षा इसका स्यान् (दर्जा) नीचा माना जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अभिन्न मित्र है, अन्तरंग सखा है। अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रज्वलित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रभव बनता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

अग्निर्जागार तद्वचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहपस्मि सरल्ये न्योकाः ॥

(ऋक् सं० ५।४४।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सम्पूर्ण भौतिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीपोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विरवके पांच पर्व हैं। पांचों में स्वयम्भू सत्याग्निमय, सूर्य देवाग्निमय, पृथिवी भूताग्निमयी है। परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्रानिरुक्ति में विल्लार से बतलाया जा चुका है। इस दृष्टि से भी विरव का अग्नि-सोममय सिद्ध होना है। इनमें अग्नि-वेद वेदत्रयी है, सोमवेद चौथा अथर्ववेद है। अग्नि की अग्नि-वायु-आदिमय यह तीन अवस्थाएं हैं, अतएव अग्निवेद ऋक्-यजुः-साम वेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है।

सोमत्वर दिक्गोम (निरायतन सोम) भास्वर सोम (सायतन सोम) भेद से दो भागों में विभक्त है। अतएव सोमवेद-चोराङ्गिरा मथर्वाङ्गिरा भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है। दोनों की समष्टि अथर्ववेद है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा अग्निमूर्त्ति ब्रह्मा है, दूसरे शब्दों में त्रयीवेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि डालिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा, उद्योति, भेद से तीन भागों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठावेद ऋग्वेद है एव ज्योतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्वप्रतिपादित मन-प्राण-गन् के त्रिवृत्तरण से त्रयीभाव से युक्त हैं। तीनों में से सर्वप्रथम सर्वप्रधान आत्मारूप यजुवेद को ही लीजिए।

१-आत्मवेदः (यजुर्वेदः- ऋग्यजुःसाममयः)

‘स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः’ के अनुसार आत्मा मन-प्राण-गह्मय है। इसी का नाम त्रिभागमित अव्ययात्मा (कर्मात्मा) है। आत्मा की इन तीनों कलाओं से क्रमशः रूपा-कर्म-नाम इन तीन गर्भ कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उक्त्य है। मन ही त्रिपयारूपाकाराकारित घनता है दूसरे शब्दों में सारे रूप मन से ही उठते हैं, अतएव हम मन को रूपों का उग्रय (मभवस्थान) मानने के लिए तय्यार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है त्रिपयाकार मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का व्रद्ध (त्रिभर्त्ति रूपाणि) कहा जासकता है। अरर-मनुष्य-घट-पट आदि सप्त के रूप परस्पर में सर्वा भिन्न हैं। परन्तु इन भिन्नों में मन अभिन्न रूप से व्याप्त है, सप्त रूपों में समान है, सम है, अतः मनको ही रूपों का साम (मत्सानभूमि) कहा जासकता है। इस प्रकार ‘यतो उचिष्ठन्नि सर्गाणि रूपाणि, त्रिभर्त्ति यत् सर्गाणि रूपाणि, सम यद मरुषु भूनेषु’ इस निर्गमन प्रक्रिया के अनुसार हम आत्मा की मनोरूपा को रूपों का उक्त्य-व्रद्ध-नाम लक्षण आत्मा मानने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार आत्मा की प्राणकला कर्मों की उक्त्य

ब्रह्म-साम है, वाक्कला नामों का उक्थ-ब्रह्म-साम है। नाम-रूप-कर्म भेद से वह एक आत्मन्तर तीन भागों में विभक्त हो रहा है। तीनों मिलकर एक आत्मा है। इस आत्मा की मनो-कला में उक्थभाव प्रधान है, ब्रह्म-साम भाव गौण हैं, प्राणकला में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उक्थ-साम गौण हैं, एवं वाक्कला में साम की प्रधानता है, उक्थ ब्रह्म गौण हैं। इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्ब्रह्मद्वय से हम मन को उक्थ कहसकते हैं, प्राण को ब्रह्म कह सकते हैं, एवं वाक् को साम कहसकते हैं। यह उक्थ ऋक् है, ब्रह्म यजु है, साम साम है। इस प्रकार उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का समन्वय होजाता है।



२—प्रतिष्ठावेदः (ऋग्वेदः—ऋग्यजुःसाममयः)

दूसरा है प्रतिष्ठावेद। इसीका नाम ऋग्वेद है। यह प्रतिष्ठातरव आत्मधृति, असतोधृति, सतोधृति भेद से तीन भागों में विभक्त है। मन-प्राण-वाक् की अव्याकृतावस्था का नाम-सत्ता है, यही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मलक्षण सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है। प्रत्येक वस्तु अतिभावात् है। सूर्य स्वरूप से विद्यमान है, पृथ्वी है, हम हैं, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुरक्षित रखने वाला जो अतिभावात् है-स्यसत्ता है, इसी का नाम आत्मधृति (आत्म प्रतिष्ठा-आत्मसत्ता) है। हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को, एवं वाक् को धारण करते हैं। इसी धृति से हम हैं। 'अहमस्मि' (मैं हूँ) यही तो आत्मधृति किंवा-स्वधृति है।

जो वस्तु सत्ताशून्य होती है वह अग्न्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावत् बन जाती है। उदाहरणार्थ-घट पहले न था, वह असत् था, नास्ति रूप था, अभाव के गर्भ में विद्यमान था। कुम्भकार मिट्टी में कुलाल द्वारा अपने मनप्राणवाङ्मय आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से बत्त डालता है। कुम्भकार के बौद्धजगत् में प्रतिष्ठित, अतएव तदाकाराकारित (घटाकारा-कारित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड-चक्र-धीवरदि साधनों द्वारा वह असत् घट

मृत्तिमा में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है । घट में जो सत्ता है, यह मिट्टी से आई हुई है । असत् घट मृत्सत्ता से सत् बन रहा है । इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है । अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है । उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है । अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'असतो धृति' कहा जाता है जैसा कि—'वाचारम्भण विमारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि से स्पष्ट है । स्वस्वरूप से हम आत्ममृत्ति रूप हैं, एव शरीर असतो धृति रूप है । जीवात्मसत्तारूप आत्ममृत्ति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है । यही दूसरी प्रतिष्ठा है ।

तीसरी सतोऽधृति है । जल भी सत् है, घट भी सत् है । सत् घट में सत् जल भरा हुआ है, यही सतोऽधृति है । हम भूषुष्ठ पर प्रतिष्ठित हैं, पुस्तक मेज पर रखी है । अस्तित्वयुक्त पदार्थ परप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । महाप्राण अल्पप्राण की प्रतिष्ठा है । अनाद अन्न की प्रतिष्ठा है । शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है । हमारा प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूषिण्ड है, भूषिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि वि प्रतिष्ठा वायु है, वायु की प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आनन्द सत्ता की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उच्चोत्तर के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है, अतएव हम इसे 'सतोऽधृति' कहने के लिये तय्यार हैं । इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है । यही तीसरी प्रतिष्ठा है ।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्ममृत्ति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोऽधृति है, एव मिट्टीप्रतिष्ठा सतोऽधृति है । पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही व्यक्तानुस्था में आवर मिट्टी कहलाने लगती है । फलत उक्त तीनों प्रतिष्ठों का अन्तोगमन—'आत्मविमृत्ति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है । तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं । प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है । ब्रह्मतत्त्व प्राण है, जैसाकि पूर्ण के आत्मवेद में बतलाया जा चुका है । यह यही प्राण है जो सप्तपुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

तप से प्रकट होता है । “ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्” “ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा” के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है । जैसे अप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले भाव लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसूत प्रतिष्ठाभाव वेद नाम से प्रसिद्ध हैं । पूर्वप्रतिपादित इन तीनों धृतियों में आत्मधृति ऋग्वेद है । क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएं आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहती हैं । असतोवृत्ति-सतोवृत्ति दोनों का आधार आत्मप्रतिष्ठा है । यजु-आर साम ऋक् पर प्रतिष्ठित रहते हैं । अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इत आत्मप्रतिष्ठा को हम अथर्व ही ऋग्वेद कह सकते हैं । प्रस्ताव ऋग्वेद है, ऋक् ही उपक्रम है । आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठाओं का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है । असतोवृत्ति यजुर्वेद है । कार्य में कारण सत्ता का योग हो जाना ही असतोवृत्ति है । कारणसत्ता कार्य में आहुत हो जाती है । दोनों का यजन होना है । अतः ‘यजनात्’ से इस असतोवृत्ति को हम अथर्व ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं । एवं शेष सतोवृत्ति सामवेद है । साम का ‘अच्चा समं मेने’ यह लक्षण है । आत्मधृति ऋक् है । अन्य को धारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोवृत्ति है । आत्मधृति ही आगे जाकर सतोवृत्ति बन जाती है । सतोवृत्ति ऋग्रूपा आत्मधृति से समभावापन्न है, अतः इसे सामवेद कहा जासकता है । इस प्रकार ऋग्वेदरूप प्रतिष्ठावेद में प्रतिष्ठात्रयी के कारण ऋक्-यजु-सामादिका वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है ।



३-ज्योतिर्वेदः (सामवेदः-ऋग्यजुःसाममयः)

तीसरा है ज्योतिर्वेद । ‘सर्वं तेजः सामरूपं शश्वत्’ के अनुसार ज्योति ही सामवेद है । ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सद्यज्योति भेद से ज्योतिस्वरूप तीन भागों में विभक्त है । आत्मज्योति ज्ञानज्योति है । सूर्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि-भेद से पञ्चधा विभक्त ज्योति भूतज्योति है । ज्ञानज्योति ही भूतज्योति की प्रतिष्ठा है । ज्ञान ही भूत की आधार भूमि है । ज्ञानज्योति से ही भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को ‘ज्योतिषां ज्योतिः’

(ज्योतियों की भी ज्योति) कहा जाता है। भूतज्योति पाच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतियां' कहा गया है। इसी मूलज्योति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽपमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वक्त यथाय है। जबतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य-चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विलुप्त है तो सारे विश्व में हमारे लिये अन्धकार है। इसी आधार पर प्राचीन भाषा में “आप मरा तो जग परान (प्रजय)” यह किन्दन्ती प्रचलित है। इस ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित भूतज्योतियों का मूलधार सूर्यज्योति है। इसका चक्षुरिन्द्रिय पर अनुग्रह होता है। तीसरी सत्यज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मक घटपटादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है, वही अमृत है। यही तब विज्ञानभाषा में ‘माण’ नाम से प्रसिद्ध है। यह अमृतभाग घट-पटादि समस्त पदार्थों में समान है, अविशेष रूप से व्याप्त है। यही अविशेष (अमृतत्व) नामरूप की कृपा से विशेष बन कर ‘अयं घटः’ ‘अयं पटः’ इत्यादि रूप से पृथक् पृथक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परित्याग कर दिया जाता है तो वह अमृततत्त्व औपाधिक विशेषभाव से पृथक् होता हुआ अप्रतीति का विषय बन जाता है। नामरूप के बिना वह सर्वथा तिरोहित है। नामरूप से परिच्छिन्न होकर ही वह प्रकाशित होता है। अतएव अमृत को आच्छादित करने वाले, किन्तु उसे भाविरूप से प्रकाश में लाने वाले नामरूप को हम अवश्य ही ‘ज्योति’ कहने के लिए तय्यार हैं। विषयोपक्रम में बतलाए हुए सत्यनिबन्धन के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सत्यज्योति है। जैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट हो जाता है—

“तदेतदमृतं सत्येन कृतम् । नापरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणरक्षसः”

(शत० १४ वा०) इति ।

इन्ही तीनों ज्योतिषो के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को त्रिसत्य कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिषं विश्व में परस्पर में मिल सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विहानात्मा) सुपुष्टि-काल में जब पुरीतति नाड़ी में चला जाता है तो वह भूत-एवं सत्यज्योतिषो का प्रखण्ड धरने में असमर्थ होजाता है । सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मवेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिर्घन जीवात्मा भूतज्योति के सहारे ही अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है । आदित्यज्योति से ही यह तत्त्व कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए समर्थ होता है । तद्भाव में चन्द्रमा, चन्द्रभावमें अग्नि, अग्नि के अभाव में वाक्, सूर्याभाव में आत्मा है । परन्तु बिना सूर्यादि ज्योतिषों के यह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता, जैसा कि 'असूर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । शरीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है, वही आत्मा है । भूतज्योतिर्घन सूर्य द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होने वाला यह आत्मा स्वप्रभवरूप ज्योतिर्मय सूर्यादि के बिना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के बिना भी शुद्ध ज्ञानात्मा का विकास असंभव है । नामरूप को छोड़ देनेपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिजगत् से बाहर निकल जाता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त तीनों ज्योतिषं परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होती हैं । इन तीनों में मूलप्रभव ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होने से ऋग्वेद है । विषयावसानभूमिरूपा सत्य-ज्योति सामवेद है । दोनो का यजन (सम्बन्ध) कराने वाली मध्यपतिता भूतज्योति यजुर्वेद है । इसप्रकार ज्योतिलक्षण सामवेद में ज्योतिष्यी से वेदत्रयी का भोग सिद्ध होजाता है ।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सत्तात्व है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दधन है । सत्ताश्रयभाव सत् है, चेतनाश्रय चित्त है, आनन्दाश्रयभाव आनन्द है । विरवातीत विशुद्ध अव्यय के सत्ता-चेतना-आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित रहने वाला विरव-भृत्ति प्रजापति भी सच्चिदानन्दधन है, तदंशभूत जीवात्मा भी सच्चिदानन्द है, ईश्वरंशभूत विश्व भी 'सच्चिदानन्दम्' है । सच्चिदानन्दधन ईश्वर-जीव-विरव इन तीनों के 'सत्ता-चेतना-आनन्द' यह तीन वेद हैं । सुतएँ वेदत्रयी का भी सच्चिदानन्दत्व सिद्ध होजाता है । यही ब्रह्म

है, यही सर्वत्र व्याप्त है, यही सब कुछ है, इसी में सब कुछ है । यह है मौलिकवेद । इन तीनों में आनन्दात्मकवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरञ्जन है । यही सृष्टि का मूलप्रभव है ! यह अनेकजद् है, मनसो जशीयः है, एकम् है । आगे का सारा प्रपञ्च इसी अव्यक्त वेद से उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में, विलीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥



अग्निवेदविवर्त्त

अग्निवेदश्चरुयीवेदः—(मूलवेदः)

- | | | | | |
|-----------------|-------------|-------------|----|-----------|
| १—आत्मवेदः |आनन्दः |आनन्दः | →→ | यजुर्वेदः |
| २—प्रतिष्ठावेदः |सत्ता |सद् | →→ | ऋग्वेदः |
| ३—ज्योतिर्वेदः |चेतना |चित् | →→ | सामवेद |

} अग्निमयो मूलवेदः



- | | | | | | | |
|---|---|------------|-------------------|-------------------|---------|-----------|
| १ | { | उक्थम्—१— | उक्थवेदः | → | ऋग्वेदः | |
| | | मल | —२— | मलवेद | → | यजुर्वेदः |
| | | राम | —३— | रामवेद | → | सामवेद |
| २ | { | ध्या मा—१— | ध्यात्मशृतिवेदः | → | ऋग्वेदः | |
| | | शृति | —२— | असतोशृतिवेद | → | यजुर्वेदः |
| | | विशृति | —३— | सतोशृतिवेद | → | सामवेदः |
| ३ | { | ध्या मा—१— | ज्ञानज्योतिर्वेदः | → | ऋग्वेद | |
| | | मृतानि | —२— | मृतज्योतिर्वेदः | → | यजुर्वेदः |
| | | नामरूपे | —३— | सत्य-ज्योतिर्वेदः | → | सामवेदः |

आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः
 ↓
 यजुर्वेदः १ यजुरग्निः
 ↓
 प्रतिष्ठावेदः—वेदत्रयात्मकः
 ↓
 ऋग्वेदः २ ऋग्ग्निः
 ↓
 ज्योतिर्वेदः—वेदत्रयात्मकः
 सामवेदः ३ सामग्निः

आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिलकर एक वेद है। तीनों का समुचित रूप ही हमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्तान्त्र है, यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तुत्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आश्रमवेद है। अस्ति-भाति-मिथ की समष्टि ही वस्तुत्व है। यही त्रयीवेद है। संसार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, 'अनन्त व्यक्ति हैं, अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटादिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा अस्तित्व रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तित्व प्रतीत होने लगता है। संसार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीगर्भित वेद ही है। वही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साय ही में नामरूपकर्मात्मक मत्प्रमाण भी वही है। क्योंकि मनप्राणवाह्यम अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रभव है। इसी वेदविज्ञान को जड़ में रखकर श्रुति कहती है—

‘स त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति ।
एतद्धि—अमृतम् । यद्धचमृतं तद्धयन्ति । एतद् तत्—यन्मर्त्यम् ।
त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि— प्रतिष्ठितानि ॥’

(शत० १० । ६ । १ । २ ।) इति ।

वेदत्व को प्राजापत्य कहा जाता है। ब्रह्मप्राजापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्राजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से घेरित कर

लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्राजापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर व्याप्त हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्राजापत्यवेद से आप्यायित रहता है । इसी प्राजापत्यवेद का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—“प्रजापतिरिदं ब्रह्म वेदानां संसृजते रसम् ।

तेनाहं विश्वमाप्यासं सर्वान् कामान् दुहां महत् ॥ (ऐ. ब्रा.)”

२—“महाव्रतं कर्म वा, निष्क्रेवल्यं शस्त्रं वा संसृजे,

तेन सर्वफलमाप्नुयाम, सर्वाश्च कामान् सम्पादयेयम् ।”

३—“प्राजापसो वै वेदः” (तै० ब्रा० ३।३।७) ।

४—“प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः” (तै० ब्रा० ३।३।२१) ।

उक्त ब्रह्मप्रजापति अपनी वेदविभूति के कारण वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति, वेद से चतुःसंख्य बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्थिवप्रजापति की संस्थाओं का विचार करिए । पृथिवीस्वरूपसमर्पक सप्तपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि विश्वनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है । भूपिण्ड निर्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सब से पहिले ‘पुष्करपर्ण’ पर दृष्टि जाती है । पुष्करपर्ण इस की पहिली प्रतिष्ठा बनती है । पार्थिवप्रजापति (ब्रह्मा) पुष्करपर्ण पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्थिवसृष्टि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्थिव ब्रह्मा को ‘पद्मभूः’ कमनोद्भवः’ आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इसी आधार पर पद्मपुराणदि में भूपिण्ड को चतुर्दशकमल माना गया है । पानी में वृन्तद्वयात्मक-सूक्ष्मातिमूक्ष्ण हरितरण की जो ‘काई’ है, जो कि काई आगे जाकर शैवाल रूप में परिणत होजाती है, वही ‘पुष्करपर्ण’ है । पुष्करपर्ण का शब्दार्थ है—पानी का पत्रा । आरम्भ में

- मत्स्य की प्रतिष्ठाभूत पद्म का क्या स्वरूप है ? पाद्यशुचनकोश के आदि प्रवर्तक कौन थे ? इत्यादि शिष्यों के आप्यायित्व, आधिदैविक, आधिभौतिक रहस्यों को जानने के लिए शतशत विज्ञान, माध्य देसना आदि ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाशून्य है, ऋतु है । आप इसमें जो भी डालेंगे विलीन होजायगा । सब से पहिली प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । ऋतु-पानी का पहिला सत्त्वरूप पुष्करपर्ण है । सशरीर-सहृदय भाव को ही विज्ञानभाषा में सस कहा जाता है । जबतक पानी में हृदयभाव न था । परन्तु पुष्करपर्णरूप दो घृतवाली काई में पिण्डभाज का उदय होजाने से हृदयभाव प्रकट होजाता है । 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है । इस प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठाभूमि यही पुष्करपर्ण है । पुरभाव में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है । उक्त पर्ण पुरभाव का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुरकरत्वात्' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति (हृदयशक्ति-केन्द्रबल) ही पार्थिवसृष्टि का कारण बनता है । अभी सृष्टिभाव का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है । पानी ही घनताभाव में आकर सकेन्द्र बन गया है । इसी आधार पर-'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।२।२) यह कहा जाना है । आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु है । विष्णुकी नामि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है, पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है, ब्रह्मों पर सब कुछ प्रतिष्ठित है । सब की प्रतिष्ठा होने से जहां ब्रह्मा को प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहां इसकी भी प्रतिष्ठा होने से आपोमय विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है । विष्णु की नामि से पुष्करपर्ण निकला है । उसी पर प्राण-आप-वाक्-मन्त्रान्नादरूप चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । वह आपोमय पानी स्थूल पानी नहीं है, अपि तु अम्भः नाम का वायुमय पानी है । इसी में सन्तरसात्मक दुग्ध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है । प्रतिसंचरक में वायु शेष रहजाता है, वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित हैं । यह वायुमय पानी जिस ऋषि (प्राण) से उत्पन्न होता है, वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है । बर्षावाक् जैसे अनुष्टुप् है, स्वरवाक् जैसे वृहती है, एवमेव ध्वनिवाक् मरुत्वती नाम से प्रसिद्ध है । जैसे पार्थिवसमुद्र 'अर्षाय' कहलाता है, स्वाम्भुवसमुद्र नभस्वान् कहलाता है, एवमेव पारमेष्ठ्य वैष्णव समुद्र 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है । इसी में ध्वनिप्रव-

रिक्त सारस्वतीशक्त प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी ध्वनिशक्त पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाग्-
दमी सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी ध्वनिशक्त समग्र उसी नारदशक्ति (प्राण)
पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभाषा में प्रकट करते हुए पुराणों में कहा है—

“त्वीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुभगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि
में से कमल निकल रहा है। कमल पर शतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान हैं।
यह चारों वेदों से सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मत्क की
और नारद खड़े हुए हैं उनके हाथ में वीणा है” “ “ “ “

प्रकृत में उक्त निदर्शन से हमें यही बतलाना है कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि)
के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही प्रजापति की, किन्तु सारे पार्थिव विश्व
की पहिली प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

यत् पयपयत् सरिरभ्य मध्ये-उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम ।

नत् पुष्करभ्यायतनाद्भि जात पर्णं पृथिव्यायतन इरामि ॥

(तै० ब्रा० १।२।१) इति ।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रदशयु की रूपाता, पानी की मिन्यता के परस्पर के संसृष्टि
सम्बन्ध से उत्तरोत्तर घनमान में परिणत होता हुआ भूषिण्डरूप में परिणत हो जाता है।
प्रजापति के वेद से पानी पदा हुआ, पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही घनावस्था में
आन्तर भूषिण्ड बन गया। इस भूषिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये। यही पृथिवी
वेदमूर्ति प्रजापति के सम्बन्ध से वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप यही यथी
वेद प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि साक्षात् वेद है। अग्निमय यह वेद सत्यमूर्ति है। इस सत्या-
त्मवेदरूप उभय प्रजापति के अर्चरूप प्राणदेवताओं के द्वारा (इसी वेदि पर) यज्ञ होता है।
गेमादृति होने से यही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त वितत हो जाता है। पार्थिव विष्टाग्नि
अभ्याधान है, त्रिवृन्मोषारन्ध्रित पश्मस्या अग्निहोत्र है, पश्चदशस्तोमारन्ध्रित यज्ञस्य

दर्शपूर्णमास है, सप्तदशस्तोमावन्द्भिन्न यज्ञसंस्था चातुर्मास्य एवं पशुबन्ध है, एवं यही ज्यो-
तिष्टोम है। एकविंशस्तोमावन्द्भिन्न यज्ञसंस्था अग्निवज्ञ किंवा चवनयज्ञ है। इस प्रकार स्तोम-
भेद से पार्थिव यज्ञसंस्था उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से यह
प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है,
पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है, एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूलवेद का
वितान है। इसी वितान सम्बन्ध में उक्त पार्थिव यज्ञसंस्था वितानयज्ञ आतानयज्ञ आदि
नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

इदोह यज्ञसिद्धयर्थं-ऋग्-यजुः-सामलक्षणम् ॥ (मनुः १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक प्राजापत्यवेद का स्पष्टीकरण करता है।
इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पिरण्डपृथिवी, एव अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनु-
सार चित्वाग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाग्नि' कहलाता है, एवं चित्तेनिषेयाग्निमयी महापृथिवी पु-
ष्करपर्ण नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए शत० ६।४।१।६)। पिण्डपृथिवी में ह्रन्दीवेद प्रतिष्ठित
है, तत् सम्बन्धी पार्थिवयज्ञ- 'आतानयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड वेदि है, महापृथि-
वी महावेदि है। प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका
है। इदयद्विधत इ-द-यम्-रूप, अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र का नाम ही
प्रजापति है। अग्नि-सोमान्तर वेद हैं। यह अग्नि सोम उस द्वय प्रजापति से अभिन्न हैं। इन्द्र
ही ब्रह्मर्षित होकर अग्नि बनता है, विष्णु ही ब्रह्मर्षित होकर सोम कहलाने लगता है।
अतएव अन्तर्यामी द्वय प्रजापति के अवयवभूत, निश्चस्वरूपसम्प्रादक अग्नीषोमात्मक वेद को हम
अवरय ही प्रजापति के 'श्मश्रु' कहने के लिए तय्यार हैं। इदयभाव का नाम ही सत्य है।
इस सत्य अन्तर्यामी का निरर्तभूत वेद भी अवरयमेव सत्य है। प्रजापति सत्य, इसका वेद
सत्य, वेदमय विश्व सत्य- 'सत्ये सर्व प्रतिष्ठितम्'। यही सत्यवेद यज्ञद्वारा महावेदि के
आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार वह सत्यप्रजापति सत्य (वेद) के द्वारा पानी

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञसगति से युक्त होता हुआ—वेदि—वेद-यज्ञ—प्रजापति वेद से चतुष्कल बनजाता है। इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं।

१—“एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम् ।

तदेतत् स्यत्तरं-हृद-यमिति । तद्वै तदेतदेव तदास ससमेव” (श० ११।८।१।)

२—“ते देवा सर्वे ससमवदन् । तथत् तव सस्य त्रयी सा विद्या ।

ते देवा अववन्-यज्ञं वै कृत्वा ससं तनवापदै” (श० १।५।१।)

३—“त्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवीं त्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः ।

अच्छिद्रं यज्ञमभ्येपि विद्वान् त्वया होता संतनोर्द्धभासान् ॥” (तै० ब्रा० ३।७।१)

४—“अयं वेदः पृथिवीमग्नविन्दन् गुहासतीं गहने गह्वरपु ।

स विन्दतु यजमानाय लोरूपच्छिद्रं यज्ञ भूरिकर्मा करोतु ॥”

(तै० ब्रा० ३।७।६।)

५—“वेदेन वै दद्या अमुराणां वित्त वेद्यमविन्दत ।

तद् वेदस्य वेदस्वय, भूमिरेव वेदिः । सा या उयं सर्वैव वेदिः ”

इत्यादि..... ।

‘सर्वा-एव वेदिः’ इस वाक्य के सर्वशब्द से सर्वभूतप्रपञ्च अभिप्रेत है। इसकी प्राप्ति उसी त्रयीविद्या के उदर में हुई है। तभी तो पूर्वोक्त-त्रय्या वार विद्यायां सर्वाणि भूतान्य-पग्यन्तु’ यह कथन चरितार्थ होना है। यह प्रजापति वेदि-वेद-यज्ञ-इन तीन कलाओं से चतुष्कल बनता हुआ इस महासुम्न के केन्द्र में पृ० अ०-द्यौं स्व्य तीनों सुम्नों का शास्ता बनता हुआ अ-सर्वामी नाम से प्रसिद्ध होरहा है। यह अ-सर्वामी जिस नियति मूलमे

चराचरभावमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेदपदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेदः, न स वेदः, जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतरंग नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वेदि और यज्ञरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्चसित वेदप्रजापति के काम-तप-श्रम से सृष्टेद नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अप्तत्त्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव से त्रयीवेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मूलवेद का ऋक् भाग छन्दोवेद है, इससे मूर्त्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। सामभाग त्रितानवेद है, इससे महिगाभाव की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एवं यजु भाग नसवेद है, यही गतिभाव का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्म-वेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौलिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जाता सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वागतिर्थाजुषी हवै शश्वत् ।

सर्व तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणां हवै सृष्टम् ॥

(तै० आ० ३।१२।१।१-२-३) ।

ऋग्भिः पूर्वाहणे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये ब्रह्मः ।

सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥

(तै० ३।१२।१।१) ।

मनप्राणवाक् के त्रिबुद्भावके कारण उक्त तीनों वेद ऋग्-यजुः-साम मेटसे तीन तीन भागों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अतः प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

- | | |
|---|-------------|
| १-छन्दोवेदः-मूर्तिः.....उक्थम्→→→ऋग्वेदः | } मूलवेदः १ |
| २-रसवेदः-मध्यस्थो वायुमयोऽग्निः...मल्ल →→→यजुर्वेदः | |
| ३-वितानवेदः-गहिममण्डलम्.....साम →→→सामवेदः | |

१-छन्दोवेदः-(ऋक्)

- | | |
|--------------------|---|
| १-विष्कमः-ऋग्वेदः | } तदित्यं ऋग्वेदमये छन्दोवेदे वेदत्रयोपभोगः |
| २-परिणाहः-सामवेदः | |
| ३-हृदयम्-यजुर्वेदः | |

२-वितानवेदः-साम

- | | |
|------------------------------------|--|
| १-पूर्वपूर्वमण्डलम्.....ऋग्वेदः | } तदित्यं साममये वितानवेदे वेदत्रयोपभोगः |
| २-उत्तर-उत्तरमण्डलम्.....सामवेदः | |
| ३-ऋजु (धकुटिला) रेखा.....यजुर्वेदः | |

३-रसवेदः-(यजुः)

- | | |
|--|--|
| १-उत्तरोत्तरं हृदीभवन्तो विष्कम्भाः-ऋग्वेदः | } तदित्यं यजुर्वेदमये रसवेदे वेदत्रयोपभोगः |
| २-उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति मण्डलानि-सामवेदः | |
| ३-तपोत्तराखे प्रतिष्ठितानि वाक्-यजुर्वेदः
प्राणमनांसि | |

इति-त्रयीवेदानिरुक्तिः

• इस विषयका संक्षिप्त विवेचन फरपाण मासिक पत्र के वेदान्त-भङ्ग से वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में निकल चुका है।

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी—अथर्ववेदानिरुक्तिः



दत्रयी का निरूपण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त चौथे अथर्ववेद का स्वरूप बतलाया जाता है। पूर्व के वेदत्रयी प्रकरण से यह मान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदत्रयीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है। सृष्टि अग्नि-सोम के समन्वय पर निर्भर है। कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। एवं संसृष्टि परस्पर में विजातीय योपा वृषामाग पर निर्भर

है। योपा रथि नाम से, वृषा प्राणा नाम से प्रसिद्ध है। इधर ऋक्सामरूप वयोनोष से सीमित वयुरूप यजुर्वेद प्राणामरु बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है। आग्नेय-प्राणप्रधान (ब्रह्माग्निरूप ऋषिप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा असंग है। ऐसी अवस्था में इस असंग वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योपा' नामक संसंग अप्तत्व (रथि) उत्पन्न नहीं होजाता। अतएव सृष्टिकामरु त्रयीमय उस ब्रह्मप्रजापति को सब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। सृष्टिकामना से प्राण लुब्ध होजाता है। प्रत्येक कामना फलसिद्धि पर्यन्त प्राणक्षोभ का कारण बनी रहती है, यह सर्वानुभूत विषय है। वही लुब्ध प्राणाग्नि संवर्ष के कारण अरूप में परिणत होजाता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि अस्त्युत्पत्ति के अनन्तर प्राणाग्नि रहा ही नहीं। यह कार्यकारणभाव ऊर्ध्वान्तु (मकड़ी का जाल) के समान है। मकड़ी अपने एक प्रदेश से जाल बनाती है। वही (आंशिकरूप से) जाल बनती है, परन्तु उस का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप जालोत्पत्ति से पहिले था। इसी को "अभिन्नसत्ताक कार्यकारणभाव" कहा जाता है। यही अवस्था यहां है। वेदप्राण का जो भाग लुब्ध हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष भाग ज्यों का त्यों स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार अशुनाया के प्रभाव से क्षोभ द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। एक ही प्रजापति प्राण-आप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्राणभाग वृषा है, पुरुष है, पति है। अपभाग योपा है, स्त्री है, पत्नी है। इसी दम्पती

के मिथुनभाव से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— “ एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्—पतिश्च पत्नी च ” इत्यादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सृष्टि-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विद्युदृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥१॥ (मनुः १।११।)

तदाविरान्ति भूतानि महान्ति सह कर्षभिः ।

मनश्चावपर्वः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥२॥ (मनुः १।१८।)

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।

सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययादव्ययम् ॥३॥ (मनुः १।१९।)

सर्वेषां तु सनापानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादीं पृथक् संस्थाश्च निर्दिशे ॥४॥ (मनु १।२१।)

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिद्ध्युर्विविधाः प्रजाः ।

अथ एव सप्तर्षीनां तामु धीजमवावृजत् ॥५॥ (मनुः १।८।)

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्देन पुरुषोऽभवत् ।

अर्देन नारी तस्यां म विरानमवृजत् मनुः ॥ ६ ॥ (मनुः १।३३।)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार पौरुषात्मा के मिथुन से सर्वप्रथम विद्युत् पुरुष उत्पन्न होता है, दूसरे शब्दों में वह स्वयं ही इस मिथुनभाव से त्रिराटरूप बन जाता है। इस त्रिराट् या त्रिरूप आगे जाकर स्पष्ट होगा, पहिले ध्यानरत का विचार करिए।

मूलशब्द के अक्षर-माप-यजु यह तीन विरक्त बलक्षण हैं। इन तीनों को क्रमशः महदुत्प-परात्प-पुरुष इन नामों में व्यञ्जित किया जाता है। उदाहरण के लिए सूर्यपिण्ड (सूर्य-पिण्ड) महदुत्प है, मौसमशास्त्रमण्डल (रश्मिमण्डल) परात्प है, सूर्यपिण्ड में रहनेवाला स्थिति-संज्ञक रश्मिप्रवाह प्राणाग्नि पुण्ड्र है। तभी को 'द्विरश्वमथपुण्य' 'द्विरश्वमथपुण्य' 'वानुषा-

पुरुष' 'आदित्यस्य परं भाः' इत्यादि नामों से व्याहृत किया जाता है, यही मौलिकतरव है। ऋक् साम इस यजुपुरुष का प्रतिष्ठा है। इसी त्रयीविद्या का निरूपण करती हुई वाग्निश्रुति कहती है—

यदेतन्मण्डलं तपति—तन्मदुश्चप, ता ऋचः, स ऋचां लोकः।

अथ यदेतदर्चिर्दीभ्यते, तन्मदाव्रतम्। तानि सामानि, स साम्नां लोकः।

अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूपि। स यजुषां लोकः।

सैषा त्रप्येव विद्या तपति" (शत. १०।३।२।१-२)।

ऋक्साम वयोनाथ है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का विभक्तम् (व्यास) ऋक् है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिणाह) साम है। व्यास को त्रिगुणित करदेमें से वस्तु का घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से त्रिगुना होता है, इसी आधार पर साम का 'त्रिचं माम'। तीन ऋक् का एक साम—तीन व्यासों का एक परिणाह) यह लक्षण किया जाता है। इस व्यास और परिणाह से देखित वस्तुतरव यजु है। जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहना है, एवमेव यजु (वस्तुतरव) ऋक्साम रूप व्यास और परिणाह में अन्तर्मुक्त रहता है। इस मुक्तिनाथ को लक्ष्य में स्वरूप हो यजु को वय (अन्न) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जैसा कि प्राचीनों में वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नधर्म की समता के कारण ही यजु को वय कहा जाता है। अथि च जिस प्रकार पञ्जर (पींजरा) में रहने वाला पक्षी पञ्जर से निकल कर आकाश में इधर उधर संचरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पञ्जर में प्रतिष्ठित रहने वाला गतिमूर्ति यजु विद्वानभाव से स्वमहिमामण्डल में विचरण किया करता है, इस पक्षिरूप साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहा गया है। इस वय को बंधन में रखने वाले, सीमित रखने वाले आश्रयनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाथ' (वय का बंधन करने वाले) कहा जाता है। वयोनाथ और वय की समष्टि 'यजुन' नाम से व्यवहृत होती है। अथर्व वेद यजुन

है। वयुन में वय-वयोनाथ दो विभाग हैं, वय यज्ञ है, वयोनाथ ऋक्साम है, ऋक्साम यज्ञ में श्रोतप्रोत रहते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“ते यदा स्तुवते. यदानुशंसति, अथास्मिन्नेत वपद्रुकृते जुहोति । तदेनमेव रसोऽप्येति । न वै महाव्रतमिदं स्तुतं शेते, इति पश्यन्ति । नो महदुवथमिति । अग्निमेव पश्यन्ति । आत्मा ह्यग्निः । तदेनमेतेऽजमे रसो भूत्वापीत ऋक्च साम च । तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः” (शत० १०।१।१।६।) इति ।

इस से यह सिद्ध होजाता है कि केवल व्याप्तनरूप ऋक्साम सृष्टि करने में असमर्थ हैं। ऋक्सामरूप व्यास परिखाह से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। व्यास मन्थरेखा है, परिखाह चारों ओर की रेखा है। यही रेखात्मक किंवा लेखात्मक एक पुर (सीमामात्र) है। इस पुर में प्रतिष्ठित यजुरग्नि ‘पुरि शेते’ के अनुसार पुरुष है, यही सृष्टिकर्ता है। नपुंसक ऋक् साम सहकारी मात्र हैं। ऋक्सामरूप छन्द से छन्दित यज्ञपुरुष ‘द्विव्रह्म’ है। यत्-ओर जू दो ब्रह्मों की समष्टि यज्ञ है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। यत् भाग वायु (प्राण) है, जू भाग वाक् (आकाश) है। इस यत्-रूप प्राणवायु के व्यापार से जू-रूप मन्थरेखाक भाग ही छुन्ध हो कर अर्धरूप में परिणत होता है, जैसा कि ‘सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत’ (शत. ६।१।१।७।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। वाग्नि छुन्ध होकर पानी बन जाता है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि श्रोत्र से अथवा वेगान्तर से शरीरप्राणाग्नि छुन्ध हो जाता है तो उसी समय पसीने निकल पड़ते हैं।

शरीर में अस्तुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। परिश्रम करने से पानी उत्पन्न होजाता है। शोक से पानी उत्पन्न होता है, एवं प्रेम से पानी उत्पन्न होता है। परिश्रमजनित पानी ‘श्वेद’ कहलाता है, शोक दोनों शोकात्थु मेमाश्रु माम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों पानियों के अतिरिक्त एक चौथा एवाभारिक पानी निरन्तर रोमकूपों से निवृत्ता करता है। मूत्र-मुजलासा-कफ-कि

आदि में जो अर्द्रता है वह यहाँ स्वाभाविक पानी है। इस प्रकार अथात्मसंस्था में अच्युत्पत्ति की चार धारें हैं। 'अग्नेरापः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन चारों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। कार्यरूप अर्चु के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के कारणान्तर में भी अन्तर ही अन्तर होगा। प्रसंगोपात्त वह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्निस्वरूप सत्य और यज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है। सत्याग्नि मौलिक अग्नि है, यज्ञाग्नि यौगिक अग्नि है। विद्युद्भावस्था सत्याग्नि है, मिश्रावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चित्तेनिधेयाग्नि है, यज्ञाग्नि चित्याग्नि है। 'अर्द्धं ह वै आस्त्रनो मर्त्यमासीद्ब्रह्ममृत्तमृ' यह प्रसिद्ध है। मौलिक अग्नि ब्रह्म (Physics) है, मिश्राग्नि यज्ञ (Chemistry) है। ब्रह्म ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है—'ब्रह्म ह वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यज्ञाग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'पशं कृत्वा सन्धं तनवापहै' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का बितान होता है। इस वेदाग्नि की आगे जाकर तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विकासभूमि है, सूर्य दूसरी विकासभूमि है, भूपिण्ड तीसरी विकासभूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर भिन्न भिन्न नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विवर्तों के कारण सत्यमात्र 'त्रिसत्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्माक्षर के सम्बन्ध से 'ब्रह्माग्नि' कहलाता है, सूर्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से, एवं भूपिण्ड में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूनाग्नि' कहलाता है। प्रकृत्यपेक्षया स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'प्राणाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सूर्य वाह्यमय है, अतएव देवाग्नि को 'वाग्नि' कहा जाता है। वैश्वदेव की प्रवृत्ति इसी से होती है, अतएव इसे याज्ञिक परिभाषानुसार 'वैधाग्नि' भी कहा जाता है। भूपिण्ड अन्नादमय है, अतएव भूताग्नि को 'अन्नादाग्नि' कहा जाता है। भूपिण्ड में ही पञ्चशुक्राणों का विकास होता है, अतएव तत्सम्बन्ध से इसे

‘पापुस्तमि’ भी कहा जाता है। स्वायम्भुव अग्नि मूलनिश्चित वेद है, सौर अग्नि गायत्री-नात्रिक वेद है, पार्थिव अग्नि सत्यवेद किंवा यज्ञनात्रिकवेद है। इस प्रकार एक ही वेदाग्नि किंवा सत्याग्नि तीन भागों में विभक्त हो रहा है। दूसरा है यज्ञाग्नि। इस का विकास अन्नादाग्नि नाम के पार्थिव सत्याग्नि से होता है। पार्थिव सत्याग्नि तरलवित्त होकर अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन अस्थानों में परिकृत हो जाता है। अन्नदाग्नि अग्नि प्रधान है, अन्नादवायु व्यान-प्रधान है, अन्नाद आदित्य प्राणप्रधान है। मन्वस्य व्यानाग्नि के आधार पर अग्नि-प्राणाग्नि का घर्षण होता है। यह घर्षण तीनों का यजन है यही यज्ञ है। इस से वैश्वानर नाम के यज्ञाग्नि का प्रादुर्भाव होता है। अन्नादाग्नि को हमने पार्थिव बतलाया है। इस की मूल श्रोत्र तल मेद से दो अस्थान हैं। मूल अन्नादाग्नि भूषिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इन अग्निसस का ऊर्ध्व गनन होना है। यही अग्निसस किंवा सत्याग्नि पृथिवी के २१ स्तोक तक व्यस हो कर यन-तरल-विरल इन तीन अस्थानों में परिणत होना हुआ अग्नि-वायु-आदित्य फलाने लगता है। स्वयं पृथिवी में स्तोत्रपैलोरथ किंवा तीन विध हैं। इन तीनों के नर (नायक) यही अग्नि-वायु-आदित्य हैं। उक्त यज्ञाग्नि इन तंत्रों विघ्ननों के घर्षण से उत्पन्न होता है, अतः इसे ‘वैश्वानर’ कहना न्यायगत है। इस प्रकार एक ही अग्नि की अमृत-मृत्यु मेद से दो अस्थान, अमृताग्नि की तंत्र अस्थानों की अघेदा से चार अस्थान हो जाती हैं, जैसा कि—“चतुर्दा विहितो ह वा अग्नेऽग्निरास” (शत= १।१। १। १) इत्यदि से स्पष्ट है।

१-सत्याग्निः (अमृताग्निः)-अग्नि
 २-यज्ञाग्निः (अर्थाग्निः)-विघ्नम् } आर्यवर्षी-प्रजापतिः

१-अन्न भिनः-प्राण भिनः-प्राणनाग्निः → स्वायम्भुव-अन्ननिश्चितवेदः
 २-देव भिनः-वायु भिनः-वैश्वानरः → सौरः-गायत्रीनात्रिकवेदः
 ३-भूनाग्निः-अन्नादाग्निः-पापुस्तमि, → पार्थिवः-यज्ञनात्रिकवेदः } सत्याग्निः
 ४-देवानाग्निः-पशु भिनः-सृष्टाग्निः-निघाग्निः-विघ्नवेदः } यज्ञाग्निः

इन चारों अग्निषों के कार्य सर्वथा नियत हैं। विधेरण और प्रतिष्ठा यह दो काम स्वाम्भुव ब्रह्माग्नि के हैं। धरपुरमाण्डुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना विधेरण है, पदार्थ को संघटित रखना विधेरण है। यह काम प्राणरूप ब्रह्माग्नि का है, अतएव प्राण को विधेरण कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का ठहराव होता है। पाषाणादि में यह ठहराव अधिक है। दलादि (हृई-हवा आदि) में ठहराव कम है। विद्युत् में और भी कम है। पदार्थों में ताप-तन्म्य से रहने वाला यह ठहराव ही प्रतिष्ठात्व है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है। प्रतिष्ठा और विधेरण ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं। दूसरा है देवाग्नि। रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं। पुष्पकलिका आगे जाकर विकसित होती है, खिल जाती है, स्वल्प मनुष्य का चेहरा खिला रहता है। वस्तुभाव का यह प्रसादभाव ही विकास है, इसका प्रवर्तक इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है। सारी प्रजा सूर्योदय से विकसित होजाती है। रात्रि के तम से संकुचित पदार्थ सौर प्रकाश से खिल पड़ते हैं। सौर-इन्द्रमय अग्नि ही 'रूपं रूपं भववा घोमवीति' के अनुसार सप्तरूप कि वा अनन्तरूपों (रंगों) का अधिष्ठाता है। अतएव सूर्य को 'पूरिण' कहा जाता है। रूप और विकास देवाग्नि के साक्षात् धर्म हैं। तीसरा है पार्थिव भूताग्नि। पाक और विलयन इसके स्वाम्भोविक धर्म हैं। दस प्रकार के सौमों में एक सौम 'वृष' नाम से प्रसिद्ध है। इस वृष सौम की घन-तरल-विरल-गुण मेद से चार अवस्थाएँ हैं। यही चारों अवस्थाएँ विज्ञानभाषा में क्रमशः ध्रुव-धर्म-ध्रुव-धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें ध्रुवसौम अश्मासौम कहलाता है। पाषाणादि घन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अश्मासौम से होती है। तरलसौम तरलता का अर्थक है। पानी-घृत-आदि में इसी की प्रधानता है। वायु-प्राण-आदि में विरल सौम की प्रधानता है। आत्मा में गुणसौम प्रतिष्ठित रहता है। अश्मासौमप्रधान अन्नादाग्नि पदार्थों का परिपाक करता है, तरलसौममय वही अग्नि पदार्थों को पिघला देता है। कर्पूर अग्नि की पाका-वस्था है, पिघला हुआ कर्पूर अग्नि की विलयनावस्था है। अग्नि ही संवात करती है, अग्नि ही विलयन करता है, जैसा कि 'अपां संघातो विलयनं च तेजः-संयोगात् (वे० ६०) से स्पष्ट

है। यह दोनों धर्म अन्नादाग्नि के हैं। चौथा है मिश्र, वस्थापन यज्ञाग्नि नाम का वैश्वानराग्नि। ताप और दाह, यह दो इसके स्वाभाविक धर्म हैं। गरमी मालुम होना—वस्तु को जला टाटना दोनों काम वैश्वानर के हैं। हम शरीर को जहां से छूते हैं गरम पाते हैं। यह वैश्वानर के साक्षात् दर्शन हैं। पूर्वोक्त तीन सत्याग्नि में न ताप है, न दाह है। मौलिक अग्नि में ताप—दाह का नितांत अभाव है। ताप और दाह धर्मरहित है। संघर्ष से ही ताप उत्पन्न होता है, संघर्ष से ही दाह होता है। सत्याग्नि निराकार है। उसमें संघर्ष कयमपि संभव नहीं है। संघर्ष होता है पार्थिव दलाग्नि में। इसी से ताप दाहसह्य वैश्वानर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन धर्मों से युक्त चारों अग्नि विश्व का स्वरूप संसादन कर रहे हैं।

अग्निः—प्रजापतिः

१-विपरणम्	} अदाग्निः स्वायम्भुवः	} सत्याग्निः (अमृतग्निः)
२-प्रतिष्ठा		
१-विकासः	} देवाग्निः—सौरः	
२-रूपम्		
१-पाकः	} भूताग्निः—पार्थिवः	
२-मिथयनम्		
१-तापः	} यज्ञाग्निः—वैश्वानरः	} यज्ञाग्निः (मर्याग्निः)
२-दाहः		

यद्ये व वै प्रजापतेराख्यतो मर्यामासीदऋषभमुत्तम

इन चारों अग्निर्षो से चार प्रकार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है । कारण पानी उत्पन्न करना अग्नि का स्वाभारिकर्म है । स्वाभ्यमुव ब्रह्माग्नि से पारमेष्ठ्य अम्भ नाम का पानी उत्पन्न होता है । यही पवित्रतम पानी भागीरथी का स्वरूपसमर्पक बनता है । सौर देवाग्नि से मरीचि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है । यही दिव्यपानी मनुना जल का स्वरूप समर्पक बनता है । पार्थिव भूनाग्नि से मरु नाम का पानी उत्पन्न होता है, एवं आन्तरिक्ष चान्द्र प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है । इ ह्ये चारों का स्वरूप बतलाने हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नायव किञ्चन विपत् । स ईक्षत-लोकान्नु
सृजा इति स इषोऽल्लोकानसजन- अम्भो मरीचिर्मरुणपः षदोऽम्भः परेण
दिवं द्यौः प्रतिष्ठा । अन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरुः । या अधस्तात्ता प्रापः
(श्रद्धा वा प्रापः)” (ऐ० उ० १ खं० १-२-) इति ।

यह है आधिदैविक जगत् की निपत्ति । “यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह ” के अनुसार उक्त चारों अग्निर्षु हमारे शरीर में भी प्रतिष्ठित हैं । एवं यहाँ भी इन चारों से चारों पानी उत्पन्न होते हैं । किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करने लगता है तो इस से स्वाभ्यमुव प्राणाग्नि जुम्भ हो पड़ता है । प्रतिष्ठाभाव शिथिल होने लगता है । अतएव परिश्रम के अन्तर पतान मालुम होने लगती है । प्राणाग्नि के विपरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के हास ही पता नाम यवान है । इस परिश्रम से सबसे पहिले ललाट पर पसीने आते हैं, जैसा कि अमुपद में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में बतलाया जाने वाला है । अत्यधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीने चूने लगते हैं । प्राणाग्नि के तप से पसीने निकलते हैं, यही कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है । इसी आधार पर लोक में “अमुकनें अमुक कार्य के लिए पसीना बहाया है”-अभी ! पसीने की कपाई है । ऐसी किन्दन्तिएं प्रचलित हैं । शिरोगुहा स्वाभ्यमुवी है । अतएव तदप्रतिष्ठ प्राणाग्नि के शोभ से सर्वप्रथम ललाट में ही पसीने आते हैं ।

यदि मनुष्य प्रेमविभोर होजाता है तो आत्मा निकल पड़ते हैं । इन्ही को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है । प्रेमाश्रु से आत्मा में एक प्रकार का शान्ति का उदय होता है । यह सौमित्रि की कृपा है । सौमित्रि बुद्धि का अनुमाहक है । बुद्धि और मन साथ रहते हैं । बौद्धसौर अश्रुके वर्णन से मन पर आघात होता है । मन पिघल पड़ता है । यही मनोरोग अश्रुरूप में परिणत होकर आँसों से बहर निकल पड़ता है । प्रेम कैसा—दिव्य, पवित्र, सात्त्विक । मनप्रधान प्रेम जहाँ दुःख का कारण है, वहाँ बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है । लौकिक विरथप्रेम दुःख का प्रवर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीमरा है पार्थिव भूताग्नि, कि वा पाशुगाग्नि । यही पशुगति रुद्र है । यह अर्पशक्ति के अधिष्ठाता हैं, भूतगति हैं । रूसाना इनका क्वाभाविकर्म है, मतएव—'सोऽरोदीव तदूरुद्रस्य रुद्र वय' के अनुसार रोदनर्म के अधिष्ठाता यह पार्थिव भूताग्नि रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं अवेजात में (सांसारिक विषयों में) अत्यधिक आभक्ति रखने से मोह का उदय होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सौराग्नि) को निर्बल बनता हुआ मन को सबल बनाता हुआ सजातीय सम्बन्ध से अर्पशक्ति प्रवर्तक पार्थिव भूताग्नि का अनुमाहक बनता हुआ पार्थिवअग्नि को लुब्ध कर डालना है । इस क्षोभ से जो रोद पानी उत्पन्न होता है, वही शोकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रहजाता है तो वैचिल्य (पागलपन) राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं । दुःख के आत्यन्तिक वेग से यही रुद्र संहार के कारण बनजाते हैं । जिसे रोना आता हो, उसे जीभर के रोलेना चाहिये । खूब अश्रुपात करने च हिएं । इससे शरीर हलका होजाता है । जो मनुष्य इन आसुओं को पी जाते हैं—वे मरणरोगी बन जाते हैं । चौपा वैद्वानराग्नि है । मृत्तादि की उत्पत्ति इसी अग्निसे होती है ।

उक्त अग्निवर्षा से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । क्षीभ के अन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं—यद टंडा है । वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है, अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी आग) कहा जाता है । प्रकाशान्तर से विचार करिए । परिश्रम—प्रेम—शोक मेद से 'अस्थामसंस्था में शीत ही मरण के पानी प्रधानरूप से उत्पन्न होते हैं । सत्वाटवेद परिश्रमजन्य है । इसका

प्रभव स्वायम्भुव अग्नि है। शरीर में मूलाधार से नाभि पर्यन्त पृथिवीलोक है, यही वरिहगुहा है। हृदय पर्यन्त अन्नरित्तलोक है, यही उदरगुहा है। हृदय से कण्ठ पर्यन्त द्युलोक है, यही उरोगुहा है, यही सूर्यलोक है। मस्तक चौथा पारमेष्ठ्यलोक है, यही शिरोगुहा है, यही स्वयम्भू भगवान् प्रतिष्ठित हैं। इसी ब्रह्मप्रजापति की सत्ता से केशान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। परिश्रम से इनके वाक् भाग पर आघात होता है, पानी उत्पन्न होना है। इसी का नाम पसीना है। इसी को हमने 'अन्मः' कहा है।

सूर्य देवाग्निमय बतलाया गया है। इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं। ग्रहप्रकरण में चन्द्रमा 'मन्थी' ग्रह नाम से, सूर्य शुक्रग्रह नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमानन्द में एवं शोक में दोनों में अग्नि शुब्ध होता है। इस से मन विवक्षित जाता है। यद्यपि मनोरस सभी इन्द्रियों से निकलता है, परन्तु इसका प्रधान विनिर्गम स्थान चक्षु ही है। अतएव चक्षुष्य बिन्दुको मानस (लोकभ्यास में 'नाशुष्या' नाम से प्रसिद्ध) कहा जाता है। अतएव दोनों पानी मन के द्वारा चक्षु से ही बाहर निकलते हैं। मन चान्द्र है। चन्द्रमा सोम रसमय है, अर्धमूर्ति है। यदि पवित्र सोम अग्नि का इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन टूट जाता है। इस टूटि में प्रेमका उद्रेक है। अतएव इसे 'प्रमत्स' कहा जाता है। इस रसका प्रसङ्ग कुल पांच भागों में विभक्त है। वे पांचों रसना-वस्थाएं श्रद्धा-वास-वर्ष-स्नेह-काष्-रति इन नामों से प्रसिद्ध हैं। हमारा मनोरस यदि गुरु-पिता-माना-व्येष्टभ्राता विद्वान्-तपस्वी-आदि पूज्यों की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक-अव-प्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है। यदि हमारा मन पुत्र-सेवर-आदि छोड़ों की ओर जाता है तो यह अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वास्तव्य कहलाता है। इन दोनों में एक का आसन ऊंचा है, एक का नीचा है। श्रद्धा में प्रेम करने वाला अर्धवक्ष्या में है, श्रिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उच्चवक्ष्या में हैं। वास्तव्य में प्रेम करने वाला टच्चवक्ष्या में है, जिन के के साथ प्रेम किया जाता है, वे अर्धवक्ष्या में हैं। दो अद्विजिनों का पारस्य-रिक्त प्रेम 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रेम 'समानप्रतियोगिक समानानुयोगिक' है। यहां दोनों समान हैं। श्रद्धा-वास्वरूप-स्नेह तीनों प्रेमों में प्रेम करने वाले भी चेतन हैं, एवं

जिन के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं । परन्तु पुस्तक-भक्तान-दितादि अन्य स्थावर संपत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है, उसमें केवल 'धाम' का विकास है । जड़वस्तु के साथ प्रेम करना ही काम है । उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश हो जाता है तो- 'रति' नाम के अपूर्वभार का उदय होता है । रतिप्रेम के अधिकारी विश्व में केवल दो ही हैं । श्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम घटित होता है । श्री को हम घर की अष्टिप्राप्ती समझते हैं । गृहलक्ष्मी को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं साथ ही में पुत्रादिवत् श्रीर हमारा वात्सल्यभाव भी रहता है । श्री एक सम्मिर की भाँति उचित परामर्श देने वाली जीवनसङ्गिनी है । सर्वथा जड़ श्री के केशपाश, नासिका, भोंह, कपोल वेशभूषा-नूपुरभूषि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमाकर्षण है, वह कामरूप है । यही रति है । जब तक यह रति श्री के साथ है, तब तक संसार है, बंधन है । यही रति यदि ईश्वर के साथ होजाती है, जोकि रति भक्तसंप्रदाय में 'प्रेमाभक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है । बंधन मुक्ति का वही रहस्य है । अनादरुद्राग्नि के आघात से जो पानी निकलता है, वही शोकाश्रु है । प्रवृत्तिमण्डल में इसी रुद्राग्निजन्य पानी से रजत (चाँदी) का निर्माण होता है । चाँदीरत्न के आभूषणों से कनी है । इसी लिए- 'वर्हि-पि रजत न देयम्' यह आदेश है । वर्हि में यदि यजमान रजत दक्षिणा दे देगा तो, एक वर्ष के भीतर भीतर यह महाप्रयाण कर जायगा । इसी लिए रजतदक्षिणा का निषेध किया गया है । इस प्रकार अनेक दृष्टियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जासकता है ।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा । अब चलिए प्रकृत विषय की ओर । अभी केवल वेद-मूर्ति स्थायन्मुख प्राणमय यशुग्नि का साम्राज्य है । अग्नि ऋजुःपन्था है । इसका प्रदेश नियत है । इस यशु के वाक् भाग से जो तत्व उत्पन्न हुआ वह ऋजु न रहा, अपितु व्याप्त होगया । पानी की बुद्द आप जहाँ भी डालेंगे, वह नियत प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी । इसी आपत्ति, किंवा व्याप्तिधर्म से यह उत्पन्न तत्व 'आप' नाम से व्यवहृत हुआ है । वेदत्रयी के वाक्भाग से उत्पन्न इस 'आप' किंवा 'अप्' तत्व में जाया-धारा-आप-जीवन-मृत वेद से पाँच प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं । इन सबकी आवासभूमि महामाया नाम का बलकोश

है, जैसा कि पूर्व की परास्परनिरुक्ति में बतल या जाचका है । इन पांचों बलों की उत्पत्ति में आत्मेश्वा ही प्रधान कारण है । 'उसे ऐसी इच्छा ही क्यों हुई, ? यह अनतिप्ररन है । हम भोजन क्यों करते हैं ? इसका उत्तर है—हमें भोजन की इच्छा होती है इसलिए । पर तु-भोजन की इच्छा क्यों हुई ? इस प्ररन का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं । अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पीछा छुड़ालिया जाता है । जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या कहा जासकता है । ईश्वरत्वन अनुमान सिद्ध है । क्रिया से (बहिर्वर्त्या से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्व्यापार-वक्ष-कृति) के बाह्यव्यापार नहीं होसकता । प्राणव्यापार बिना इच्छा के संभव नहीं है । सम्पूर्ण विश्व क्रियामय है । इसका संचालन प्राण से होरहा है । प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है । सांय ही में यह सय निर्माण हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिनिर्माण में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है । वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना डालता है । तभी तो ईशावास्पमिद्रं सर्वम्' इस वाक्य को यथावत् चरितार्थ होने का अरसर मिलता है । पूर्वोक्त जायादि पांचों बलों का आधारभूत आप उसी की इच्छा से उत्पन्न हुआ । वेद प्रजापति, किंवा वेदावच्छिन्न षोडशी प्रजापति कामना द्वारा अपने वेद के वाक् भाग से सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है । पानी उत्पन्न कर 'अस्या विश्वया सहापः प्राविशत्' (शत० ६।१।१।२।) के अनुसार उत्पन्न आपो-मण्डल के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है । इससे मण्डल (मण्डल) का उदय होजाता है—'ततो धारादं समवर्चत' । इस प्रकार अप्रविष्ट प्रजापति आपो की सृष्टि कामना से प्रेरित होकर सृष्टेषुपयोगिनी 'मै इन पानियों से संसार को अपने ऊपर धारण करूँ' यह कामना करता है । उसी क्षण सत्यकाम सत्यसंवरूप प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का घृतिबल (प्रतिष्ठा बल) उत्पन्न होजाता है । यही प्रतिष्ठाबल गोपयादि श्रुतियों में 'धारा-बल' नाम से ब्यवहृत हुआ है । वास्तव में सातो लोकों को पानी ही धारण कर रखा है । लोक सचकी प्रतिष्ठा है, लोक की प्रतिष्ठा आप है । आप् पुराज्व ही तो सोमसृष्टि का अधिष्ठाता है—'सर्वमप्यु प्रतिष्ठितम्' ।

धारावत् को उत्पन्न करने के अनन्तर—'यै इमं पानियों से सब कुछ उत्पन्न करे' इति इच्छा का उदय होता है । इस इच्छा से पानी में प्रजनन रहित आजाती है । सन्मुख संसार एवं संसार में रहने वाले पदार्थमात्र की उत्पत्ति पानी से ही होता है । शुक्रतत्त्व उत्पत्ति का कारण है । शुक्र पानी का ही रूपान्ता है । फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अय-द्विरस्य सब पानी से बने हैं । पानी शोषाधि बना है, शोषाधि शुक्र बना है । इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोत्पादन भी पानी ही है, जैसा कि—इन्द्रोम्य की 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि पश्चात्तद्विद्या में स्पष्ट है । यह दूसरा दल ही विश्व एवं विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण है, अन्तर 'जायते अस्यां' इस विवेचन से इस दल को 'जायादल' कहा जाता है । विशुद्ध जायादल तत्त्वक सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि वह अग्निरूप पुरुषदल को अपने में प्रतिष्ठित न करले । जायारूप शुक्रमय पानी मानगिष्वा की प्रेरणा से उस अग्निवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है । ऐसा अग्निसंनिभ जाया पानी ही प्रजननधर्म है । स्री स्वयं जाया है, सोम्या है । सोममय जायादल ही स्री का उत्पादन कारण है । अग्नि पुरुष है । वही इस जायाभाव से वेष्टित गर्भगत शोणित है । स्री का (गर्भाशयगत) शोणित साक्षात् अग्नि है । यह जायाभाव से त्रिष्व वेष्टित है । अय पुरुष के शुक्र को लोजिये । शुक्र सोमरूप जाया है । शुक्र में रहने वाली गर्भी पुरुष है । स्रीवत् पुरुष भी जाया है । शोषपात्रिक आत्मा सर्वप्रथम पुरुषशरीरस्य शुक्रावच्छिन्न इसी जाया में गर्भधारण करता है । यही प्राणी का प्रथमजन्म कह-सकता है । पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर का शुक्र पुरुषकार को अरुणा आवृतत बनाकर ही शोणित में आवृत होता है । शरीर के जिस प्रदेश का शुक्र आवृत नहीं होता, उत्पन्न प्रजा में उसी अङ्ग को कम रक्षित जाती है । शुक्र का माता के गर्भाशय में प्राणी का प्रतिष्ठित होना इस का द्वारा जन्म है । १० मास के अनन्तर पर्याप्तकाल के प्रसवकाल से गर्भ का भूमिस्थ हो जाना इस का भीतर जन्म है । श्रीतत्त्व संसारों से निर्भूततात्प्रा बन जाना चौथा जन्म है । 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार इस चतुर्थ जन्म में प्राणी सर्वत्र भावको प्राप्त होता है । स्री रक्षक को सदा में रक्षक मर्त्य महीशत करतो है —

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्यो—

ऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं विभर्ति” (ऐ. ब्रा. २।५।१।)

जायाबलोत्पत्ति के अनन्तर 'मैं इन पानियों से उत्पन्न विश्व में एवं पजा में अक्षरूप से व्याप्त होजाऊँ' यह इच्छा होती है । इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही पानी में आप्तिवन्न उत्पन्न होजाता है । पानी की अप्-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हैं । फैलना इस अप्प्रयी का स्वाभाविक धर्म है । संसार के इतर पदार्थों को आप जिस नियत प्रदेश में रख देंगे, वे उस स्थान से आगे नहीं बढ़सकेंगे । परन्तु पानी-हवा-सोम में यह बात नहीं है । एक बिन्दुमात्र पानी भी जहां गिरेगा वहां से आगे फैल जायगा प्रजापति किस रूप से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं? इसका उत्तर यही पानी है । अक्षरूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं, अप् से ही सब का संवरण कर रक्खा है । अतएव 'सर्वमाप्नोत तस्मादापः' "यदृष्टयोत् तस्माद् वाः" (शत० ६।१।१।७।) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को- आप्-वारि इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अप्तत्त्व की उग (रम) स्थिर नहीं है, बहती हुई है, अतएव व्याप्तिलक्षण है । इसरस का प्रसरण ही व्याप्ति में प्रधान कारण है । अतएव पानी को 'सगित्-इरा यस्य' के अनुसार 'सरिर' कहा जाता है । सरित् ही सलिल नाम से प्रसिद्ध है । यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकरूप में परिणत होकर द्रुतभाव को छोड़देता है, उस समय यह सरिर नहीं रहता । परन्तु लोकरूप के पहिले तो यह सरिर ही रहता है । अप् की इसी पूर्ववस्था को लक्ष्य में रखकर—'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत. ११।१।६।१) यह कहा जाता है । 'कस्मिं देवाय हविषा विधेम' (यजुः सं० १३।४) के अनुसार वेदमूर्ति अव्यक्त, अतएव अनिरुक्त नाम से प्रसिद्ध प्रजापति 'क' नाम से व्यवहृत होता है । यह क (अनिरुक्त) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे शब्दों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किंवा निरुक्त बनता हुआ 'मलम्' संपत्ति से युक्त हो जाता है । क-प्रजापति की कामना को 'मलम्' बनाने वाला यही पानी है । अतएव "कं (अनिरुक्तमजापतिं) मजं (सर्वभावयुक्त) करोति" इस व्युत्पत्ति से पानी को 'कमल' कहा जाता

है। उधर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलपत्र ही पुष्करपर्ण है, जैसा कि त्रयीवेद-निरुक्ति में बतलाया जा चुका है। यह भी आपोमय है। यही वेदमय अनिरुक्त प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अतः इसे भी 'कं—भलं करोति' से कमल कहना अन्वयं बन जाता है। लोकसृष्टि का अधिष्ठाता पानी ही है। लोकः तु भुवने जने' के अनुसार लोक का ही नाम भुवन है। पानी ही लोक है, अतएव पानी को 'भुवन' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आसिलक्षण तीसरा 'आपोवन्' उत्पन्न होता है।

आपोवल के अनन्तर—'मै इन पानियों से जीवन का संचार करूँ—रदार्थों में जीवनीय शक्ति डालूँ' इस इच्छा से पानी में चौथा जीवनबल उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वस्वरूप में जो स्थिति है, वही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिविद्युति का नाम ही मृत्यु है। टहरी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है, वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठात्रल के उच्छिन्न हो जाने से जिस समय गतिबल उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य होजाता है। इस मृत्युभाव को रोकने वाला यही आप्यप्राणरूप वायु है। यह कल्प्याणकर है, आपोमय प्राण ही कल्प्याण (जीवन) का अधिष्ठाता बनता हुआ आपोमय होने से 'साम्यसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रस है। इसी के लिये 'पो वः शिवतमो रसस्तम्य भाजयते इ नः' (यजुः सं. ११। ५१) यह कहा जाता है। हम प्राण को जीवनसत्ता का कारण समझते हैं। परन्तु वास्तव में अमृतत्व का जीवनीयरस ही जीवन का देतु है। जब तक प्राण में यह रस रहता है, तभी तक जीवन है। मनुष्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन धारण करना अशक्य है। मन के मरवाने से मृत्यु नहीं होती, प्राण निकलने से मृत्यु होती है। इस प्राण का रक्षक पपी आप्यरस है। 'प्राणाग्रय र्वनस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्र. उ. ४। २) के अनुसार यह अमृतमय प्राणाग्नि सतत जागृत रहता है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति डालने वाला आपोवन् ही 'जीवनवन्' नाम से प्रसिद्ध है।

पांचवां ऋतबल है। इसी ऋतबल को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। आपो वै परिश्रितः' (शत. २।४।३।२) के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस ऋतबल से आक्रान्त रहते हैं। ऋत के उदर में मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ऋतबल का मुख्य काम है। वस्तुपिण्ड सत्य है। वह ऋत से विरा रहता है। इनमें पिण्ड के भी प्रत्येक परमाणु ऋतरूप हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा ऋत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'ऋतं नात्येति किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रजापति की इच्छा से वाङ्मय स्वापम्भुव पानी में जाया-धारा-आप-जीवन-ऋत यह पांच बल उत्पन्न हो जाते हैं। इन पांचों बलों से ही पाङ्क्यज्ञप्रजापति का पाङ्क्य-रत्न स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपथब्राह्मण के आरम्भ में ही इन बलों का विवेचन हुआ है।

- | | |
|---|--------------------------|
| १—“अद्रिर्वी अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च” →→→ इति 'धारा' | } सर्वमम्भु प्रतिष्ठितम् |
| २—“अद्रिर्वी इदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च” →→→ इति 'जाया' | |
| ३—“अद्रिर्वी इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च” →→→ इति 'आपः' | |
| ४—“ऊर्कं—वा अथां रसः । ऊर्कं जीवनम्” →→→ इति 'जीवनम्' | |
| ५—“ऋतं भूमिरियं धिता” →→→ इति 'ऋतम्' | |

- | | |
|---|--|
| १—“सर्वमम्भु प्रतिष्ठितम्”—इति—धाराबलम् | } “आपो वै सर्वे देवाः । जाय-
मानो वै जायते एताभ्यो देवता-
भ्यः” इति निगमो भवति । |
| २—“सर्वमद्रव्यः प्रजायते”—इति—जायाबलम् | |
| ३—“सर्वमापोमयं जगत्”—इति—आपोबलम् | |
| ४—“आपोमयः प्राणः”—इति—जीवनबलम् | |
| ५—“ऋतं नात्येति किञ्चन”—इति—ऋतबलम् | |

सबसे पहिले क्या था ? उत्तर है 'वेदमय प्राणमूर्ति असत् नाम से प्रसिद्ध सप्तपुरुष-पुरुषात्मकस्वयम्भू सत्य प्रजापति'। 'एकाकी न रमते हृदिद्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नीश्च'

के अनुसार सृष्टिकामना से उसने तप और श्रम किया । इससे उसके प्राण में क्षोभ उत्पन्न हुआ । क्षोभ से दूसरे विष्णु नाम के अक्षर की सहायता से दूसरीवस्तु उत्पन्न होगई । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'सुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिश्रम करता है तो सर्वप्रथम उसके ललाट पर स्वेद [पसीनें] उत्पन्न होते हैं । अत्यधिक परिश्रम से सारे रोगगर्तो से पसीनें चूने लगते है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-

“स भूयोऽश्राम्यत्व-भूयोऽतप्यत । भूय आत्मानं संतप्तभ्य-
सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्राभ्यन्दत” — (गो० ब्रा० पू० १।१) ।

स्वयम्भूप्रजापति से उत्पन्न इसी सुवेद का नाम 'अथर्ववेद' है । अप्तत्त्व ही अथर्व है । त्रयीवेद अग्निमय होने से उग्र है । यह अप्वेद किंवा सोप्वेद शान्त है । अग्निवेद ही आशिकरूप से पनी बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सुष्ठुभाव है, अतएव इसे 'सुवेद' (शांतवेद) नाम से व्यवहृत करना अनवर्ष बन जाता है । इसी सुवेद को परोक्षप्रिय देवता अपनी स्वामाविक परोक्षभाषा में 'स्विदेवेद' नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहते हैं तो इसका उत्तर है—आपके ललाट पर आए हुए पसीनें । त्रयप्रजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीब्रह्म प्रथमज था, यह दूसरा है । त्रयीब्रह्म अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । त्रयीब्रह्म वृषा है, यह योषा है । वह प्राण है, यह रपि है । यह है विरवनिर्माता—दम्पती । उसके मियुन भाव से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा, विराट् से आगे की सृष्टिएं होंगी । अक्षरूप योषात्व, वेदत्रयीरूप वृषात्व दोनों ही सृष्टि के प्रभव हैं, एवं प्रभव को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्वोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है, एक मुयदब्रह्म है । त्रयोवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—'ब्रह्म च वा उदमग्रे सुब्रह्म चान्ताम्' (पद्मविश्वाम्ना.१।१।१) इत्यादिसे स्पष्ट है । यह है चौथे अथर्ववेद का सक्षिप्त दिग्दर्शन । सुब्रह्म में आगे जाकर पूर्वोक्त जाया धारादि बल उत्पन्न होने हैं । यही बल याज्ञिकी एवं मैथुनीसृष्टि के अनुमाहक है । ज्यों ज्यों नवीन नवीन पदार्थ

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—‘एकोऽहं बहुस्याम्’ यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमाभाव है, भूमाहो आनन्द है। प्रत्यक्षदृष्ट विद्यभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रखकर सामश्रुति कहती है—

‘ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयं तु—एकमेव । तदैक्षत्—महद्वै यज्ञं—तदेकमेवारिम, हन्ताहं मदेवं मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम—इति । तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तपस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो यदाद्दर्भजायत—तेनानन्दत् । तदब्रवीत्—महद्वै यज्ञं सुवेदमविदामह इति । तपदब्रवीत्—महद्वै यज्ञं सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत् । तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः । + + + + + । स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तपस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगतेभ्यः पृथक् स्वेदवाराः प्रास्यन्दत । तामिरनन्दत् । तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति । तपदब्रवीदाभिर्वा० तस्माद् धारा अभवंस्त-द्वाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते । तपदब्रवीत्—आभिर्वा० तस्माज्जाया अभवंस्तजायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्रः पुत्रामनरकमेकः सत्तारं तस्माद् प्राति पुत्ररतत् पुत्रस्य पुत्र-त्वम् । तपदब्रवीत्—आभिर्वा० तस्मादापो अभवंस्तदशमन्त्वम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते” इति । (गोपयब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र० । १-२-आ०)

इति-अथर्ववेदानिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी-वेदप्रकरणा समाप्त ।



मन्त्रार्थ प्रकरणा



टिकामुक ब्रह्म के-इच्छा तप श्रम से सुब्रह्मतत्त्व में सर्वप्रथम जाया धारा, आप, जीवन, ऋत, यह पांच बल उत्पन्न होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जा चुका है। त्रयीवन प्रजापति का पहिला कार्य सुमन्न था, पञ्चबलोत्पत्ति दूसरा कार्य है। इच्छा-तप-श्रम का विश्राम नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलतः नए नए पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। इच्छातपादि सृष्टि-अनुबन्धों से

आगे जाकर भृगुतत्त्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने वाले आपोमय ब्रह्म में चार और मधुर यह दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप् का स्वरूपधर्म है, एवं क्षाररस (लवणरस) आयित धर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं ! इस प्रश्नसमाधि के लिए पसीनें पर दृष्टि डालिए। पसीना सुवेद किं वा सुमन्न है। पसीने में उक्त दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीनें में लवण रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवभाग प्रधान है, एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'मृत्' नाम से प्रसिद्ध क्षारभाग की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र क्षारप्रधान ही होता है। मधुररस अत्यल्प मात्रा है, अतएव प्रायः हमारा पसीना कित्ती वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अत्यधिक मात्रा से पसीना चूनें लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संघटित होजाता है। यह कित्ती वृषास्थान में गिर कर सृष्टि का कारण बन जाता है। योषारूप हमारे पसीनों के सापेक्ष जब वायुगत वृषाग्नि का सम्बन्ध होता है तो इस योषा वृषा के विद्युन्भाव से पसीनों में सूक्ष्मश्रीटाणु उत्पन्न होजाते हैं, जिनका कि दूरधीक्ष्य मन्त्र श्वपरा माइक्रोसकोप (English) से प्रत्यक्ष विद्या जासकता है। रुद्रावतार पवनपुत्र के इन्दी संचित पसीनों से (मत्स्यगर्भ में) सुप्रसिद्ध मन्तरत्नन का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वेद में दोनों रस उपलब्ध होते हैं। अतएव तत्प्रमथ ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सच्चा माननी पड़ती है। अन्तर बेमत इतना है कि यहाँ (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, क्षाररस अत्यल्पमात्रा में है। क्षाररस शय है। हमारे में पञ्चीकृत अन्नाद (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत प्राय

की प्रधानता है। पञ्चीकृत प्राण में भी चारस्वरूपसमर्पक अज्ञात भाग (पार्थिव भाग) है, परन्तु अत्यल्पमात्रा में। इसी प्राजापत्य पानी से गंगीय पांनों की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अतः पार्थिव पानियों की अपेक्षा गंगीय पानी अतिमधुर है, यह साक्षात् सोम है, अमृत है, जीवनीय रस है, दीव (कीटाणु) नाशक है। इसी शान्त मधुर-अमृत रसभाग से भृगुतत्त्व का विकास होता है। भर्जनशील तत्त्व ही भृगु है। इस भृगु की धन-तरल-विलेय मेद से तीन अवस्थाएं होजाती हैं। घनावस्था आप नाम से, तरलावस्था वायु नाम से, एवं विरलावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में घनावस्थापन्न भृगु आप, तरलावस्थापन्न भृगु वायु, विरलावस्थापन्न भृगु सोम नाम से व्यवहृत होता है। अप् तत्त्व का मधुररस ही सृष्टि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रेत' [उपादानद्रव्य-शुक्र] कहा जाता है। वही रेत वेदाग्नि से संतप्त बन कर भृगु रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

“ता अपः स्रष्ट्वाऽन्वैक्षत, तामु स्वा छायामरयत् । तमस्येक्षमाणस्य स्वयं
रेतोऽस्कन्दत् । तदप्सु मसतिष्ठत् । तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, सम
तपत् । ताः श्रान्तास्तप्ताः संस्पन्नाः सार्द्धैरेव रेतसा द्वैधमभवन् । तासा-
मन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अम्वाद्द्रव्यः । ता अशान्ता रेतः समुद्रं
हृत्वाऽनिष्ठन् । अथेतराः पेयाः स्वाद्द्रव्यः शान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्य
तपत्, समतपत् । ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सतप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्,
तदभृज्यत् । यदभृज्यत् तस्माद् भृगुः समभवत्, तद्भृगोर्भृगुःवय ।
भृगुरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद” — (गो० पू० १।३-) इति ।
‘वायुसापरचन्द्रमा इशेते भृगवः’ [गो० पू० २।८।] ।

उक्त भृगुताव में पारमेष्ठ्य आप्य प्राण [वरुण] की प्रधानता रहती है। आपोमय रेत ही भृगु-रूप में परिणत होता है, अतएव ‘तं वरुणो न्यगृहीत्, तस्मात् स भृगुर्वारुणिः’ (ऐ० ब्रा०-३।३।१) इत्यादि के अनुसार इसे वारुणि (वरुणपुत्र) माना जाता है। रूसोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपशिखा अंगिता है, दीपप्रभा मयु [जलता] इत्या

सोम] है, इसी आधार पर 'अग्निपिभृगुः, संबभूव, अद्भारेष्वद्भिराः सम्बभूव' (.....) इत्यादि कहा जाता है सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का संहनन[संघात-एकीकरण]करता हुआ गतिशील बनता है, अतएव 'विभ्रन्-गच्छन्' इस निर्वचन से इसे भृद्गु' कहा जाता है । भृद्गु ही परोक्षभाषा में भृगु नामसे प्रसिद्ध है । संकोच इसका स्वाभाविकधर्म है । तरला-वर्थापन्न भृगु को हमने वायु बतलाया है । इस वायु की [भार्गवायु की] प्राण-पवमान-मातरिश्वा-सविता यह चार अवस्थाएं हैं । चारों के भिन्न भिन्न कर्म हैं । आसप्रश्वासरूप प्राणवायु 'पवमान' है । यह पवमानवायु (Oxygen) और अम्भ नाम का प्रथम आर (Hydrogen) दोनों संसृष्ट होकर स्थूल पानी के उत्पादन बनते हैं, दूसरे शब्दों में पवमान और अम्भके रासायनिक संयोगसे पीनेका पानी उत्पन्न होता है । यही पानी त्रिपमाण-मूर्च्छित होने से मर' [मरुच्छर्मा] नामसे प्रसिद्ध है । दूसरा है मातरिश्वा वायु । संकेतभाषा के अनुसार माता पिण्ड का नाम है, पिता महिमामण्डल का नाम है । पिण्ड को पृथिवीशब्द से, महिमा को द्यु शब्द से व्यवहृत किया जाता है । सभी पिण्ड पृथिवी हैं, सभी महिमाएँ द्यौं हैं । सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य-परमेष्ठी-स्वयम्भू आदि सभी पिण्ड पृथिवी हैं । जिस पर आप प्रतिष्ठित हैं, उसी का नाम पृथिवी नहीं है, अथि तु वेदिका नाम पृथिवी है, आधारभूमि का नाम पृथिवी है । वेदमूर्ति प्रणवति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है । इस परिभाषा के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-भूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-पृथ्वी पांचों पिण्ड पृथिवी हैं, पांचों ही पृथिवी होने से 'माना' है । इस माता के चारों ओर व्याप्त रहने वाला भार्गव वायु ही 'मानरिश्वा' है, जैसा कि अपने जाकर रस होनापणा । अग्नी केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला पिण्डस्वरूपसमर्पक एवं रसक भार्गव वायु ही 'मानरिश्वा' है । जो भार्गव वायु सांसारिक पदार्थों को कार्यका रूपाय के लिए प्रेरित करता है, यह प्रेरित वायु ही तीव्र 'सवितावायु' है । बिना सविता वायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण, कोई भी वस्तु गूढपु-मुस नहीं बन सकती । इसी आधार पर-'सविता वै देवानां प्रसविता' यह कहा जाता है । एवं जिस वायु से पिण्ड के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अर्थात्संस्था में जो

वायु प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान मेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तादि संचार का कारण बनता है, वही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वग्निन्द्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है, जिससे मेघ-जल-वृक्षादि विद्युत्-मान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात भेषजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राण-रूपा है, यह वातवायु भौतिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अंगिरावायु का विकास और होता है। अंगिरा से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ४२ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रासः], मरुद् वायु का विकार मारुद् है, यही वातवायु है। इसी को 'समीरणा' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वात वायु से सर्वथा विभक्त भौतिक भार्गव वायुओं में-से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वादिक में) उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां प्राणवायु का अज्ञाना है। यहां से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिकस्थ सूर्य के लिए 'प्राणः भजानामुदपत्येष सूर्यः' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिषा वायु दक्षिणदिशा में उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पिण्डसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पद्मान वायु उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पद्मान के लिए—'पद्मानो हरित आविवेश' (शत० २।२।५।५।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सविता उत्तरदिशा में उक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पद्मान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसंसर्गसे पद्मान-पावक-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। घोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु घोररूप में परिणत होते हुए घोरान्नि नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्ति पशुपति (महा-देव) की सोम आदि आठ मूर्तिएं शिव हैं, पद्मानादि तीनों रुद्रमूर्ति हैं, घोरतनु हैं। पद्मान भूमिण्ड से संक्रान्त रहता है, पावक अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रसिद्ध सूर्यमण्डलरूप पुलोरुस्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, मातरिषा दक्षिण से,

पश्चमान पश्चिम से, एवं संवित उत्तर से मिलता है । चारों वायु भार्गव हैं । चारों का उदयति-
स्थान [सूर्य से ऊपर] आपोमय परमेष्ठिमण्डल है । यहा से सौरमण्डल में आकर उक्त दिशा-
ओं में क्रमशः उक्त रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोहसी त्रैलोक्य के स्वरूपसंपादक
बनते हैं ।

प्राण-पवमानादि चारों वायु. सोम, आप तीनों भृगु हैं । इस भृगु से आगे जाकर अ-
थर्वा प्राण का विकास होता है । पानी का जो भाग भृगुरूप में परिणत होने से शेष रह जाता
है, वही 'अथ-अथर्व-परिशिष्यते' के अनुसार 'अथर्वा' कहलाता है । यही परिशिष्ट अथर्वा-
भाग आगे जाकर अग्निा रूप में परिणत होता है । तात्पर्य यह है कि पानी में हमने मधुर
और चार भेद से दो रस बतलाए हैं । इन में मधुररस भृगुरूप में परिणत होता है, शेष
चारभाग अथर्वा कहलाता है । आप पानी को जमीन पर डाल दीजिये । उसका सोमप्रधान
मधुर रस तो सूर्यरश्मिगत मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आवर्षित होकर घुलोक में चला
जायगा, इसी को पानी का सूखना कहते हैं । पानी के वाष्परूप में परिणत होकर उड़जाने
से जमीन पर एक सुफेद सा धब्बा रह जाता है, यह साक्षात् चार है । मूत्र में चार विशेष
मात्रा में रहता है, अन्यथा इसमें चारभाग अधिक मात्रा से शेष रहता है । मधुररस मधुररूप
घुलोक के सजातीय आवर्षण से घुलोक में चला जाता है, चारभाग चारप्रधान पृथिवी के
आवर्षण से यही रह जाता है । इसी परिशिष्ट चार का नाम 'अथर्वा' है, यही अथर्वा अग्निा
का जनक है । दूसरे शब्दों में वारुण पानी का मधुभाग भृगु का जनक है, चारभाग अथर्वा
की प्रतिष्ठा है । मधुररस एवं चाररस भृगु-और अथर्वा नहीं है, अपितु इन रसोंमें रहनेवाला
प्राण भृगु और अथर्वा है । प्रथम प्राणी के स्वेद में दोनों रस हैं । इन में मधुररस-
वन्धुन भार्गव प्राण तो घुलोक में जाता रहता है, एवं चाररसावच्छिन्न अथर्वाप्राण यही इसी के
साथ रहजाना है । मनुष्य के बच्चों में, रहने के मकान में, जहाँ जहाँ यह मनुष्य जाता है
उन उन स्थानों में अथर्वाप्राण अनुशयरूप से ध्याप्त रहता है । इसी अथर्वामूर के आधार पर
ताम्रिक सोद कृत्याप्रयोग करने में समर्थ होते हैं । प्राणियों में आनप्राणी (कुत्ता) इस अथर्वा-

प्राण का परिज्ञाता है। जिस रास्ते से चोर भागता है, उम रास्ते में उमका अथर्वाप्राण अनु-
 शयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है। बुद्धि अपनी प्रखेत्रित्व से अथर्वाप्राण को पहिचानता
 हुआ चोर का पता लगा लेता है। अथर्वाप्राण का अंगिरा से सम्बन्ध है। अंग्रेप अंगिरा रुधिर
 में व्याप्त रहता है। इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अथर्वासूत्र सतानधारा में प्रतिष्ठित होता हुआ
 जनन-मरणाशौच का संक्रामक बनता है। अथर्वासूत्र द्वारा एक की अर्पविव्रता सारे वंशचरों
 में व्याप्त होजाती है। यह निराकारसूत्र यद्यपि चर्मबलुओं से नहीं दिखलाई पड़ता, पान्तु
 इसके कार्यों में इसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आपना कोई सम्बन्धी आपसे पान्तु
 कोस पर रहता है। यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो
 पड़ता है। यह उसी अथर्वासूत्रसम्बन्ध की महिमा है। विदेशस्थ बन्धु यदि आपको याद
 करता है तो आपके दिक्का (हिवकी) चलने लगती है। उसके नाम लेते ही हिचकी बंद हो
 जाती है, यह अनुभूत विषय है। छोटे बच्चों का मन अथर्वा सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता
 है। एवमेव सौम्या स्त्री का भी अथर्वाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं त्रियों पर
 कल्याणप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल होजाता है। (देखिए शत० १४।६।७।१।)।
 अथर्वा अंगिरा की विज्ञासमूमि है, अतएव अंगिरा को 'अथर्वाङ्गिरा' नाम से भी व्यवहृत किया
 जाता है। एक ओर भृगु है दूसरी ओर अंगिरा है, मध्य में अथर्वा है। मध्यपतित अथर्वा
 का प्रज्ञानरूप से अङ्गिरा के साथ, गौरारूप से भृगु के साथ सम्बन्ध है। अतएव तन्मध्यपतित-
 न्याय से दोनों को अथर्वा मानलिया जाता है। भृगु-अङ्गिरात्मक यह अथर्वा सुबल है। यह
 उस वेदमूर्ति ब्रह्म की सबसे पहिली सन्तान है, ज्येष्ठ पुत्र है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा न भृगु है
 न अंगिरा है, अपि तु समष्टिरूप अथर्वा है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवाना प्रथमः सवभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यापतिष्ठापयर्वाय ज्येष्ठपुत्राय महि (मुण्डक० १।१।१)।

+ इस विषय का विस्तृत विवेचन भद्रविशानान्तर्गत द्वाष्टीचरित्रान में देखना चाहिए।

अथर्वा रूद्र है, द्यार है। इससे अंगिरा का विकास होता है, अंगिरासे अग्नि का विकास होता है। उधर भृगु स्नेह तत्त्व है, मधुररस है। अथर्वा की प्रतिष्ठा यही भृगुवेद है। अत एव भृगु को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। परन्तु आग्नेयी अथर्वात्रयी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है। दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अक्सगात्रययुक्त अग्नि, वायु, आदित्य भेदभिन्न अङ्गिरा पर ही प्रतिष्ठित है, अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निरूप अङ्गिरा ही बन सकता है।

ऊपर बतलाया गया है कि मत्स्यपतित अथर्वा दोनों में अन्तर्भूत है। अतएव परमार्थतः भृगु अङ्गिरा यह दो तरफ बच जाते हैं। एक मधुप्रधान है तो दूसरा द्यार प्रधान है। सीधे भाषा में एक (भृगु) मीठा पानी है तो दूसरा (अङ्गिरा) खारापानी है। जिस भूप्रदेश में भृगु की प्रधानता रहती है, वहाँ कृपादिका पानी मीठा होता है, एवं जहाँ अङ्गिरा की प्रधानता रहती है, वहाँ खारापानी मिलता है। दोनों ही आपोमूर्ति होनेसे 'अमृत' हैं, भृगु भी अमृत है, अङ्गिरा भी अमृत है। आपोमय (भृगुअङ्गिरोमय परमेष्ठी अमृत है - "अमृतमय मायेष्ठी")। क्यपि पर-मेष्ठय मण्डल में भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय होते हुए अमृत ही हैं, परन्तु आगे जाकर [सौरमहाण्ड में जाकर] अङ्गिरा सत्त्वरूप में परिणत होजाता है। भृगु [आप-वायु-सोम] सदा अमृत प्रधान ही रहता है। अमृत अङ्गिरा सत्त्व का प्रभव बनता हुआ सत्यमूर्ति है भृगु अमृत है। स्वप्नभू प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाले यही अमृत सत्त्व (भृगु-अङ्गिरा) अहो-गत्र के परिस्वरूप संवत्सरात्मक सूर्य के जनक हैं। यही दोनों 'वर्षाव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के, एवं वायुपुत्रीरूप रोदसीत्रैलोक्य के जनक हैं। इसी अमृतसत्त्वविज्ञान को ब्रह्म में रखकर श्रुति कहती है—

अमृतं च सत्यं अभीदानपसोऽवनापत ।

ततो राश्वनापत ननः समुद्रो भर्गावः ॥ १ ॥

समुद्रादग्णोवाग्धि सन्वत्परो यजापत ।

अहोरात्राणि विदपट्टिभ्यस्य मियतो वगी ॥ २ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

[ऋक् सं० १० मं० ११६० सूक्त] इति ।

अथर्वा को हमने ब्रह्मा का अपेष्ट पुत्र कहा हं । यही अथर्वा अग्नि-यम-आदित्य रूप में परिणत होकर भूः-भुवः-स्वः इन तीन लोकों का प्रवर्तक बनता है । यही 'रोदसीधाम' है । यह 'अथ-अर्वाक्' रूप अथर्वा से उत्पन्न हुआ है, अतएव रोदसी को 'अवमधाम' 'अव-रार्थ्य' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अथर्वा से उत्पन्न होने वाला अग्नि-यम-आदि-त्यरूप त्रयीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरसस्या का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्री-मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध होता है । त्रयीविधा को साथ लेकर आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होने वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्नित्रयीवेद को उत्पन्न करता है । विश्व की अपेक्षा स्वा-यम्भुवब्रह्मनिश्चित वेद प्रथमज, एवं हमारी सौरत्रिलोकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिश्चित वेद पुरुषाविनाभूत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय था, परन्तु यह गाय० वेद इस वेदमूर्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होने के कारण पौरुषेय है । हिरण्यमण्डलस्य त्रयी-धन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में राव से पहिले इन्हीं हिरण्यमणमगवान् का प्रादुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम नतलाती हुई बलिधुति कहती है—

“तस्यां (अपौरुषेयवेदे) पतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृ-
जत वाच एव (वेदवाच एव) लोकात्, वागेव साऽसृज्यत । सोऽका
पयत-आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति, सोऽनया (अपुरुषविधया)
त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्, तत आगडं समवर्चत । तदभ्यभृ-
गत-अस्त्विति । अस्तु-भूयोऽन्तु-इत्येव तदत्रवीत् । ततो ब्रह्मैव
प्रथममसृज्यत त्रय्येवे विद्या- [गायत्रिमात्रिको वेदः]”

[शत० ६ । १ । १ । १०] ।

त्रयीविद्या ही प्रजापति का पहिला अस्त्रैवण्ड है। अनन्तर क्रमशः पोपाण्ड, यशोण्ड, रेंतोण्ड मेद से तीन अण्ड और उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म चार अण्डों में परिणत होकर 'सर्गम्' बनजाता है। चारों अण्डों की सप्तष्टि ही एक रोदसी ब्रह्माण्ड है। इसी का नाम सौरमण्डल किंवा सौरत्रिनोकी- (सौरमण्डल) है।

सायम्बुव वैश्वरूप्य [महिमानण्डल] व्योम (परमाकाश) नाम से, पारमेष्ठ्य वैश्वरूप्य समुद्र नाम से व्यगृह्य होता है, एवं सौर वैश्वरूप्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र स्वयम्बु के वैश्वरूप्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जैसे व्योम का अधिष्ठाता ब्रह्मनि-
श्चितवेदावच्छिन्न स्वयम्बु है, समुद्र का अधिष्ठाता सुब्रह्मावच्छिन्न पारमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न भगवान् सूर्यनारायण हैं। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अधिष्ठाता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है।

द्विरण्यगर्भः समवर्चताप्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेषा कस्मै देवाय इविषा विधेम ॥

(यजुः० सं० १३ । ४)

“सर्वप्रथम वेदमयस्वयम्बु ब्रह्म का आविर्भाव होता है, अनन्तर उसके वाक्भाग से आपोमय सुब्रह्म का आविर्भाव होता है। सुब्रह्म मृगु एवं अगिरामय है। आप-वायु-
मोन मृगु हैं, अग्निमादिस अगिरा हैं। ६ओं की सप्तष्टि आप है। इनमें से आपोमय अगिरा से गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अगिरा से उत्पन्न यह वेदतत्त्व सूर्यरूप में परिणत होकर वही भृगुद्विरोमय अपसमुद्र में प्रतिष्ठित होरहा है। वेदमय सय स्वयम्बु का पहिला अवतार पानी है। इस आप का पहिला अवतार गायत्रीमात्रिक नाम

• इस विषय का विस्तृत विवेचन द्विरण्यगर्भनिघान्तुलक मृगुद्विरोमियत् विज्ञानमाध्य में देखना चाहिये।

का सखवेद है" यह पूर्व के सन्दर्भ से मूलीभाति सिद्ध होजाता है । साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि "आपोमय परमेष्ठी ऋत है । ऋत में ही सारा सत्यविश्व प्रतिष्ठित है ऋत परमेष्ठी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता" । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१- "तद्यत् तव सत्यमाप एव तव । आपो हि वै सत्यम् । अप एव तस्य [ब्रह्मनिश्वसितवेदसत्यस्य] अग्रमकुर्वन् । तस्माद्यद्वापो यन्ति-अपेदं सर्वं जायते यदिदं किंच" (शत. ७ का. १४ । १ । ६ । कं.) ।

२- "ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किंचन । ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरिय श्रिता ॥ "

३- 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् । अन्तरैते त्रयोवेदा भृग्वङ्गिरसः श्रिताः ॥ "

४- आप एवेदमग्र आसुः । ता आपः सत्य [गायत्रीमात्रिकवदसत्यं] असृज्यत । सत्य ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्, ते देवा सत्यमित्युपासते । तदेतत् व्यत्तरं सत्यमिति । स इत्येकमत्तरं, तीत्येकमत्तरं, अमित्येकमत्तरम् । प्रथमोचमेऽत्तरे सखं मन्यतोऽनृतम् । तदेतदनृतं सखेन परिसृष्टीतं सत्यभूयमेव भवति । तद्यत् तव सत्यमसौ स आदित्यः" ।

[शत० १४ का० । ८ । ६ १-२]

ब्रह्म-वेद-त्रयी-अग्नि-सख अग्निनाथक हैं । सुब्रह्म-सुवेद-अथर्व-सोम यह सब अग्निनाथक हैं । मन्त्रोपात्त एजत्-अनेजत् तत्त्व वही ब्रह्मनिश्वसित वेद है । पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध मार्गि वयुधों में से अन्यतम मातरिखा ही मन्त्रगत मातरिखा है । इसी मातरिखा से आप की उस अनेजदेजद्रूप मूल में आदृति होती है । इसी से सारे विश्व का स्वरूप सम्पन्न होता है । 'आप' तत्व का स्वरूप निर्वचन होजुका । समग्र है ध्याप 'आप' के स्वरूप निस्तार

से घबड़ा गये होंगे । अतः इस प्रकारण को थोड़ी देर के लिये यहीं छोड़ दीजिये, एवं ब्रह्म पर दृष्टि डालिये ।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विद्व पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि ब्रह्मनिष्कसित स्वायम्भुव त्रयीवेद का यजु माग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है । ऋक्साम सहकारी मात्र हैं । यजु पुरुष है, ऋक्साम नपुंसक हैं, केवल छन्दोरूप है । ऋक्सामावच्छिन्न यजुर्वेदविद्या—कर्ममय अव्ययपुरुष की विकासभूमि है; अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यङ्ग्य किया जाता है । यह यजुपुरुष द्विव्रह्म की समष्टि है । वस्तुतः इस का नाम 'यज्जू' वेद है । 'जूराकाशे सरम्भस्या पिशान्यां यवने स्त्रियाम्' इस कोश के अनुसार 'जू' शब्द आकाश का वाचक है, एव यत् शब्द वायु का वाचक है । यह वायु चतुर्धा विभक्त पयमान-मातरिखा आदि भार्गववायु, एव वातवायु आदि से सर्वा भिन्न वस्तु है । यद्यत् का वायु शब्द ऋषि नाम से प्रसिद्ध असत्त प्राण का वाचक है । यह यत् रूप प्राणवायु विशुद्ध गतिरूप है, यही अव्यय के कर्मभाग का विकास है, जूरूप आकाश विशुद्ध स्थितितत्त्व है, यही अव्यय के विद्याभाग का विकास है । 'यथाकाशगतो निःसं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गी.) के अनुसार स्थितिरूप आकाश, एव गतिरूप वायु नित्य अविनाभूत हैं । विद्या, स्थिति, आकाश, वाक्, जू, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं । कर्म, गति, वायु, प्राण, यत्, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं । यत्-श्चौर जू-इन दोनों ब्रह्मों की समष्टि यज्जू' वेद है । यही यज्जू' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है । इसी यजुर्वेद का निर्वचन करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"अथ वाच यजुर्वेदं पश्यते । एष हि यजुर्वेदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिदं-मनु प्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः, यदिदमन्तरिक्षम् । एतं आकाशमनु जवने । तदेतद्यजुर्वायुरच, अन्तरिक्षं च, यच्च, जूश्च । तस्माद्यजुः । +xx । तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्. ऋक्सामे बहत्!" (शत. १० ब्र. ३ । ५ । १-२ ।) इति ।

यत् और जू दोनों ही अमृत-मृत्यु मेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। अमृत जू अमृताकाश है, अमृत यत् अमृत प्राण है। मर्त्य जू मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है। मर्त्य की प्रतिष्ठा अमृत है। अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है। मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है, दोनों अविनाभूत हैं। अमृताकाशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् (जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है), एवं मर्त्यमायु से भूतसृष्टि होती है। देव और भूत दोनों सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं, अतः देव-भूत का अविनाभाव सिद्ध होजाता है। गौण-प्रधानता की अपेक्षा से 'इयं देवता' 'इदं भूतम्' यह मेद व्यवहार प्रचलित है। वस्तुतः न देवता भूत के बिना रहता, एवं न भूत देवता के बिना प्रतिष्ठित रहता। इस प्रकार अपनी मर्त्यकला से भूतसृष्टि का, अमृतकला से देवसृष्टि का अविद्यता बनता हुआ ऋक्सामाथन्दिन यजुपुरुप ही सब कुछ बन रहा है—'पुरुष एवेदं सर्वम्'।

उपनिषदय का समन्वय करने वाले व्याख्याताओंने मन्वगत 'मानश्रिवा' वायु को 'सूत्रवायु' समझा है। कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझने के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भूल होजाती हैं। सूत्रवायु तो हमारा यत् नाम का 'प्राणवायु' है। इसी को सूत्रात्मा कहा जाता है। 'वायु ये गौतम मत् सूत्रम्' शत० १४ कां. ६। ७। ५।) से स्थायन्मुव वेदमूर्ति सूत्रवायु ही अभिप्रेत है। सूत्रात्मा स्वयम्भू का मनोता है, (देखिए ई० वि० भा० १६६ पृ०)। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्ररूप हृदयाक्षरो की समष्टि अन्तर्यामी है, अग्निसोम की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अग्नि सूत्रात्मा है। अग्नि सत्यवेद है। यही मूत्रसत्य है। उभर मातरिरवा भार्गववायुरूप बनता हुआ परमेशी का मनोता है।

यजुर्वेद विरव का उपादान होने से ब्रह्म है। इसमें दो कलाए हैं, अतएव यह 'द्विब्रह्म' का सहकर्मरी, इसी से उत्पन्न होने वाला सुवेद सुब्रह्म है। भृगु अङ्गिरा के अवस्था मेदों से यह सुब्रह्म आप, वायु, सोम, मग्नि, यम, आदित्य इन ६ भागोंमें विभक्त है। अतएव इस

‘भापवद्भ्य’ को हम ‘वद्वद्भ्य’ नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। द्विव्रज के समन्वय से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। द्विव्रज का (मर्त्य) वाग्भाग (इन्द्रपत्नी) उसी प्राणरूप यत् के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्भ है, वाय्वामक है। अतएव पाञ्चभौतिक सृष्टिक्रम में इसे ‘वायु’ कहा जाता है। ‘अग्नेरापः’ यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एवं—“तस्य या एतस्याग्नेर्विद्योपनिपत्” [शं० १० का. ५। १। १।] के अनुसार मर्याकाशवाक् (इन्द्रपत्नी) मादात् ब्रह्माग्नि है। वही तो प्राणव्यापार से लुब्ध होकर अम्भरूप वाय्वामक पानी के रूप में परिणत हुआ है जैसा कि—‘वागेव सासृज्यत’ इत्यादि रूप से पूर्व में दृष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इरी के अङ्गिरामाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमात्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही मूर्त्य है, ‘त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः’। सौर रश्मिं ‘मरीचि’ नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वर्षणसे मर पानी उत्पन्न होता है। मूर्च्छित मरीचि अग्नि ही मर पानी है। सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमशः भाप—फेन—घृत—सिकना—शर्करा—अरमा—अय—द्विराय रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का स्वरूपसम्पन्न बनता है। इसप्रकार वह एक ही जू—[मर्याकाश—मर्यावाक्] वाक् (आकाश) वायु, अग्नि, पानी, मिट्टी, इन पांच रूपों में परिणत होजाता है। पाचों भूत वाद्भ्य है। तभी तो—‘अपो वागेवेदं सर्वम्’ (ऐ०था. ३। १। ६) ‘वाचीमा विश्वाभुवनान्यपिना’ (ते० ब्रा. २। १। ५) यह कहना चरितार्थ होता है। प्रजापति (पोडगी) उक्त वेद का आत्मा है। शब्दतन्मात्रारूप अतएव शब्दनाम से व्यवहृत वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निष्वास है, यही वेदवाक् आकार है, यही निघ का मूल है। इसी वेदमूला, अतएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

‘तस्मादा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः,
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी’ [सं. उ. २। १।]

षाट्कौशिकमिदं सर्वम्

प्रजापतिरात्मन्वी

१-१-ब्रह्माक्षरः प्राणमयः पादशप्रजापतिः	←	‘आत्मा’
२-१-यत-गभितो जूः-स्वयम्भूः	→	आकाशः (आकाश)
३-२-आपोमयं सुवह्न-परमेष्ठी	→	वायुः (वायु)
४-६-त्रयीघनः	→	सूर्यः → अग्निः [तेज]
५-४-मुञ्छता आपः-चन्द्रमा	→	आपः [जल]
६-५-पृथ्वयी	→	पृथिवी → पृथिवी [पृथिवी]

शरिरम्

‘अनेजदेकम्’, इत्यादि मन्त्र यजुर्वेद का निरूपण करता हुआ इसी आत्मन्वी प्रजापति का विरलेपण करता है। यजुर्वेद का अनेजत् भाग सोराधिक विद्याभाग है, एजत् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। चलाचलरूप विद्याकर्ममय अव्यय ही यजु है। इस यजुर्वेद की व्याप्ति कहाँ तक है ? उत्तर है ‘मायात्रल’। जहाँ तक मायी महेश्वर व्याप्त है, वहाँ तक वेदतत्त्व व्याप्त है। तभी तो उसे ‘वेदिमूर्ति’ शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। जहाँ तक मायी अव्यय व्याप्त है, वहाँ तक तत्त्वप्रकृतिभूत अक्षरत्मक्षर व्याप्त हैं। छुतरां आत्मक्षर के प्राणरूप विलारक्षर से संपन्न पञ्चीकृत प्राणपञ्चजन के विवर्तभूत वेदपुराजन की सत्ता वहाँ तक सिद्ध होजाती है। इस मायाचक्र को -सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिरूपा सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट होजायगी।

संसार में गतितत्त्व अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। रथचक्र की गति उभयगति है। रथ का पहिया (अवयवी) भी चकर रहा है, एवं पहिये के अवयव भी चकर रहे हैं। कुम्हार के चक्र [चाक्] की गति अवयवगति है। चक्र जरा भी नहीं चलता, अवयव जरा भी नहीं ठहरते। पूर्वदेश परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग करना ही

गति है। चक्र अपने नियत कीलक से अणुमात्र भी नहीं चल रहा। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ घूम रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अग्रयण घूम रहे हैं। एवं मातकधृत चक्र की गति अग्रयणीगति है। हम ट्रेन में बैठे हुए चल रहे हैं। हमारे अग्रयण नहीं चल रहे, अपि तु हम (अग्रयणी) चल रहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायावाचिन्द्र वेदघन ईश्वर सर्वथा स्थिर है। वृक्षवत् स्तम्भ है। एव ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित यच्चयावत् पदार्थ, पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील हैं। व्यापकदृष्टि से सत्ता सर्वथा स्थिर है, अचलरूप से खड़ा है। व्यष्टिदृष्टि से सब अस्थिर हैं। यदि व्यक्तिभाज को छोड़कर आप विश्व को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो वह आपको सर्वथा स्थिर दिखलाई देगा, व्यक्तिभाज को सामने रखने से वही गतिशील मिलेगा। अग्रयणी स्थिर है, अग्रयण चल है, वही तात्पर्य है।

आप्त महर्षियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करने लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निगूढतम जिस अध्यात्मविद्या के स्वरूप को यथावत् पहिचानना बड़ी कठिन समस्या है, ऋषियोंने व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रखा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी सहज में ही समर्थ होजाय। कुम्भकार (कुम्हार) लोकभाषा में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। घट-उदररागादिमृण्मय पात्रों का निर्माण करने वाले, वर्ष से शब्द गनुष्य का ऋषियोंने 'प्रजापति' नाम रखा, जो कि प्रजापति शब्द त्रिमुक्तरिगता धाता (ईश्वर) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर कुम्भकार की इस प्रजापति सज्ञा में कोई विशेष महत्त्व नहीं मालूम होता। परन्तु जब इस सज्ञा का सूक्ष्मेक्षण किया जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का अवतार है। जैसी स्थिति गृष्टिनिर्माता ईश्वर प्रजापति की है, ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शब्द) की है। घटनिर्माणप्रक्रिया में कुम्भकार, मिट्टी, दण्ड, चक्र, सूत्र, भूपिण्ड, पानी, यह सात उपाकरण अपेक्षित हैं। इस कारणसमष्टि से घटनाय उत्पन्न होता है। इन में भूपिण्ड कुम्भकार एवं चक्र [चारु] का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है, एत चक्र भी कील के आधार पर भूपिण्डपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, घट बनाने वाला है। सूत्र-दण्ड

असमवाधिकारण है, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। बुद्धार मिट्टी में पानी डालकर उसको पिन्दिमान बनाकर पिण्ड बना लेता है। अनन्तर चक्र के समीप नियत स्थान पर बैठकर चक्रपर मृत्पिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से बद्ध चक्र को दण्ड से बंधे वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रक्ते हुए मृत्पिण्ड में हस्तकौशल से अपने बौद्धघट (प्रयालीघट) का आकार देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [डोरी-अथवा चीवर-चिपड़ा] से घट को चक्र से पृथक कर भ्रूषुष्ठपर सूखने के लिए रख देता है। सूख जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के मृत्परमाणुओं को विशकलित कर डालता है। इस अग्निविशकलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूम्र बनकर उत्क्रान्त हो जाता है। इसी विशकलन प्रक्रिया का नाम न्यायदर्शानुसार 'घटध्वंस' है। पानीको निकाल कर सधिस्यानो में स्वयं अग्नि अन्तर्धान सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंधान से रलयपरमाणु दर्शन के शब्दों में ध्वस्तघट पुनः संहित होता हुआ परिपक्व बन जाता है। इस प्रकार इस पिठरपाक के अनन्तर घट सर्वात्मना संपन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] समी को विदित है। ऊपर की थोर गोलाकार मुख होता है, मध्य में विपुलोदर होता है, पैदा उठा हुआ होता है, यह तो हुई इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि। अब चाहिए उच्च [ईश्वर] प्रजापति की थोर।

अक्षरतरु कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकोशात्मक अन्वयप्रज्ञ भ्रूषुष्ठ [आत्मन्व] है। पूर्वोक्त सूत्रवायु ही सूत्र है। यजुर्वेद चक्र है। इसी वेद का छर मर्त्यभाग मिट्टी [उपादान] है। प्रजापति की धुरनीति दण्ड है, इसी को 'मसदण्ड' कहाजाता है। सुप्रसिद्ध आयोमल पानी [सहकारी कारण] है। विचनानि में [केन्द्र में] यह यजुस्वक बद्ध है। इस की स्थिति ठीक बुद्धार के चक्र जैसी है। चक्र सूत्र ही घूम रहा है, परन्तु समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति अक्षरवेदरूप मृत्पिण्ड रखता है। यह अक्षरवेद कहीं हमारा

सुप्रसिद्ध गायत्रीमात्रिकवेद है। यही वेद आगे जाकर घटरूप में परिणत होता है। भूः-भुवः-
 स्वः तीनों लोकों की समष्टि एक घट है। यही विष्वक्मूर्ति घट चयन यह में 'उखा' नाम से
 प्रसिद्ध है। भूलोक इस का बुध्न (पेदा) है, सुवलोक उदर है, चुलोकोपलक्षित सूर्य मुख है।
 एक संस्तर पर्यन्त इस घट में अग्नि रक्खा रहता है। अनन्त उस का चयन होता है। त्रैलो-
 न्यरूप उखा (घट) के परमाणु परमाणु में अग्निचिति हो जाती है। यही चिति संघिरणों
 से पाँच भागों में विभक्त हो जाती है। चिति से घट सर्वात्मता संग्रह हो जाता है। इसी प्राजा-
 पत्य घट का दिग्दर्शन कराती हुई अग्निहरवधुति कहती है—

१- 'इम वै लोका उखा' [श० ७ प्र० २।१७]

२- 'प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा' [श० ६।१।२३।३।]

[शत० ६।७।१।२३॥ ७।५।२।२॥ ६।२।२।२५।]

प्राजापति से निर्मित सारी पार्थिव प्रजा घटरूप में परिणत होकर ही प्रतिष्ठित हो रही
 है। इस प्रकार कुम्भकारासृष्टि एवं प्राजापत्यमृष्टि दोनों समानधर्मी है। इसी सृष्टिरूप के
 शिखर के तिर ऋषियोंने कुम्भकार की 'प्राजापति' संज्ञा रखी है। स्वयं मार्कण्डेयने कुम्भ-
 कार के चक्र से प्रश्रविषा का स्वरूप पहचानते हुए कुम्भकार को अपना सुक माना था।
 सवमुच जो स्वरूप इस प्राजापति के चक्रका है, वही स्वरूप इस यजुष्मक का है। वह गोल है तो
 'सर्वतः पाणिराद् ईश्वर' के अनुसार यह भी यत्सृष्ट है। यह धूमता हुआ समुदाय रूपों
 लिए है तो यह भी अथवापदया एतत् बनता हुआ समुदायपदया अनेकत् है। मानो एतत्
 पद (कुम्भकार) प्राजापति उवा (ईश्वर) प्राजापति के साथ एतत् कर रहा है। इसी आधार पर
 ऋषि की "यदानां निर्मातुश्चिमुचनविधातुश्च यत्सृष्टः" यह सूक्ति प्रचलित है।

जैसे न चलने वाला पाक, और चलने वाले अथवा एक ही स्थान पर है, इसी प्रकार
 न चलने वाला नू और चलने वाला यन दोनों या एक ही बिन्दु पर समन्वय है। विधिनी गी
 से विश्वनाथों का अविद्या का यत् जैसे एक है, एतत् यत् चार नू के दो होने पर भी यजु-

सिद्ध एक है। यह एक ही तरफ जू की अपेक्षा से सर्वथा अनेजत् है, यत् की अपेक्षा से वही एजत् है। वही एजत् है, वही अनेजत् है। वह मन से भी जवीय [तेज दौड़ने वाला] है। आधिभौतिक जगत् में तेज चलने वाला वायु है। आध्यात्मिक जगत् में वायु से भी शीघ्रगामी मन है। इन दोनों में वही गति आई हुई है। जिस यत्प्राण के आगमन से वायु और मन जब शीघ्र गामी बन जाते हैं तो उस यत् के गतिवेग का क्या कहना है। वह तो स्वयं गतिरूप ही है। इस स्वयंगति की गतिमान् वायु और गतिमत् मन कैसे समता कर सकते हैं। मन में इन्द्रियुत् है, त्रिगुदिन्द्र गतिशील है। मन में प्रतिष्ठा ब्रह्म [स्थिति भाग]की अल्पता ही मन की द्रुत-गति में मुख्य कारण है। उधर वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सचमुच 'मनसो जवीयः' है बात पार्थक्य में यह है कि अनेजदेवत् की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रपञ्च का निर्माण होता है। फलतः आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति-गति दोनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। आप जितने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, विचार कीजिए (गतितात्पर्य से) उनमें थोड़ी बहुत स्थिति अन्वय है, जितने भी स्थितिमत् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तात्पर्य से) गति अन्वय है। विशुद्धगति-और निश्चलस्थिति-रूप पदार्थ न आधिभौतिक जगत् में है, न आध्यात्मिक जगत् में। कारण इनका उगादान स्थितिगति की समष्टि है। कहीं स्थिति तत्र प्रधान है तो कहीं गति तत्र। परन्तु हैं प्रत्येक में दोनों। यदि स्थिति में से गति को सर्वथा निःशून्य किया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत होजाती है। एवमेव यदि गति में से स्थिति सर्वथा निकल जाती है तो वह गति स्थिति-रूप में परिणत होजाती है। उदाहरण के लिए ५ ननुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं। इनमें कुछ आदमी तो जल्दी पहुंच जाते हैं, कुछ देर में पहुंचते हैं। इसका क्या कारण? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुंच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुंचा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुंचा, एवं जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुंचा। निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रखी एवं गति अधिक रखी वह जल्दी पहुंचा,

जिसमें गति कम रखी एवं स्थिति अधिक रखी वह देरसे पहुंचा। इस स्थिति—गति के तात्पर्य से गति में अन्तर होगया। मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घंटेभर में पहुंचा वहां दूसरा आध घंटे में, तीसरा १.५ मिनिट में, तीसरा पांच ही मिनिट में पहुंच गया। लीजिये चौथा आदमी दो मिनिट में ही पहुंच गया। आश्चर्य—पांचवां तो एक ही मिनिट में जा पहुंचा। एक मिनिट में पहुंचने वाला ऐसे वेग से चला कि उसने कब पैर रक्खा, कब उठाया यह अनुमान लगाना ही कठिन होगया। वह ठहरता सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखाई दिया। फलतः यह सिद्ध होगया कि अपने घर से एक मिनिट में पहुंचने वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी, तभी तो वह एक मिनिट में पहुंच गया। कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में नियत स्थान पर पहुंचने में एक मिनिट जायगा, यदि वह अल्पस्थिति भी उसकी गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा। ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा, अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा। एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह धर रहेगा उसी क्षण में बगीचे में मिलेगा। इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जाने से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी। क्या ऐसा होना संभव है! नहीं। स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य में (मनुष्योत्पत्तिक पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती। उस में अंतर ही स्थिति रहती है। ऐसा तत्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है। मन में थोड़ी बहुत स्थिति है, परंतु उस विशुद्धगति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से जरा भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां—वहां—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपसम्भ हो जाता है। प्रजापति के स्थितिरूप, अतएव स्थापक इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रखकर— 'मनसो जवीयः' कहा गया है।

एक पुस्तक मेज पर रखी हुई है। पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से आक्रान्त है। पारंगत विद्वान् कहता है कि आप इसे चलती हुई समझिए। स्थितिरूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर नारही है। यह गतिमगति ही एक दूसरी गति से अचरक होती हुई स्थितिभाव में परिणत होरही है। आप पूर्व में बैठे हैं। पुस्तक आपसे परिचय रखती हुई है।

यदि आप पुस्तक को अपनी ओर लावेंगे तो पुस्तक की पश्चिमगति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिग्गति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आरकेंगी । इस प्रकार स्थित पुस्तकमें से गति के निकास देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में पाणित होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं । यदि चारों ओर की गति निकास दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्क्रान्त होजायगी । वह पदार्थ गतिगर्भ में विलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्त्व अविना-भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पर्यन्त समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को लक्ष्य बना कर ऋषिों—‘मनसो जवीयः’ यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके जैसा तो वही है ।

पूर्वमयनानुसार वही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रवर्तक है । देवता प्राणघन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवश्य है, परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एका पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का व्याप्यन्तिक समाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणघन देवताओं में आशिरूपा से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौड़ते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्षत्) प्रजापति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मपक्ष में इन्द्रिणं देवता है । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिणं है । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । हृदय आत्मप्रकाश इन्द्रियदेव-ताओं में आता है । इन्द्रियों के द्वार बाह्यमूल हैं । ऐसी अवस्था में प्राणोद्भूति प्रज्ञानमन से संचालित इतस्ततः सांसारिक विषयो की ओर अनुधावन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्षत् आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । यह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् कहती है—

पराञ्चि खानि व्यनृणात् स्वयम्भूस्तस्वात् पराङ् पश्याति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैतदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठ० उ० २।१।१।)

इसी अभिप्राय से— 'नैनदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षन्' यह कहा गया है । वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियागम्य है, यही तात्पर्य है ।

आत्मा हृदय में है, देवता उससे पर है । तो क्या देवता [इन्द्रियों] और देवताओं के विषय में (भौतिकपदार्थों में) आत्मा नहीं है ? इसी प्रश्न के समाधान को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है— 'तद्भावतोऽन्यानसोति तिष्ठत्' । देवता उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठा बैठा ही दीड़ लगाने वाले देवताओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है । अनेजत् दृष्टया यह तिष्ठत् है, एजत् दृष्टया देवताओं का अतिक्रमण करने वाला है, जैसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तारतम्य बतलाते हुए कहा जा चुका है । यह सर्वथा व्यापक है । उस के आशय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है । 'न त्वइ नेपुते मयि' । उस का तात्पर्य यह है कि आवेय आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आधार स्वरूप से प्रतिष्ठित रहसकता है । उसे आवेय की श्रपेक्षा नहीं होती ।

अवनक के मारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि " महाभायावच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्वेदः भी ईश्वरवत् महाभायावच्छिन्न होता हुआ व्यापक है ।" यह मूलवेद महेश्वर का निश्चित है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य [महेश्वरस्य] निश्चितमेतद्यजुर्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदः +++ अस्मैवैतानि सर्वाणि निश्चितानि"

[श० ११।२।११०] । ति ।

महनोभूत यही मायी महेश्वर है । तन्मूर्ति वेद ने जोटें स्थान रिक्त नहीं है । यह एक तन्मयकवत् सदा दृष्ट्या महावृत्त [अधःपृष्ठ] है । उस का एक भाग सर्वथा स्थिर है एक

आत्यन्तिक चर है। यही यजुर्वेद नाम का द्विप्रसन्नप्रजापति है। इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामने आते हैं। विश्वनिर्माण आप् की आहुति से होगा। वह इत प्रजापति का चौथा पाद है। तीन पाद विश्वके आधार किन्तु विश्वातीत हैं। इस नित्य सिद्ध-प्रिपाद्विभूति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रकृत श्रापि ने तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एवं एक [चौथे] पाद से विश्व का निरूपण किया है। यही तो मन्त्र का मन्त्ररत्न है, यही वेदवाणी का उत्कर्ष है।

“अनेत्रदेके मनसो जवीयो, नैर्द्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्दावतोऽन्यानत्पेति तिष्ठन्”

उक्त त्रिपान्मन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है। सृष्टि संसृष्टिभावपर निर्भर है। संसृष्टि ही यज्ञ है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यज्ञ है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यज्ञ है। इसी त्रिचात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न लिखित चतुर्थपाद हमारे सामने आता है—

“तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति”

द्विप्रसन्न नामक यजुर्वेद के जूभाग से तप-श्रम-द्वारा पहलस्य नाम का अग्रज [सुवस] उत्पन्न हुआ, यह कहा जा चुका है। प्रकरणासंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पदार्थ की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोषा इन तीनों भावों की अपेक्षा रहती है। रेत उत्पत्ति का कारण है, उपादान कारण है। परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में अक्षमर्ष है। अन्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनयिता बनता है। बीज ही वृक्ष बनता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु भूर्गर्भ में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन कर्म में अक्षमर्ष है। इस प्रकार जो द्रव्य वस्तु का उपादान बनता है—वह तो रेत है, एवं

* “प्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः षादोऽप्येहामवत् पुनः” (पञ्च.सं० ।

जिस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर वह अपनी प्रजनशक्ति को विकसित करने में समर्थ होता है, वह प्रतिष्ठाभूमि योनि है। बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भूर्गम भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को भूर्गम में टासनेवाला तीसरा पदार्थ [वृत्ता-बीजवपनकरने वाला] और होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ—'रेतोषा' नाम से प्रसिद्ध है। वैधव्य में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अर्घ्य रेतोषा है। रेत का आधाता योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि, किंवा पदार्पोत्पत्ति होती है। सृष्टि-कामुक द्विब्रह्म प्रजापति सृष्टिनिर्माण करना चाहता है। सृष्टिप्रक्रियामें रेत-रेतोषा-योनि तीन भाव अन्वित हैं। इधर प्रजापति के पास सिवाय अपने आप के (ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म के) दूसरी वस्तु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको ब्रह्म-सुब्रह्म इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से वह ब्रह्म बनता है, एक भाग से सुब्रह्म बनता है। ब्रह्म यजु है, सुब्रह्म आप है। यजु अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध भार्गव मातरिश्वा नामक वायु रेतोषा है। आहुतिरूप आपो-ब्रह्म में आप-वायु-सोम-अग्नि-यम आदित्य यह ६ भाग बतलाए गए हैं। उन में अंगिरा नाम का यम वायु—'यमो वै अयसानभ्येष्टे' (शत. ७।१।१३) के अनुसार [रुद्रमूर्त्तियम] सृष्टि का प्रवर्तक नहीं, अपि तु निरर्त्तक है, विच्छेदक है। सृष्टि शिववायु से होती है। शिववायु वही भार्गववायु है। इसकी प्राण-पवमान-मातरिश्वा-समिता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। इन चारों में पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा वायु ही आपरूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिश्वा के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक होगा है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमात्र का उपलक्षण है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। यह अग्नि चित्त चित्तेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्तयमग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चित्तेनिधेय से बहिर्मण्डल का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में विलपिण्ड को सकेतभाषानुसार 'पृथिवी' कहा जाता है, एवं चित्तेनिधेयपिण्ड को दिव्यप्राण के समावेश से 'सुन्नोक' कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी, महिमाद्यौ इन दो भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सखिता, प्राण, पचमान इन तीनों भार्गववायुतत्त्वों का महिमानण्डल से सम्बन्ध है। महिमानण्डल में तीनों प्राणवायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुग्रह करते हैं। इधर महिमा का विकास चित्पिण्ड के आचीन है। बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एवं बिना मातरिखा के पिण्ड नहीं; माता [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिखा है। पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को स्वस्वरूप में सुस्थित रखना यह दोनों कार्य मातरिखा के हैं। आपोमय समुद्र में आप्तव्य वायु के प्रवेश से पानी का भाग घन हो जाता है। घनावस्थापन्न यही पानी 'अपांशर' [पानी की थर-मलाई] नाम से प्रसिद्ध है। यह घन परमाणु भूपिण्ड के उपादान बनते हुए पार्थिवपरमाणु नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हीं के लिए—'अद्भ्यः पृथिवी' यह कहा जाता है। यह अद्भ्यपरमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में श्रुतस्वरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं। उस परिस्थिति में वही मातरिखावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) चलता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का संकलन कर—उन पर व्यपन होना हुआ उन्हें पिण्डरूप में परिणत कर देता है। एककालावच्छेदेन विशकलित सब परमाणुओं को संकलित करना इसका पहिला काम है, संकलित कर पिण्डावस्थापन्न उस पदार्थ के चारों ओर वेद्यत होना इसका दूसरा काम है। यदि मातरिखा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का संकलन न करे तो, दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जायें। ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण असंभव होजाय। चूंकि यह मातरिखा वायु एक ही काल में मृतपरमाणुओं का चारों ओर से संवरण कर उस संकलित भावापन्न पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है। "वृणुते—(संवृणुते) इति वरः, अद्भ्योनि—इति—अहः, वरश्चासौ अदृशेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वचन है। इत महाविष्वक् में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच महापिण्ड माने जाते हैं। परिभाषा के अनुसार ज्ञानव्योतिर्मय सब पिण्ड स्वयम्भू नाम से, अज्ञानव्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वयव्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से, परव्योतिर्मय सब पिण्ड

चन्द्रमा नाम से, एवं रूपज्योतिर्मय सब पिण्ड पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं । सप्तलोकात्मक विश्व में अतंस्य पिण्ड हैं । नक्षत्रपिण्ड ही अतंस्य हैं । इन सब पिण्डों की जातिएं उक्त प्रकार से पांच ही हैं । अतः पञ्चयावत् पिण्डों का स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांच महापिण्डों में अन्तर्भाव समझलेना चाहिये । पांचों पिण्डों का स्वरूप इसी मातरिश्वा नाम के वराहवायु से संपन्न हुआ है । यदि प्रजापति वराहरूप धारण न करते तो आपोमय समुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पांचों ही भूपिण्ड सदा के लिए पानी में डूबे रहते । इसी वराह की कृपा मे भूपिण्ड का उद्धार होता है । अतएव पृथिवी को वराह की पत्नी माना जाता है । स्वयम्भू आदि पांचों भूपिण्डों का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप समर्पक, तत्संश्लिष्ट वराह भी पञ्चधा विभक्त होता हुआ पांच स्वरूप धारण करलेता है । वे पांचों वराह क्रमशः आदिवराह, यज्ञवराह, श्वेतवराह, ब्रह्मवराह, एमूपवराह इन नामों से प्रसिद्ध हैं । विरव का आदिपर्व स्वयम्भू है, अतएव तत्सम्बन्धी वराह 'आदिवराह' नाम से प्रसिद्ध है । 'तस्मिन्नपो मातरिश्वाद्धानि' इसमन्त्र-भाग का मातरिश्वा पारमेष्ठ्य 'यज्ञवराह' है । यज्ञ का प्रवक्तक विष्णु अक्षर है । इस की विकासभूमि यही परमेष्ठी है । अतः विष्णुमय परमेष्ठी को हम अथर्व ही यज्ञमूर्ति कहने के लिए तय्यार हैं । अपि च—अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है । अग्नि अग्नि है, सोम मृत्यु है । दोनों परमेष्ठी के मनोना हैं । स्वयम्भू का ब्रह्माद्रिरूप त्रयीवेद ही वाक्पाग से आपोमय (भूय-निरोमय) यज्ञ बनता है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' इत्यादि से स्पष्ट है । इन्हीं सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञमण्डल मानने के लिए तय्यार है ।

प्रजाकामुरु प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठययज्ञ को ही उत्पन्न करता है । यज्ञद्वारा प्रजा का निर्माण करता है । इस आपोमय यज्ञतत्त्व को पिण्डरूप में परिणत करनेवाला मातरिश्वा 'यज्ञवराह' नाम से प्रसिद्ध है । परमेष्ठी के अन्तर स्वरूप से घोरकृष्ण, परन्तु सोमाहुति से ज्योतिर्मय बना हुआ विश्व का केन्द्रमूत रवेत सूर्य है । इस का अयच्छेदक वायु 'श्वेत-वराह' नाम से प्रसिद्ध है । प्रकृति यज्ञ में अग्नि होता है, वायु अन्वयु है, आदित्य उद्गाता

है, एवं चन्द्रमा ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मात्मक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिवा 'ब्रह्मवराह' है। भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक वराह 'एमूपवराह' नाम से व्यवहृत होता है। 'एमूप' शब्दमें 'आ-ईम-वस्' यह तीन विभाग है। ईम-भूपिण्ड की धोर इशारा है, आ-आसमन्तात् भावका बोधक है, वस् व्याप्ति का सूचक है। 'बह इस के चारों ओर बस रहा है' एमूप का यही अर्थ है। इसी पार्थिव वराह का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१ "तां (प्रदेशभार्त्री (पृथिवी) एमूप इति वराह उज्जघान ।

सोऽभ्याः पतिः प्रजापतिः । (शत. १४।१।११।)"

२ "स वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमञ्जत् । (तै. १।१।३।६।)"

मातरिवा पांचों का सामान्य नाम है, आदिवराह, पञ्चवराहादि विशेषनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है। जैसे पृथिवी में दधिरस (घनरस) का साम्राज्य है, युलोक में मधुरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत (सोम) का साम्राज्य है, एवमेव अन्तरिक्षगत वायु में घृतस (ताल रस) की प्रधानता है—'घृतमन्नरिक्तस्य' (शत.)। यद्यपि वायुप्राणप्रधान घृत सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमात्रा 'शूकर' नाम के पशु में ही रहती है। शूकर पशु उस वायुरूप आधिदैविक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार कश्यप प्रजापति का अवतार कूर्म (कछुआ) है, एवमेव वराहप्रजापति का अवतार शूकर पशु है। अतएव उतर पशुओं की अपेक्षा शूकर में चर्मा (घृत) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक घृत इसमें रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अग्नी (पार्थिवार्थी) ह वै देवा घृतकुम्भं पचेथयाञ्चक्रुः, ततो—

वराहः सम्बभूव । तस्माद् वराहो मेदुरः, घृतादि सम्भूतः"

(शं. १।१।३।१८)

पार्थिव अग्नि रुद्र है। यह श्लोच [गन्ध] मूर्ति है, इसी में घृताइति होने से शूकरपशु उपलब्ध होता है। राजसूयपत्र में दीक्षित राजा वाराहीउपानय [शूकरचर्म के जूते] पहिनता

पूर्व में हमने यजुस्वरूप ब्रह्माग्नि को पुरुष कहा था एवं सुबलरूप आप को स्त्री कहा था । आज इससे ठीक विपरीत कहते हैं । अग्निरूप बल स्त्री है, आपोमय सुमल पुरुष है । वह अग्निपुरुष स्त्री बन रहा है, वह सुबलस्त्री पुरुष बन रही है । इस विपरीत का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जासकता है । आप जिन्हें मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रियाँ हैं, एवं जिन्हें स्त्री कहते हैं, वे सब पुरुष हैं । इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

स्त्रियः सतीम्नां उ मे पुंस आहुः परयन्तृणश्चान वि चेतदन्धः ।

कविर्धः पुत्रः स ईनाचिकेत यन्ता विजानान् स पितृष्वितासत् ॥

श्रुत् सं० १ मण्डल, अस्पृशामीपरुक्त १६४, १५ मं० ।

सर्वश्री सायणाचार्यने उक्त मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष मेद से दो अर्थ किए हैं । अधिदैवतपक्ष मे सौररश्मियों की प्रधानता मानी है रश्मियों पर ही अर्थ धटाय है । एवं अध्यात्मपक्ष मे निरस्तसमतोपाधिक विशुद्ध आत्मा के साथ अर्थ वा सम्बन्ध किया है । इधर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिने मन्त्र को आत्मगति परक लगाया है । इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं है, वह अर्थ स्वतन्त्र अर्थ है । सायणाचार्य ने जो अर्थ किए हैं, उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह विप्रतिपत्ति है कि वहां पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से निरलेपण नहीं हुआ है । केवल शब्दशब्द पर विश्राम हुआ है । इस कथन से हम अपने वेदप्रेमी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपलब्ध वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से भले ही उपयोगी हों, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं अमर्यादित से प्रतीत होते हैं । उदाहरण के लिए अन्नशब्द को लीजिए । अन्नशब्द का ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अन्नमिति द्रव्यक्षरम्' यह निर्वचन हुआ है । भाष्यकारने 'अन्न-इत्येकमक्षर, नभित्येकमक्षरम्' यह निर्वचन किया है । विचार कीजिए क्या यह निर्वचन ठीक है । अन्न-योर नम्-अक्षर है, इस सर्वविदित विषय के लिए गमीराशया श्रुतिने—'अन्नमिति-

द्वयक्षरम्' कहा हो—यह बात नहीं जचती । अथर्व ही श्रुति किसी गूढ अर्थ को सूचित करती है । हमारी दृष्टि से यहा दो अक्षरों से अग्नि एव सोम अभिप्रेत हैं । पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र—यह तीन अक्षर सहचारी हैं, अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं । अग्नि की विनासभूमि सूर्य है, सोम की विनासभूमि चन्द्रमा है । सूर्यचन्द्ररस के समन्वय से अन्न का निर्माण होता है । यह अन्न ओषधि—वनस्पति भेद से दोभागों में विभक्त है । ओषधियों में सौर अग्नि गौण रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोबल उर्द्धक है , अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा जाता है , चन्द्रमा ही मन का अधिष्ठाता है । एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गौण, सौर अग्नि प्रधान रहता है । अतएव वनस्पतिष् बुद्धिर्द्धक मानी जाती हैं , सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्तक है । इसप्रकार ओषधि—वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि—सोम दोनों अक्षरों की सत्ता सिद्ध होजाती है । श्रुति का लक्ष्य इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि आबालवृद्ध विदित अक्षर—ओर नम् अक्षरों की ओर । यही दशा उपर्युक्त मन्त्रार्थ की है । यद्यपि विषय अत्राकृत है, तथापि शैली के परिचय के लिए रेतोद्य प्रकरण के सम्बन्ध से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ पाठकों के सम्मुख उपदिष्ट किया जाता है ।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में आत्मविषयिणीभावना, रश्मिविषयिणीभावना, शुक्रविषयिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है । प्रकृत में शुक्रविषयिणी भावना का ही सम्बन्ध है, अन्न सूचीरुटाह न्याय से पहिले सत्तेर से आत्म० रश्मि० भावना का ही दिग्दर्शन करया जाता है ।

१—आत्मविषयिणीभावना

आत्मविषयिणीभावना के सम्बन्ध में आपको अक्षांग्या, देवात्मा, भूतात्मा इन तीन आत्मविशेषों को सामने रखना पड़ेगा । एतयम्भुवमात्मा को अक्षात्मा कहा जाता है, सौर

१-इत विषय का विषय विवेचन शतत्रय विज्ञानमाध्य के प्रथम वर्ष में उपरवक्ष्य ब्राह्मणमाध्य में देखना चाहिये ।

आत्मा देवात्मा है एवं पार्थिवआत्मा भूतात्मा है । उपनिषदों में स्वायम्भुव आत्मा की प्रधानता है, निगमशास्त्र [ऋक्-यजुः साम नाम से प्रसिद्ध वेदत्रयी] में सौरआत्मा की प्रधानता है, एवं आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है । मौलिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है, यौगिरु सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एवं सौरप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ सम्बन्ध रहस्य बतलाने वाला वेदविभाग सामवेद है । यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा देवात्मा है । केनोपनिषत् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है । अतः प्रकृत में इनके नाम मात्रों का उल्लेख कर दिया है । वहाँ (केनोपनिषत् में) 'ब्रह्म इ देवेभ्यो विजिज्ञे' 'भूतेषु भूतेषु निचिख धीरः।' यह कहा गया है । इनमें ब्रह्म' ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' देवात्मा का सूचक है, एवं 'भूतेषु भूतेषु' भूतात्मा का सूचक है ।

अव्ययपुरुषालम्बनक्षरपुरुषताधकश्चरुपुरुष ब्रह्मात्मा है, यही औपनिषदपुरुष किं वा औपनिषदात्मा है । वाह्यमप्राणरूप ध्वंगीप्राण के समवाय से जिस अङ्गीप्राण का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (इन्द्रियप्राणों का आत्मा है, इसी का नाम देवात्मा है । यही नैगमिक आत्मा है । जो जिसका उन्मथ-ब्रह्म-साग होता है, यही उसका आत्मा कहलाता है । यही आत्मा भूतात्मा है । इसी को आगमिकआत्मा कहा जाता है । इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा (ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है ।

उक्त तीनों आत्मविवर्त एकमात्र अव्यय पुरुष की विभूति हैं । यही ब्रह्मात्मा है, यही देवात्मा है, यही भूतात्मा है—'वचः परतरं नान्यत्' । अव्ययपुरुष की आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् यह पांच कलाएं बतलाइ गई हैं । इन पांचों के आनन्दविज्ञान मन, प्राणवाक् यह तीन विभाग हैं । प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसरा विभाग कर्मप्रधान 'कर्मात्मा' है । ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मात्मा अर्थशक्तिप्रधान है, इसी को अन्नात्मा भी कहा जाता है । याज्ञामाय का नाम अर्थ है । अन्न की ही याज्ञा होती है । यह विभाग मौलिक विभाग है ।

इसी अन्वयपुरुष से श्रानो जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महामाया के सम्बन्ध से हृदयबलरूप अक्षराक्षर का विकास होता है, जैसा कि पुरुषनिहक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अन्वयात्मा का कलाभूत कर्मात्मा प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इस पर कामात्मारूप मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अन्वयकर्मात्मा मन-प्राण-वाक् भेद से त्रिकल बन जाता है। कर्मात्मा का प्रथम भाग ज्ञानशक्तिघन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणभाग क्रियाशक्तिघन होता हुआ कामात्मा है, एवं वाक्भाग अर्थशक्तिघन होता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अन्वय के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-वाक् भेद से उक्त तीन आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। दूसरा विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मध्यपतिन कामरूपमन का कर्मात्मारूप प्राणवाक् पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द-विज्ञानरूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में अन्वय का ज्ञानात्माभाग आनन्द-विज्ञान-मन भेद से त्रिकल बन जाता है। आनन्द गुह्य ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की आधारभूमि बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अन्वय के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान-मन भेदसे उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध हो जाता है। तीसरा है मध्यपतिन काममय मन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अन्वय के आनन्द-विज्ञानरूप ज्ञान भाग के साथ, एव प्राणशक्तरूपकर्म भाग के साथ मध्यपतिन मन का सम्बन्ध रहता है, एवमेव मध्यस्थ मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानजन्त्या भवेद्विज्ञाना' यह निदान्त सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणवाक् के) सम्बन्ध से मन में भावरागा का उदय होता है। मध्यस्थ मन काम वापरण के सम्बन्ध में घुब्त हो पड़ता है, यह क्षोभ ही किण्व है। इस प्रकार केवल मनमें ही काम-विज्ञान-आनन्द इन तीन वृत्तियों का उदय हो जाता है। ज्ञानानुगृहीत काममयमन ज्ञानात्मा है, कर्मानुगृहीत वापरणमय मन कर्मात्मा है, विज्ञानवृत्तया वृद्धी मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विज्ञान-आनन्द-मन के सम्बन्ध से केवल मध्यस्थ कामात्मा मय मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध

ब्रह्मात्मविवर्त्तः → देवात्मविवर्त्तः → भूनात्मविवर्त्तः



दिव्यविभूतिः	१-आनन्दविज्ञाने	१-मनः	१-प्राणवाचो	अव्ययविवर्त्तम्
	२-आनन्दः	२-विज्ञानम्	२-मनः	
	३-कामः	३-विशेषः	३-आवरणम्	
	४-मनः	४-प्राणः	४-वाक्	
	५-अव्ययः	५-अक्षरः	५-आत्मक्षरः	
अक्षरविभूतिः	६-ब्रह्मा	६-इन्द्राविष्णु	६-अग्नीषोमी	अक्षरविवर्त्तम्
क्षरविभूतिः	७-प्राणः	७-अत्रावाचो	७-प्रजाभादौ	क्षरविवर्त्तम्



ब्रह्मात्मा

कामात्मा

कर्मात्मा

उपनिषत्

आरण्यक

ब्राह्मण

श्रीशोपनिषद् आत्मा
(ज्ञानकाण्डम्)

नैगमिक आत्मा
(उपासनाकाण्डम्)

आगमिक आत्मा
(कर्मकाण्डम्)



अव्यय, अक्षर, क्षरभेद से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विद्य में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन भेद से तीन विभागों में विभक्त होरहा है। चेतनसृष्टि उसका पहिला विरत है, इसका प्रधान अधिष्ठाता क्षर(अक्षर)विशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनसृष्टि इसका दूसरा विरत है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरुष [वामात्मा] है। एव अचेतनसृष्टि तीसरा विरत है। इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट क्षरपुरुष [कर्मात्मा] है। चेतनसृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एव क्षरप्राण का सहयोग है, अर्द्धचेतनसृष्टि में इन्द्रादिषु अक्षर, एव आप्-अक्षर का सहयोग है। एव अचेतन सृष्टि में अग्नीसोमबक्षर, एव अक्षानादक्षर का सहयोग है। चेतनसृष्टि ब्रह्मसृष्टि, किंवा आत्मसृष्टि है। अर्द्धचेतनसृष्टि देवसृष्टि, किंवा प्राणसृष्टि है। एव अचेतनसृष्टि भूतसृष्टि, किंवा वाक्सृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

१	१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन-चेतनसृष्टि	—	३-ब्रह्मात्मसृष्टि	} पौंडरीपुरुषस्त्रिपाद
१	२-वामात्मा-अक्षर-वामेनार्द्धचेतनसृष्टि	—	३-देवात्मसृष्टि	
	३-कर्मात्मा-क्षर-कर्मेणा-अचेतनसृष्टि	—	३-भूतात्मसृष्टि	



२	१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन-चेतनसृष्टि	—	३-ब्रह्मानसृष्टि	} अव्ययपुरुषस्त्रिपाद
	२-वामात्मा-अव्यय-वामेनार्द्धचेतनसृष्टि	—	३-देवसृष्टि	
	३-कर्मात्मा-अव्यय-कर्मेणा-अचेतनसृष्टि	—	३-भूतात्मसृष्टि	



३	१-ज्ञानात्मा-ब्रह्मा-ज्ञानेन-चेतनसृष्टि	—	३-ब्रह्मात्मसृष्टि	} अक्षरपुरुषस्त्रिपाद
	२-वामात्मा-इन्द्रादिषु-वामेनार्द्धचेतनसृष्टि	—	३-देवात्मसृष्टि	
	३-कर्मात्मा-अग्नीसोम-कर्मेणा-अचेतनसृष्टि	—	३-भूतात्मसृष्टि	



- १-ज्ञानात्मा — प्राणः— ज्ञानेन चेतनसृष्टिः —ॐ ब्रह्मात्मसृष्टिः
 २-कामात्मानो-अव्याचौ-कामेनाह्वेतेनसृष्टिः-ॐ देवात्मसृष्टिः
 ३-कर्मात्मानो-अन्नान्नादौ-कर्माणा-अचेतनसृष्टिः-ॐ भूतात्मसृष्टिः

चरपुरुषस्त्रिपाद

इन तीन सृष्टियों का आगे जाकर सृष्टरूप में स्वयम्भू-सूर्य-पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आत्मन्वन है, अतएव प्रकारणारम्भ में हमने ब्रह्मात्मा को स्वयम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अह्वेतेनसृष्टि का आत्मन्वन है, अतएव देवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि वा आत्मन्वन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह उक्त आत्मविवर्त्तो की चरम अव-सानभूमि है।

- १-ब्रह्म-स्वयम्भू-ज्ञानमयो-मनोनयः—ज्ञानात्मा —ॐ ब्रह्मात्मा
 २-देवः-सूर्यः—क्रियामयः-प्राणमयः—कामात्मा —ॐ देवात्मा
 ३-भूतम्-पृथ्वी-अर्धमयी-बाह्ययी-कर्मात्मा —ॐ भूतात्मा

त्रिपादूर्ध्व उदैवपुरुषः

- १-पञ्चकलाव्यय-द्विकलाव्यय-ब्रह्म—प्राणमयः—स्वयम्भुव आत्मा —ॐ ब्रह्मात्मा
 २-पञ्चकलाद्वर-एककलाव्यय-इन्द्रविष्णु-आपोमयः—सौर आत्मा —ॐ देवात्मा
 ३-पञ्चकलाद्वर-द्विकलाव्यय-अग्नीपोम-अन्नान्नादमयः-पार्थिव आत्मा —ॐ भूतात्मा

- १-चेतनाप्रधानः—पुरुषः—चेतनपुरुषः
 २-अह्वेतेनाप्रधानः-पुरुषः—अह्वेतेनपुरुषः
 ३-अचेतनप्रधानः—पुरुषः—अचेतनपुरुषः

'पुरुष एवेदं सर्वम्'

अव्यय, अक्षर, क्षरमेद से पुरुषपर्यन्त वह पुरुष त्रिषु में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन भेद से तीन विभागों में विभक्त हो रहा है। चेतनमृष्टि उसका पहिला विभक्त है, इसका प्रधान अधिष्ठाता सारस्वतविशिष्ट अव्ययपुरष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनमृष्टि इसका दूसरा विभक्त है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरष [कामात्मा] है। एव अचेतनमृष्टि तीसरा विभक्त है। इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट क्षरपुरष [कर्मात्मा] है। चेतनमृष्टि में अक्षरब्रह्मा, एव सारस्वत का सहयोग है, अर्द्धचेतनमृष्टि में इन्द्रादिषु अक्षर, एव धाप्-धाक्षर का सहयोग है। एवं अचेतन मृष्टि में अग्नीसोमधक्षर, एव अन्नानादक्षर का सहयोग है। चेतनमृष्टि ब्रह्ममृष्टि, किंवा आत्ममृष्टि है। अर्द्धचेतनमृष्टि देवमृष्टि, किंवा प्राणमृष्टि है। एव अचेतनमृष्टि भूतमृष्टि, किंवा वाक्मृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होना है।

१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन-चेतनमृष्टि	—३-	ब्रह्मात्ममृष्टि	} पोहरीपुरुषस्त्रिषुपात्र
२-कामात्मा-अक्षर-कामेनार्द्धचेतनमृष्टि	—३-	दैवमृष्टि	
३-कर्मात्मा-क्षर-कर्मणा-अचेतनमृष्टि	—३-	भूतात्ममृष्टि	



१-ज्ञानात्मा-अव्यय-ज्ञानेन चेतनमृष्टि	—३-	ब्रह्मात्ममृष्टि	} मध्ययपुरुषस्त्रिषुपात्र
२-कामात्मा-अक्षर-कामेनार्द्धचेतनमृष्टि	—३-	दैवमृष्टि	
३-कर्मात्मा-अक्षर-कर्मणा अचेतनमृष्टि	—३-	भूतात्ममृष्टि	



१-ज्ञानात्मा-अक्षर-ज्ञानेन चेतनमृष्टि	—३-	ब्रह्मात्ममृष्टि	} अक्षरपुरुषस्त्रिषुपात्र
२-कामात्मा-इन्द्रादिषु-कामेनार्द्धचेतनमृष्टि	—३-	दैवमृष्टि	
३-कर्मात्मा-अग्नीसोमो-कर्मणा अचेतनमृष्टि	—३-	भूतात्ममृष्टि	



- ४
- | | |
|--|--------------------|
| १-ज्ञानात्मा — प्राणः — ज्ञानेन चेतनसृष्टिः — ८- ब्रह्मात्मसृष्टिः | } चरपुरुषस्त्रिपाद |
| २-कोमात्मानौ-अब्रह्मचौ-कामेनाहं चेतनसृष्टिः- ३- देवात्मसृष्टिः | |
| ३-कर्मात्मानौ-अज्ञानादौ-कर्मणा-अचेतनसृष्टिः- ७- भूतात्मसृष्टिः | |

इन तीन सृष्टियों का आगे जाकर सृष्टरूप में स्वयम्भू-सूर्य-पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव प्रकरणारम्भ में हमने ब्रह्मात्मा को स्वयम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अहं चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव देवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह उक्त आत्मविवर्तों की चरम अव-
सातभूमि है।

- | | |
|--|----------------------------|
| १-ब्रह्म-स्वयम्भूः-ज्ञानमयो-मनोमयः — ज्ञानात्मा — ८- ब्रह्मात्मा | } त्रिपादूर्ध्व उदैवपुरुषः |
| २-देवः-सूर्यः — क्रियामयः-प्राणमयः — कामात्मा — ३- देवात्मा | |
| ३-भूतम्-पृथिवी — अर्थमयी — वाह्यमयी — कर्मात्मा — ७- भूतात्मा | |

- | | |
|--|------------|
| १-पञ्चकलाव्यय — द्विकलाव्यय — ब्रह्म — प्राणमय — स्वयम्भुव आत्मा — ८- ब्रह्मात्मा | } देवात्मा |
| २-पञ्चकलाक्षर — एककलाव्यय — इन्द्राविष्णु — धापोमयः — सौर आत्मा — ३- देवात्मा | |
| ३-पञ्चकलाक्षर — द्विकलाव्यय — अग्नीषोम — अज्ञानादमयः — पार्थिव आत्मा — ७- भूतात्मा | |

- | | |
|--|------------------------|
| १-चेतनाप्रधानः — पुरुषः — चेतनपुरुषः | } 'पुरुष एवेदं सर्वम्' |
| २-अहं चेतनाप्रधानः — पुरुषः — अहं चेतनपुरुषः | |
| ३-अचेतनप्रधानः — पुरुषः — अचेतनपुरुषः | |

उक्त तीन आत्मविस्तारों के कारण त्रेधा विभक्त आत्मपुरुष की उपासना भी तीन ही तरह से होसकती है । सनस्त उपनिषदों में उपासना के तीन ही द्वार हैं । वह आत्मपुरुष चेतन-दृष्टि से भी उपास्य है, अर्द्धचेतनदृष्टि से भी उपास्य है, अचेतनदृष्टि से भी उपास्य है । अधिकारी भेद से उपासना भेद प्रतिष्ठित हैं । प्रथमाधिकारी अचेतनदृष्टि से उसकी उपासना कर सकते हैं, मध्यमाधिकारी अर्द्धचेतनदृष्टि से, एवं उत्तमाधिकारी चेतनदृष्टि से उसका ध्यान कर सकते हैं । यही तीनों उपासनाएं सर्वभूतान्तरात्मोपासना, हिरण्यगर्भोपासना, अश्वत्थोपासना नाम से प्रसिद्ध हैं । इन तीनों उपासनातत्त्वों का उपनिषदों में पृथक् पृथक् रूप से निरूपण हुआ है । विस्तारभय से अधिक न कहकर प्रवृत्त में केवल तीनों उपासनाओं के तीन मन्त्र उपन्यस्त कर दिए जाते हैं—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रमूर्धो दिशः श्रोत्रे वाग्ब्रह्मणाश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीद्वेष सर्वभूतान्तरात्मा

(सुष्टक० २।१।४)

सर्वभूतान्तरात्मा

हिरण्यगर्भः समवतताप्रे भृतस्य ज्ञानः पतिरेक आसीत् ।

स दाशर पृथिवीं द्यामुत्तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु सं० १३।४)

हिरण्यगर्भः

ऊर्ध्वमूर्धोऽवाकृगाव एपोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक तद् अत्र तदेवामृतमुच्यते ॥ (कठ० ६।१।१) ।

यस्मान् पर नापरमस्ति किञ्चिद्, यस्मान्नाणीयो न ज्यापोऽस्ति करिचत् ।

दृढ इव स्तनो दिशि तिष्ठत्येकत्वेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

(श्वेता० ३।१)

अश्वत्थः

सर्वभूतान्तरात्मनोपामना स्वयम्भूला उपासना है । स्वयम्भू निम्नरूप है, सर्वरूप है । पृथिवीपर्यन्त सातों लोक, भूत, देवता, पशु सब कुछ इसके उदर में समा रहे हैं । सप्तलोक

साम्बन्ध से ही इसे 'सप्तवितंस्तिक्तय' कहा जाता है। यही निरवेधर है, यही प्रसात्मा है। इस विभ्ररूप की उपासना करना, निरंतर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना आत्मविकास का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह आत्मा ज्ञानात्मा बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

हिरण्यगर्भोपासना सूर्यमूला उपासना है। सूर्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौरअग्निमण्डल हिरण्य है। इसके गर्भ में सूर्य प्रतिष्ठित है। हिरण्य के चारों ओर वायु और वाक् का स्तर है। सतत सूर्यभ्यान से अन्त्यात्मगत देवप्राण सबल बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्याबुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा कामात्मा (देवता) बनता हुआ प्राणप्रधाना अर्द्धचेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "वह एक स्तम्भ वृक्षन्त खड़ा है, वह शान्त है, अचल है" इस प्रकार से विश्व की वृक्ष (संसारवृक्ष) दृष्टि से भावना करने वाले के आत्मा में अर्थ-शक्ति का उदय होता है। अर्थद्वारा क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक ज्ञानतरंग प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएं ओङ्कारोपासना, उद्गीथोपासना, प्रणवोपासना नाम से भी व्यवहृत हैं। स्वयम्भूमूला सर्वभूतान्तरामोपासना ओंकारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'ओमित्येतत्तरमिदं सर्वम् । तस्योपरुष्यान् भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यद् भिक्तासातीतं तदप्योङ्कार एव' (माण्डूक्य उ० १)।

"एतद्दे सत्त्वकाप परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" [प्र० उ० ५]।

सूर्यमूला हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि "य एवासां तपति तमुद्गीथ-मुपासीत" (छां० उ० ३।३।१) श्लादिरूप से स्पष्ट है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रणवोपासना है। प्रसंगोत्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कृत ईशोपनिषत् स्वयम्भूमूला ओं-कारोपासना (सर्वभूतान्तरामोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'ओं पूर्णमद्ः पूर्णमिदम्'

इस आरम्भ के मंगलगाठ से सिद्ध है । कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अथत्योपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शांस्व एषोऽश्वत्थः सनातनः" (वठ० ६।१।) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है, एवं मुण्डकोपनिषत्-सूर्यमूला उदगीभोपासना (दिरूपणोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि "तदेतन्नसखं [आदिसः] मन्त्रेषु कर्मणि कर्मयो यान्यपंरयन्" [मु० १।२।१।] "येनान्नरं पुरुषं येद सखम्" [मु० १।२।१.३।] "यत्र पवते तत्र सूर्यः" [मु० २।१।६।], "हिरण्यमे परे कोते निरजं ब्रह्म निष्कनम्" [मु० २।२।१।] यदा पश्यः परयेत रुक्मवर्णम्" [मु० ३।१।३।] 'बृहद्घ तदिव्यमचिन्त्यरूपम्" [मु० ३।१।७।] "स्वयं जुहोते एकारं श्रद्धयन्तः" [मु० ३।१।१०।] इत्यादि रूप से स्पष्ट है । तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है । स्वयम्भू को मूल मानकर पृथिवी तरु आजाना ओंकारोपासना है । पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू तक चले जाने प्रणवोपासना है । सूर्य को मूल मानकर इधर पृथिवी एवं उधर स्वयम्भू तक चले जाना उदगीभोपासना है । प्रणव भी ओंकार है, उदगीभ भी ओंकार है । जो प्रणव है वही उदगीभ है, जो उदगीभ है वही प्रणव है । दृष्टिकोण में भेद है, फलन तीनों ध्यात्मदृष्टि से अभिन्न हैं । इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर द्वान्दोग्यश्रुति कहती है—

“अथ खलु य उदगीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उदगीथ इति ।

असौ वा आदित्य उदगीथः, एषः प्रणवः—ओम् । इत क्षेत्रे स्वरत्नेनि”

(इति० उ० ३.५।१) ।

ओंकारोपासना अव्ययोपासना है, उदगीभोपासना अक्षरोपासना है, प्रणवोपासना क्षरोपासना है । कारण अव्यय का स्वयम्भुव ब्रह्मा पर, अक्षर का सौरभद्र पर, क्षर का पार्थिव प्रुप्ति पर अनुग्रह है, जैसा कि पूर्ण की तान्त्रिकार्यों से स्पष्ट कर दिया गया है । इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना भूवात्मा से सम्बन्ध रखती हुई कर्मकाण्ड है, उदगीभोपासना देववात्मा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाण्ड है, ओंकारोपासना ब्रह्मात्मा से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाण्ड है । गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है । कर्म का सम्बन्ध बाह्यभूत भूतमात्र के साथ है, उपासना देवता की ही होती है, ईश्वर अनुपास्य है, केवल ज्ञानगम्य है ।

- १-सर्वभूतान्तः(मनोपासना) (स्वयम्भूमूला-ब्रह्माम्नोपासना-श्लोकरोपासना)-ज्ञानकाण्डम्
 २-हिरण्यगर्भोपासना (सूर्यमूला-द्वैवाम्नोपासना-उद्गीथोपासना)-उपासनाकाण्डम्
 ३-अश्वत्थोपासना (पृथिवीमूला-भूतात्मोपासना-अश्वत्थोपासना)-कर्मकाण्डम्

श्रीपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था । परन्तु कालव्यतिक्रम से ज्यों ज्यों मानव समाज का बौद्धभाव निर्वह होता गया त्यों त्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में स्थित बनता गया । अतएव पुराणयुग में उक्त तीनों उपासनाएं प्रतिमोपासनां रूप में परिणत हो गईं । इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अत्रैदिक है । स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उसी की प्रतिमा हैं । पृथिवीपर दृष्टि रक्खी जाती है, मनोयोग आत्मापर रहता है । सूर्यविम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रक्खी जाती है, तद्द्वारा ध्यान सर्वव्यापक आत्मा का किया जाता है । निरुक्त से अनिरक्त पर पहुँचना ही तो प्रतिमोपासना है । स्थूल को लक्ष्य बनाकर सूक्ष्म पर पहुँचना ही प्रतिमापूजन है । "दृष्टि अन्यपर-लक्ष्य अन्य पर" इसी का तो नाम उपासना है । विद्युद्ध अमूर्त की उपासना तो बन ही नहीं सकती । उपासना मूर्तब्रह्म, किंवा मूर्त्ति की ही हो सकती है । कोई प्राकृतिक पृथिवी-सूर्यपिण्ड आदि मूर्त्तियों की उपासना करता है तो अस्मत् सदृश साधारण अधिकारी पृथिवी के अवयवरूप पाषाणादि की प्रतिमा को ही भगवदाराधना का साधन मानते हैं । लक्ष्य एक है, प्रकार में भेद है । पुराणमें किसी नवीन अत्रैदिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया है, अपि तु जो उपासना वेद (उपनिषत्) में अगीरूप से है उसे अधिकारी की ही स्थितता से अह्न का रूप दे डालना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है ।

१-चेतनेदृष्टिः, चेतनोपासनम् । २-अर्द्धचेतनेदृष्टि, अर्द्धचेतनोपासनम् । ३-अचेतनेदृष्टिः, अचेतनोपासनम् ।

* इस विषय का विशाल विवेचन श्री १००० विज्ञानशास्त्र में दृश्य है ।

इम आरम्भ के मंगलवाक्य से सिद्ध है। कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अक्षयोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'ऊर्ध्वमूलोऽवाङ्गारं एषोऽश्वत्थः सनातनः' (वठ० ६।१।) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है, एवं मुण्डकोपनिषत्-सूक्तमूला उद्गीथोपासना (हिरण्यमूर्धोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'तदेतन्नसं [आदिसः] मन्त्रेषु कर्माणि कर्तव्या यान्परयत्' [मु० १।२।१।] 'येनात्तरं पुरुषं वेदं ससम्' [मु० १।२।१।] 'यत्र परिते नत्र सूर्यः' [मु० २।१।६।], 'हिरण्यमपे परे मीमे विरजं ब्रह्म निष्कनम्' [मु० २।२।१।] यदा पश्यः पश्येत रुक्मवर्णम्' [मु० ३।१।३।] 'बृहद्य तदिव्यमचिन्सरूपम्' [मु० ३।१।७।] 'एवं जुहोत एकीं श्रद्धयाः' [मु० ३।१।७।] इत्यादि रूप से स्पष्ट है। तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है। स्वप्न को मूल मानकर पृथिवी तक घाजाना ओंकारोपासना है। पृथिवी को मूल मानकर स्वप्न तक चले जाने प्रणवोपासना है। सूर्य को मूल मानकर एष पृथिवी एवं ऊपर स्वप्न तक चले जाना उद्गीथोपासना है। प्रणव भी ओंकार है, उद्गीथ भी ओंकार है। जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है। दृष्टिकोण में भेद है, 'नमन तीनों आगच्छति से अभिन्न हैं। इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्यश्रुति कहती है—

“अथ रजतु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति ।

असौ वा आदित्य उद्गीथः, एषः प्रणवः—ओम । इत घोष स्वरत्रेनि”

(छा० उ० ३।१।) ।

अचिन्त्यस्यापेयस्य निर्गुणस्य गुणा-मनाः ।

उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपरूपना ॥

जो क्रम उक्त तीनों उपासनाओं का था, वही क्रम यहां (ब्रह्मों, गुणों) अर्द्ध लु उपासक यह जानते हैं कि आर्यावत्त में उपासना के मूलस्तम्भ दो माने जाते हैं। प्रतिमा पहिला स्तम्भ है, वृद्धादि दूसरा स्तम्भ है। पीपल-बट-तुलसी-केना आदि वृद्धों की उपासना की जाती है। भगवच्चरित्र, भगवत् प्रतिमाओं की उपासना की जाती है। यह प्रतिमोपासना साकार-निराकार भेद से दो भागों में विभक्त है। शालग्रामोपासना निराकारोपासना है। हस्त-पाद-उर-व-शुद्धादि शरीर अथवायुक्त मूर्तियों की आराधना साकारोपासना है। इस प्रकार शालग्रामोपासना, प्रतिमोपासना, वृद्धोपासना भेद से पौराणिक उपासना तीन भागों में विभक्त है। चेतनवृष्टि सदा अद्वैत होती है, कर्तुल नहीं होती। पुरुष [मनुष्य] चेतन है, वह अद्वैत है। आधे खगोल से हमका निर्माण हुआ है। इस उपासना में प्रतिमा का स्वरूप पुरुषाकार जैसा बनाया जाता है। यही सुप्रसिद्ध प्रतिमोपासना पहिली सर्वभूतान्तरात्मोपासना है। अद्वैतचेतनोपासना शालग्रामोपासना है, यही हिरण्यगर्भोपासना है। शालग्रामप्रतिमा के केन्द्र में सुरर्षि रहता है। ऊपर का कृष्णस्तर स्वयम्भू है। सुरर्षि सूर्य की प्रतिमा है। शालग्राम सचमुच हिरण्यगर्भ है। तीसरी अक्षयोपासना वृद्धोपासना है। शालग्रामोपासना का बड़ा महत्व माना गया है। इसमें तीन भाग हैं। कृष्णभाव, रश्मिभाव, सूर्य भेद से शालग्राम त्रिवृत् है, त्रिपात् पुरुष है। ऊपर का कृष्णभाव साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा है, रश्मिभाव त्रिपणु है, केन्द्रस्थ सुरर्षिभाव शिव है। निर्मूर्ति की समष्टि शालग्रामप्रतिमा है।

प्रज्ञाउन्तर से विचार करिए—

विद्य में ध्याना के तीन प्रधान विस्त हैं। पहिला उदासीनभाव है, दूसरा प्रकृतिभाव है, तीसरा विहृतिभाव है। उदासीनभाव 'अमृतम' है, प्रकृतिभाव 'ब्रह्म' है, विहृतिभाव 'शुक्र' है। 'न त्वय कार्य करणं न विद्यते' के अनुसार अमृतस्वरूप उदासीनभाव कार्यकारण तीनों, प्रकृति, कार्य, विहृति कार्य है। कार्य, कारण, कार्यकारणतीन भेद से एक ही पुरुष

तीन भागों में विभक्त हो रहा है। इस विधाद्विभूति का पूर्वके अमृतोत्पत्तिसंस्थाप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। अतएव जिन तीन आत्मविवर्तों का विविध रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, उस सारे आत्मप्रपञ्च को 'अमृतम्' समझिए। अभी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। षोडशीपुरुष में ही कई प्रकार से तीन आत्मविवर्तों का भोग बतलाया है। ब्रह्म-देवात्म-भूतात्मसमष्टिरूप षोडशीपुरुष अमृतभाव है, इसीको ब्रह्मात्मा समझिए। यही विद्यालम्बन उदासीनभाव है। प्राणादि पांच विकार चररूप पंचप्रकृति ब्रह्मभाव है, यही देवात्मा है। वाक्-आप-अग्नि की समष्टि विकृति भाव है, यही शुक्र है, यही भूतात्मा है।

- १- षोडशी पुरुषः— उदासीनभावः — अमृतम् ++ → ब्रह्मात्मा — (ज्ञानात्मा)
- २- पञ्चप्रकृतयः — प्रकृतिभावः — ब्रह्म ++ → देवात्मा — (कामात्मा)
- ३- तिस्रो विकृतयः— विकृतिभावः — शुक्रम् ++ → भूतात्मा — (कर्मात्मा)

- उपर्युक्त इन तीनों आत्मार्थों के निम्नलिखित लक्षण समझने चाहिए—
- १- "अव्ययपुरुषालम्बनः चररूपसाधकोऽन्तरपुरुषः"— ब्रह्मात्मा (औपनिषदआत्मा)
 - २- "वाङ्मयवाखाङ्गीमाणासमवाये योऽयमङ्गीमाणाः— देवात्मा (नैगमिकआत्मा)
स इतरेषां प्राणानामात्मा"
 - ३- "यस्य यदुक्थं ब्रह्म च साम, तद् तस्यात्मा"— भूतात्मा (आगमिकआत्मा)



जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है— "स्त्रियः संतीः०" इत्यादि मन्त्र अन्वय-अक्षर-चररूप षोडशीपुरुष नाम के औपनिषद ब्रह्मात्मा का ही निरूपण करता है। यह ब्रह्मात्मा वस्तुतः श्री है, फिर भी "अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, चरपुरुष" इत्यादि रूप से इसे पुरुषशब्द से व्यवहृत किया जा रहा है, श्रीरूप आत्मा को पुरुष बतलाया जा रहा है। इसी विपरीत व्यवहार का दिग्दर्शन कराती हुईं श्रुति कहती है—

'स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः'

“शिशुर्वा—आगिरसो मन्त्रकृता मन्त्रकृदासीत् । स पितृन् पुत्रका इति-
 आमन्त्रयत् । तं पितरोऽब्रुवन्—अग्ने (करोषि) यो नः पितृन्—‘पुत्रका’
 इत्यामन्त्रयसे । सोऽब्रवीत्—अह वाच पिनास्मि यो मन्त्रकृत्—इति । (ने-
 पितरः—पुत्रोत्तरे—अश्रद्धधानाः) देवानपृच्छन्त त्ति देवा अब्रुवन्—एष वाच
 पिता, यो मन्त्रकृत्—इति । तद्वै सः (शिशुराद्गिरसः)—उदजयत्” इति ।

(साण्ड्यना० १३।३।२४)।

प्रकृत मन्त्रों विद्या के ज्ञानिप्राय से ही ‘पितृष्पितासत्’ यह कहा है । यह है अत्य-
 साम्यधी प्रथम अर्थ का संक्षिप्त दिग्दर्शन । अत्र सूर्यरश्मिसम्बन्धिनी भावना का दिग्दर्शन
 कराया जाता है ।

इति—आत्मविषयिणीभावना ।

१

१ —रश्मि विषयिणीभावना

विद्येन्द्रस्य सप्त दिग्दशमभिप्रजापति हे । प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु यह तीन बलाए
 णिय प्रतिष्ठित रहती हैं । आयु भाग आत्मा है, चोति भाग प्राण है, गौ भाग पशु है । यही
 तीन रूप के मनोता हैं—(दसिए ई उ. वि. मा २०१ पृ) । आयुभाग आत्मा की विवास-
 भूमि है, ज्योतिर्भाग प्राण की विवासभूमि है, एव गौभाग भूत का जनन है । त्रैलोक्य में जिनमें
 स्थूलभूत हैं सब का जनन सौर गौतम है । प्रकाशरूप देवताओं का विकास सौरज्योतिर्भाग
 में हुआ है । हम सब प्राणियों के आत्मा का आधार आयुभाग है । इन तीनों में औद्युत्तर

१ अक्षरदाता, भद्रदाता दश विद्या प्रदच्छति । जनिता चोत्तीञ्च य पच्येते नितर रमुता ॥

‘मुद्ग्यप्राण’ है, अग्नीप्राण है । इसी को ‘परोरजाप्राण’ कहा जाता है । इसी को लक्ष्य बनाकर—‘योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्’ यह कहा जाता है । इस आत्मप्राण को—‘आदित्यस्य परं भाः’ इस नाम से भी व्यवहृत किया जाता है । ज्योतिमाग प्राणरूप देवता है । यह अग्नि-सोम भेद से दो भागों में विभक्त है । आग्नेयप्राणावच्छिन्न सौरसावित्रिभि दाहरुहै, सौम्यप्राणावच्छिन्न पारमेष्ठ्य भार्गवसोम दाह्य है । दोनों का समन्वितरूप ज्योति है । आप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि सोम का समन्वित रूप ही है । स्थूलभूत पशुरूप है ।

- | | | | |
|----------------------------|-----|--------------------|-------------|
| १-आत्मा- आयुः (आत्मा) | →→→ | परोरजाप्राणः | } सौरसंस्था |
| २-प्राणः- ज्योतिः (देशः) | →→→ | आग्नेय-सौम्यप्राणौ | |
| ३-पशुः - गौः (भूतानि) | →→→ | स्थूलभूतानि | |

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरजाप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं । इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से अविवक्त सौरआत्मा भी दो भागों में विभक्त [त्रु] होजाता है । आग्नेयप्राणवच्छेदेन यही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, कारण अग्नि को पुरुष माना गया है । एवं सौम्यप्राणवच्छिन्न यही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है । इस दम्पति के मिथुनभाव से दशप्राणपूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है । सौररश्मिं यद्यपि अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रधानता सोम की ही है । कारण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है । रश्मिभाव साक्षात् जलता हुआ सोम है । सोम स्त्रीरूप है । अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमण्डल है । परन्तु आश्चर्य है कि भी विराट्-मयूखः-उत्सः-इत्यादि रूप से इन्हें पुंस्त्वनामक शब्दों से व्यवहृत किया जाता है । कारण स्पष्ट है । इत रहस्य को इनका कविपुत्र जानता है । अर्थात्-अग्नि सोम के मिथुनभाव से उत्पन्न होने वाले विराट् का स्वरूप देखिए-यहां आपको स्त्री-पुरुष दोनों भाव उपलब्ध होंगे । विराट् ज्योतिर्मण्डल है, ज्योति सोमजन्य है । सोम भृगु है, भृगु कवि है । भृगुसोम ही अग्नि में आहुत होकर विराट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भार्गव-तत्र को लक्ष्य में रखकर अग्निं विराट्पुत्र को ‘कवि’ शब्द से व्यवहृत किया है । अग्निसोम

विराट्पुत्र के पिता माता हैं। विराट्ज्योति ही उन दोनों के व्यक्तीमात्र का कारण है। यदि ज्योतिभाग उत्पन्न न होता तो—सूर्य में 'अग्नी और सोम दो तत्व हैं' इसका पता ही न लगता। यही कवि का परिज्ञान है। अपने माता पिता का अभिव्यञ्जक विराट्पुत्र अथवा ही पिता का भी पिता [अभिव्यञ्जक] है। सूर्यविज्ञान चक्षुर्विज्ञान, किं वा चान्द्रपुरुषविज्ञान है। जो चान्द्रपुरुषविज्ञानवेत्ता [सूर्यविज्ञानवेत्ता] हैं, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के स्त्रीरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है। अब तीसरे प्रधान अर्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति-राश्मिविषयिणीभावना

२

३-अथ शुक्रविषयिणीभावना

अचेतन अग्नि में अचेतन सोम की आहुति होना याज्ञिकसृष्टि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना मैथुनीसृष्टि है। अग्नि में घृणाहुति याज्ञिकसृष्टि है, शोणित में शुक्राहुति का होना मैथुनीसृष्टि है। उक्त मन्त्र प्रधान रूप से मैथुनीसृष्टि का ही रहस्योद्घाटन करता है। मन्त्रार्थ का उपक्रम करने हुए कहा गया था कि संसार में जितने पुरुष हैं, सब वास्तव में स्त्रिय हैं। स्त्रीरूप होने पर भी इन्हें [पुरुषों को] पुरुष कहा जाता है। एवं जितनी भी स्त्रिय हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं। पुरुषरूप होने पर भी इन्हें [स्त्रियों को] स्त्री कहा जाता है [देगिए १० वि० भा० पृ० १८१]। विज्ञानपरिमाण के अनुसार अग्नित्रय को पुरुष कहा जाता है, सोमत्रय को स्त्री कहा जाता है, यह निर्विवाद त्रिय है। यह अग्नि और सोम धाम्ना और शरीर भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। पुरुष के भौतिक शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री के भौतिक शरीर का निर्माण सोम से होता है। अग्नि की प्रविष्टि

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को वामा कहा जाता है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का वाम भाग है। प्रति शरीर में दक्षिणापार्श्व आग्नेय है, वामपार्श्व सौम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से कर्कश होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कशाङ्ग है, स्त्री कोमलाङ्गी है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है, सौम्यशरीरप्रधानास्त्री स्त्री है। इस दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्टया उक्त लौकिक व्यवहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठाभाव) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री-पुरुष-नपुंसक तीनों सृष्टियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के तारताम से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। शुक्र साक्षात् सोम है, शोणित साक्षात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि जम्पाप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्दी, आर्द्र, सोम, शुक्र, गोपा, रपि सब अभिचार्यक हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्षव, वृषा, प्राण सब अभिचार्यक हैं। सम्पूर्ण भौतिक विश्व इन्हीं दोनों का (अग्नीषोम का) समन्वित रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं वैवाद्रं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं,
यदाद्रं तव सौम्यम्” [शत० १। ६। ३। २३।]

सर्वप्रभवभूत यही अग्नीषोम प्रज्ञासृष्टि के उपादान बनते हुए शुक्र-शोणित नामसे व्यवहृत होते हैं। सौम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर आपोमय सोमरूप में परिणत होजाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पहुंच कर अग्निरूप में परिणत होजाता है। सोम संकोचधर्मा

१-सौम्यं शुक्रव, आर्षवमाग्नेयम् । इत्येषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यं, अस्त्यनशुभिनोरेव परस्परौप-
कारात्, परस्परानुपहात्, परस्परानुपवेद्यात्-” (ब्रह्म ३ अ० १) ।

हे, अग्नि विकासधर्मा है। संकोच की चरमावस्था विकास की जननी है, विकास की चरमावस्था संकोच की जननी है। अग्नि तेजतःव है, सोम स्नेहतःव है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [रुद्रभाव की] उत्पत्ति का कारण बनजाता है, सीमा से उल्कान्त तेज स्नेहरूप में परिणत होजाता है। दो मिश्रों का निःसीम स्नेहभाव कभी कभी रुद्रभाव (वैरभाव) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का निःसीम रुद्रभाव [वैरभाव] कभी कभी स्नेहभाव (मित्रता) का उत्पादक देखा गया है। निःसीमता [अति] स्वरूप का घात करनेवांसी है। प्रत्येक वस्तु स्वसीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हाँ तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकलकर बाहर प्रथि की ओर जाया करता है, इधर सोम प्रथि से केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि परागति है, सोम अर्वागति है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रेति [गच्छति] है, दूसरा आगच्छति है।

जाते हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रेतिरूप अग्नीसोमात्मक यज्ञ से सारे पदार्थ सस्वरूप से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। गमन विसर्ग है, आगमन आदान है। आदान विसर्ग ही अग्नीसोमात्मक यज्ञ है। अग्निताम्य का वस्तुपिण्ड से सम्बन्ध है, कारण अग्नि मलय है, एवं सत्य सदा सहृदय रागरीही ही होता है। सोम का पिण्ड की महिमारूप अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। कारण सोम अन्न है, उधर अन्तरिक्ष भी अन्नरूप परमेष्ठी है। अन्न सोम से पिपदावशुद्ध, किंवा पिण्डरूप अग्नि सतत आक्रान्त रहता है, इसी आधार पर—'अधुने भूमि-मिय शिवा' यह कहा जाता है। विशकलनधर्मा अग्नि को पिपदरूप में परिणत करने वाला, मजोचधर्मा पक्षी सोम है। जवनरु सोमान् अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि प्रगलित रहता है। प्रगलित अग्नि को शक्ति परिमाण में 'समिद्धाग्नि' कहते हैं। एति-प्रेतिरूप सामिधेयियों से आदानविसर्गरूप संघर्ष द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अतएव यज्ञकर्म में—'द्विच वेदिनान्वाह' [शुन० १ व।० २। १। ४।] के अनुसार सामिधेयी मन्त्रों से अग्नि की

१-१७ [१९१७] वैदिक विवेचन साधय विज्ञानभाष्य के ७ विधेयी ब्राह्मण में देखा जाय।

समिद्ध करने का विधान है। वात पदार्थ में यह है कि अग्नि अक्षिरामूर्ति है, सोम भृगुमूर्ति है। अक्षिराक्षी अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। अथावात्रयदुक्त अग्नि हृदय से फैलता हुआ आगे जाता है। अग्नि की तीनों अवस्थाएं विकसित होते होते जब चरम दशा पर पहुंच जाती हैं तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत होजाती है। आत्यन्तिक विशकलन से ऊष्माभाव प्रवर्तक मन्थिवन्धन टूट जाता है, अग्नि शान्त होजाता है। अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आश्रय लेती हुई सोम नाम से व्यवहृत होने लगती है। सोम आप-वायु-सोम इन तीन भागों में विभक्त है। तीनों क्रमशः केन्द्र की ओर आते रहते हैं। जबतक केन्द्रबिन्दु पर तीनों नहीं आजाते, तबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए पर्याप्त घरातल मिलजाता है। परन्तु हृदयबिन्दु पर आने से तीनों को एक बिन्दु पर ठहरना पड़ता है। इससे तीनों में घर्षण होजाता है। घर्षण होते ही शान्तावस्था नष्ट होजाती है, उग्रतावस्था उत्पन्न होजाती है, इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बदल जाती है। प्रकृत में इस अग्नीसोमवाथा से हमें केवल यही बतलाना है कि अग्नि का पिण्ड से सम्बन्ध है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक ही जल में आप खोलता हुआ पानी भस्वा दीजिये। उस पानी के [ऊर्ध्व की ओर] निकलने के लिए सूक्ष्मतम छिद्रोंवाला एक फन्सारा लगा दीजिए। उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिणत हो जायगा। इन जलकणों को आप शीतल पायेंगे। कारण जब तक पिण्ड था, तबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था। विषट्भार के नष्ट होते ही अग्नि विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच कर सत्यभाव (पिण्डभाव) से च्युत होना हुआ अज्ञरूप में परिणत हो जाता है। पूर्वप्रतिपादित मातरिखा के निरूपणानुसार पिण्ड का नाम पृथिवी है, महिमा पुलोक है। विण्डरूप पृथिवी से निरुलर अक्षिरात्रयी शुक्ल महिमा भण्डज की ओर जाया करती है। अग्नि की इसां ह्यामारिक गति को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

इत एत उदाहहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
 प्रभूर्जयो यथापथि यामक्षिरासो ययुः ॥

अग्नि तेन तत्र है तो भृगु स्नेह तत्र है । यही गर्मा-मर्दा है । सर्दा पराशरा पर पहचर अग्नि बनती हुई बृह्नादि को जला डालती है । इधर पराशरा पर पहचुकी हुई गर्मा र्मा (पानी) बन जाती है । सातानाग्नि [रद्राग्नि] शोक्नशु का जनक है, यह पूर्वकी अथर्ववेद निरुक्ति में विस्तार से बतलाया ही जाचुका है ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की चरमानस्था सोम ह, एत सोम की चर मानस्था अग्नि है । स्त्री के आत्मरूप शोणित में प्रवृद्धसोम (अग्नि) है, इस लिए स्त्री आत्म दृष्ट्या पुरुष है । पुरुष के आत्मरूप शुरु में प्रवृद्धअग्नि [सोम] है, अतएव पुरुष आत्मदृष्ट्या स्त्री है । प्रमारांतर से यों समभिर-शुरु अजरस से बनता है । अन्न चा इसोम से बनता है, अतः शुरु साक्षात् सोम है, सोम साक्षात् स्त्री है । यह शुरुरूप से पुरुष की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शुरुमय पुरुष सोममय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है । एक बात और-सोमरूप, अतएव स्त्रीरूप शुरु पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की वाचना किया करता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है । अग्नि से शोणित का निर्माण होता है, अतः शोणित साक्षात् अग्नि ह । अग्नि साक्षात् पुरुष ह । यह शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शोणितमयी स्त्री अग्निमयी बनती हुई वास्तव में पुरुष है । अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की वाचना किया करती है ।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्त्त में प्रतिष्ठित है । यह आर्त्त मगल नाम से प्रसिद्ध आग्नेय पुत्रमर के अग्नेय प्राण से युक्त है । आशाशचर मगलप्रह रक्त (लाल) है । स्थिर में जो जाता एत गमा है, यह मगलप्राण की ही महिमा है । मगलप्रह मन्त्राशि में आता हुआ उष्य बहसाला है । अतएव मांगविक आर्त्त में प्रतिष्ठित आग्नेयनाम 'मन्त्र' नाम से प्रसिद्ध है । मन्त्रमय आत्मनय काम है । दुमरे गर्दों में स्त्री के काम में अग्निवृत्ति पुरुष बैग है, अतएव स्त्री को पुत्रप्राप्ति होती है । पुरुष की प्रजननशक्ति शुरु में प्रतिष्ठित है । शुरु [स्त्री

१ इम विषय का विवर विवेक शतधरिकात्मनाम्य के प्रथमपर्व में द्रष्टव्य है ।

रैत] शुक्र नाम से प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीप्रद के सौम्यप्राण से युक्त है । शुक्रग्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक्र भी श्वेत है । शुक्रग्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च का कहलाता है । अतएव शुक्ररूप शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'धीनध्वज' नाम से प्रसिद्ध है । मीनध्वज सोममय काम है । दूसरे शब्दों में पुरुष के काम में सोममूर्ति स्त्री बँटी हुई है, अतएव पुरुष को स्त्री कामना होती है ।

सोम शक्तिमय है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिवतत्त्व है । शिवतत्त्व शक्तिकाममय है, शक्तिमत्त्व शिवकाममय है । शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगामिनी है । सम्पूर्ण विश्व शिवशक्तिमय है । कहने को दो तत्त्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है । निष्कर्ष यही हुआ कि शुक्र-शोणित दृष्टिसे संसार की स्त्रियं पुरुष हैं, पुरुष स्त्रियं हैं । यह स्त्री-पुरुष का दूसरा युग है ।

यह एक नियत सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का बाहर का धरातल गरम होता है, उसका अन्तःगुण ठंडा होता है, एवं जो बाहर से ठंडा होता है, उसका अन्तःगुण गरम होता है । प्रकृति का निरीक्षण कीजिये । शीतर्तु में प्रकृतिमण्डलरूप बर्हिर्धरातल में सर्दी रहती है, एवं अन्तःगुणरूप प्राणियों के शरीर में गर्मी का साम्राज्य रहता है । शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है । मुख में से धूम निकलता रहता है । इसी प्रवृद्ध अग्निबल से हम शरीर पर कम्बुलादि को आसानी से उठाने में समर्थ होजाते हैं । इसी प्रवृद्ध अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है । इस प्रकार बाहर जहाँ ठंड है, भीतर गर्मी है । ग्रीष्मकाल में ठीक इसके उलटा होजाता है । प्रकृति में गर्मी का साम्राज्य है, परन्तु प्रकृतिगर्भण अध्यात्म में सर्दी की प्रधानता है । वही शीतभाग पसीना बनकर बाहर निकला करता है । अग्निबल क्षीण रहता है, अतएव हम निर्बल रहते हैं । शीतकाल में जिस अग्निदेव की कृपा से जहाँ हम दो दो तीन तीन कम्बुलों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहाँ ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मामुली चदर का भी भार सहन नहीं करसकते । इस प्राकृतिक स्थितिसे प्रकृत में हमें यह

का उत्पन्न होती है। यदि केवल शुक्र शोणित का समन्वय होता है, (यदि तद्गत भ्रूणों का जो केंद्री-पुंभ्रूण विज्ञानभाषा में योषा-वृषा नाम से प्रसिद्ध हैं मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाव व्यर्थ जाता है। आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होसकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भ्रूण, एवं आग्नेय आर्तव में सौम्यभ्रूण की सत्ता मानली जाती है। कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास संभव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

आधिश्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादात्तवाधिके ।

नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा परमेश्वरी"—(भावप्रकाश) ।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं का प्रत्येक कार्य विभारयुक्त होता है। तीन व्यापारों से देवता स्वकार्यसिद्धि में समर्थ होते हैं। पूर्व कथना-नुसार प्रजोपनिर्गम में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संग्रह होता है। ध्यान दीजिये—प्रजोपत्ति के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है। अभी दोनों के शरीरों का संयोग है। पुरुष शरीरपेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरपेक्षया सौम्य बनती हुई स्त्री है। इस प्रथमाक्रमण में सचमुच पुरुष (पुरुष का आग्नेय शरीर) स्त्री (स्त्री के सौम्य शरीर) की ओर जा रहा है। इस प्रथम मिथुनकर्म से सर्वप्रथम द्वारा तात्कालिक वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निपरिचाय से पुरुष के सर्वप्रथम शरीर में व्याप्त शुक्र अंग प्रत्यंग से निकलकर पुञ्जीभूत बनकर अधोमग्न द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आदृत होता है। यह शुक्रशोणित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है। इस में शुक्र सोम है, शोणित अग्नि है। शोणित में शुक्र की आदृति क्या होरही है, अग्नि में सोम की आदृति होरही है। यही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है। कारण स्पष्ट है। शुक्र ही तो शोणित पर आक्रमण कर रहा है। शुक्र सौम्य होने से सचमुच स्त्रीरूप है, एवं शोणित आग्नेय होने से वास्तव में पुरुष है। और आगे बढ़िए।

* इस विषय का विशद विवेचन शठपथ विज्ञानभाष्य के द्वितीय वर्ष में निकल चुका है।

शोणित में रहने वाले सौम्य भूणपर (स्त्रीभूण पर) शुक्र में रहने वाला आग्नेय भूण (पुंभूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम मिथुन है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भूण का विजय होता है। इस अन्तिमभूण में पुरुष ही (पुंभूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमाक्रमण में पुरुष प्रधान, मध्यमाक्रमण में स्त्री प्रधान, चरमाक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रतिष्ठा की भित्ति से मध्यस्था स्त्री की रक्तन्त्र इच्छा नष्ट हो जाती है। जो हतथी इस प्राकृत नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपने साथ साथ स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्याक्रमणदृष्टि से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सचमुच संसार की सब स्त्रियाँ पुरुष हैं, एवं संसार के सब पुरुष स्त्रियाँ हैं। उक्त मन्त्र इसी मध्यस्थिति का निरूपण करता है।

अध्यात्मसंस्था

"पुरुष एवेदं सर्वम्"	{	१-आग्नेयशरीरयुक्तः पुरुषः-पुरुषः	} पुरुषद्विषयमनुधावति-प्रथमाक्रमणं पुरुषप्रधानं
		२-सौम्यशरीरयुक्ता स्त्री-स्त्री	

२	{	१-सौम्यं शुक्रम्-----स्त्री	} स्त्रीपुरुषमनुधावति-द्वितीयाक्रमणंस्त्रीप्रधानम्
		२-आग्नेयमात्तवम्-----पुरुषः	

३	{	१-शुक्रगतः-आग्नेयःपुंभूणः-पुरुषः	} पुरुषद्विषयमनुधावति-तृतीयाक्रमणं पुरुषप्रधानं
		२-शो. ग. सौम्यःस्त्रीभूणः-स्त्री	

उक्त तीनों स्थितियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को लक्ष्य में रक्कर ऋषि कहने हैं-

स्त्रियः सतीस्त्रां उ मे पुंसं प्रादुः

इस श्लोक को ध्यानपूर्वक ही देख सकता है, आगों का धंवा इस रहस्य को क्या जानें। ये निदान् पामशक्ति के 'मरुत-मीन' स्वरूप को समझता है, यही यह जान सकता है कि शुक्र

वास्तव में स्त्रीकाममय है, शोणित वास्तव में पुरुषकाममय है। यह दूसरा सम्भोग वाला व्यक्ति है कविपुरुष। वह इस स्त्रीभाव को जानता हुआ सचमुच अपने पिता का भी पिता बन रहा है। भृगु और अङ्गिरा का रहस्य जानने वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपने पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। विद्वानदृष्टि के अनुसार कवि का अर्थ है भृगुत्व। आप-वायु-सोम को ही भृगुत्व कहते हैं। पुत्रोत्पत्ति शुक्र की आदिति से होती है। सोममय शुक्र ही अग्नि शोणित में सुन (अभिपुन-आदित) होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक्र में जो घनता है वह पानीका भाग है, शर्कराभाग सोम है, गतिभाव वायु है। इस प्रकार शर्करा (सोम) प्रधान शुक्र में आप-वायु-सोम तीनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक्र को अवश्य ही 'भृगु' कह सकते हैं। भृगु ही कवि है। यह कवि (भृगुरूप शुक्र) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक्र को अवश्य ही 'कविपुत्र' कहा जासकता है। शुक्र सोमप्रधान होने से पुनरूप में परिणत होता है, इधर सोम ली है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अवश्य ही स्त्री कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से—'कविर्पुत्रः पुत्रः स ईषाचिक्रेन' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासंतान में शोणित की प्रधानता रहती है—'कन्यास्यादात्तवाधिके'। कविपुत्र (शुक्रस्य पुरुषभूय) ही स्त्रीभूय (शोणित-भूय) के साथ संयुक्त होकर स्त्रीभाव का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की ओर जाता है। कन्योत्पादक अतएव स्त्रीरूप शोणित भूय का सम्यक् परिज्ञाता शुक्रभूय ही है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है—'यस्ता विजानात्' (कविरूप जो पुरुषभूय स्त्रीभूय को जानता है)। जिसप्रकार स्त्रीस्वरूपसमर्पक स्त्रीभूय आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव पुरुषस्वरूपसमर्पक पुंभूय सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। शुक्र का आधान करने वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक्र है। पुत्ररूप शुक्र ही पुंभूय का उत्पादक बनता है। पुंभूयद्वारा शुक्रादिति देने वाला पिता माता के गर्भ में [अपनी स्त्री के गर्भ में] स्वयं जन्म लेता है, अतएव 'जायेत पिता स्वयं-अस्यां' इस निर्वाचन से स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। अपने पुंभूय से उत्पन्न होने वाले

रेतोषा पिता का पिता (जन्मदाता-अभिव्यञ्जक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुक्र ही है। एक ओर पुंभ्रूण है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुंभ्रूणाविष्टता कविपुत्र नामक शुक्र है। यदि वह पुत्र न होना तो पुंभ्रूण कभी संतानरूप में परिणत नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में वह रेतोषा पिता कभी जाया में जन्म नहीं ले सकता था। पिता के जाया में जन्म का हेतु पुत्रशुक्र है, अतएव हम इसे अवश्य पिता का पिता (पुंभ्रूणरूप पिता का भी अभिव्यञ्जक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'सपितृषिनापत' "वह शुक्ररूप कविपुत्र पिता [प्रतिकृतिरूप पुंभ्रूण] का भी उत्पादक एवं अभिव्यञ्जक बनता हुआ पुंभ्रूणरूप अपने पिता का भी पिता बन गया" यह कहा गया है। यह है मन्त्रार्पणसम्बन्धिनी तीसरी शुक्रविषयिणीभावना का संक्षिप्त निर्देशन।

इति-शुक्रविषयिणीभावना ।

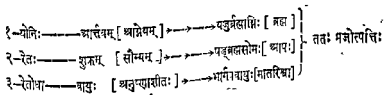
३



प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब पुनः प्रकृत विषय का उल्लेख किया जाता है। उन्नियत् के चतुर्थ चरण का उपक्रम करते हुए, रेत-रेतोषा-योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीनों भावों का समावेश बतलाया गया है [देखिए ई० नि० भा० १.७७ पृ०]। इन तीनों में रेत और योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोषा गतिशील है। यही अर्धदेवतसंस्था में जहाँ—'मातरिभ्या' नाम से व्यपन्न होना है, वहाँ अभ्यात्मसंस्था में वही 'एत्रयामरुन्' नाम से प्रसिद्ध है। योषा-प्राणप्रधान री का अस्मिन् शोणित योनि है, वृषाप्राणप्रधान पुरुष का सोममयशुक्र 'रेत' है। यह आहुति द्रव्य है, आप तत्व है, सुदृढ है। री का रक्त आहुति का स्थान है, अग्नि है, अय है। इस मयरूप योनि में सुनल की आहुति होती है। आहुति देने वाला वायु है।

• इव विषय का विचर विवेचन 'नासदीयमूक्त विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोषित में आहित करने के कारण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है । माता स्त्री है, पिता पुरुष है । वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनता हुआ सचमुच 'माता' है । अतएव—"मातरि (शुक्रे) श्वयति (व्याप्तो भवति)" इस व्युत्पत्ति से शुक्र आधात्मा इस रेतोधा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसंगत होता है । रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है । स्त्रीपुरुष के मिथुनभाव से अग्नि प्रबल होजाता है । अग्नि के जुब्ब होते ही शरीरगत वायुवाहिनीनाडियों [धमनियों] में भरा हुआ वायु स्थान-च्युत होता हुआ अग्नि से संतप्त शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है । वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गतिमत् बनता हुआ शोषित में आहृत होता है । इस अध्यात्मसंस्था के साप अग्निदेवत की समता का विचार कीजिए । गर्माशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । द्विब्रह्मापरपर्यायक अग्नेजदेवत यजु को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को पद्-ब्रह्मापरपर्यायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये । शुक्र के चारों ओर वेष्टित भार्गववायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि-रेत-रेतोधा समझिये । ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतत्त्व की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है । यह है अध्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहाँ [अध्यात्म में] प्रायश्च कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति वहाँ [अग्निदेवत में] समझिये—“यदेवेह तदमुत्र” ।



धनेजत्-एजत् रूप ब्रह्म यजुरभिर्मुक्तिं वनता हुआ यद्यपि पुरुष है, परन्तु यह विश्वप्रजा का योनिस्थानीय होने से स्त्री कहा जा सकता है। एज सुब्रह्म सोमरूप होने से यद्यपि स्त्री है, परन्तु शुक्रस्थानीय होने से (रेतस्थानीय होने से) यह पुरुष नाम से व्यग्रहृत किया जा सकता है। त्रयीविद्या ब्रह्म से आत् उगल हुआ। त्रयीविद्या के साथ वह आपके गर्भ में प्रविष्ट होगया। यह पहिला आक्रमण है, पहिला मिथुन है। ब्रह्माग्निरूप पुरुष सुब्रह्मसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अर्थात्मक्रमानुसार मातरिका द्वारा वह आप (शुक्र) उस मय (योनि) के साथ सगत होता है। यह शुक्र-शोणित का दूसरा मिथुनकर्म है। आगे जाकर आर्गन पुष्करूप गायत्रीमात्रिक नाम के वेदाग्नि, एज ब्रह्मगर्भित सुब्रह्मरूप स्त्रीपुत्र दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनभाव सरोम्बन सम्पन्न हो जाता है, एज तन्माल विराट्पुरुष गर्भ में आजाता है। यह विराट् इस दम्पती की पहिली सत्तान है।

अविदेवतसंस्था

१-महाग्नि (आग्नि — पुरुष)
 २-आन (सोम — स्त्री)

{ ब्रह्म धनोऽग्नि अनुधावति } प्रथमाक्रमण ब्रह्म (पुरुष)
 { (पुरुष विद्यमनुधावति) } प्रधानम्

१-आन (सोम शुक्र — धौ — रेत)
 २-आग्नि (आग्नेयमार्त्तन पुरुष — योनि)

{ आप — अग्निमनुधावति } द्वि. आन धार (स्त्री) प्र
 { (धौपुरुषमनुधावति) } धानम्

१-अर्धर्भिनोऽग्निवेद (पुष्करोऽग्नि — पुरुष)
 २-अर्धर्भिनो गोमवेद (स्त्रीपुत्र गोम — स्त्री)

{ अग्निवेद सोमवेदमनुधावति } तृ या वेद (पु)
 { (पुरुष विद्यमनुधावति) } प्रधानम्

“ततो विराडजायत”

‘अनेजदेकं मनसो जवीयः’ इत्यादि मन्त्र तीनों-स्थितियों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है । अग्निर्त्सिंमह्य योनिरूप से स्वस्थान में प्रतिष्ठित है । इस में मातरिखा द्वारा आपरूप रेत की आहुति होती है । दोनों के [अग्नि और आप के] मिथुन से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है , जैसा कि—‘तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः’ इत्यादि रूप से कहा जा चुका है ।

मह्य-आप के मिथुनभाव से उत्पन्न अर्धव्यंभाव में मह्य और आप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? वे दोनों पृथक् पृथक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है । ऋक्सामावङ्गिज्ज्वल मह्य मह्य है । इस में यत्-जू (एजत्-अनेजत्) दो विभाग हैं । इस प्रकार ऋक्-साम यजुर्त्सिमह्य ऋक्-साम-यत्-जू भेद से चतुष्कल हो जाता है । दूसरा आपत्त्व है । इस की ऋगु-अहिस भेद से आप-वायु-सोम-अग्नि-यम-आंदित्य यह ६ कलाएं हैं । संभूय १० कलाएं हैं । दशकल की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है । छन्दोविज्ञान के अनुसार दशक्षर छन्द को ही ‘विराट्’ [दशिनीविराट्] कहा जाता है । यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—‘अपांगम्भन्त्सीद्’ यह कहा जाता है , एवं अग्निमयत्व तो स्पष्ट ही है । यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य क्षणमात्र में संसार को भस्म कर डालता । साप ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो सारा संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो-जाता, जैसा कि प्रतिदिन क्षीण होता हुआ किसी युग में [कल्पान्त में] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साम्राज्य रखता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जायगा । इसी अप्-अग्नि गुत्सिं विराट्सूर्यपुरुष [हिरण्यगर्भप्रजापति] से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१.—विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्वोतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्धमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

[प्रश्नोपनिषद् १।८]

२—दिवो रुश्म उरुचता उदेति दूरे अर्थन्तरणिभ्रांजमानः ।

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्यानि कृणवन्नपांसि ॥

[ऋक् सं० ७ मं० । ६३ सू० । ४ मं०]

३—चित्रं देवानामुदगाच्चतुर्भिन्नस्य वरुणस्याग्रेः ।

आनाद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च ॥

[यजुः सं० १३।४६]

मल और सुबल दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही स्वप्नोतिर्घन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है । हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानते हैं, जैसा कि—'मुराडकोपनिषत्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपित है । इस मिथुननाम से अण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । इसी ब्रह्माण्ड को अक्षय में रख कर रमृति कहती है—

तदयदमभवद्गर्भं सहस्रांशुसमप्रमम् ।

तस्मिन्नग्रे स्ववं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।१८) ।

स्वयम्भू ब्रह्म—इस सूर्य के पिता हैं । सूर्य हम सब के पिता हैं । तभी तो ब्रह्मा को पिता-मह [बाबा] कहा गया है । विराट् पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रेत—योनि—रेताधाकर उस दम्पतीभार का ही 'अनेजदकम्' इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है । 'अनेजदकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' 'तद्भावतोऽन्यानयेनि तिष्ठत्' यह मन्त्रभाग योनि का निरूपण है, 'तस्मिन्नग्रेः' यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं 'मातरिश्वा दधाति' यह मन्त्र श्रेष्ठ रेतोभा का निवेचन करता है । वेदघन ईश्वर समुदायरूप तो सर्वथा अनेजद दे, अरपरदृष्टया मन से भी जनीय है । इस प्रकार नित्य अशान्ति (गति) गर्भिन निरग्रान्त [रिपतिरूप] घेदमप ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] शृङ्गन्त् स्तब्ध खदा है । साण विष इग पूर्णपुरुष से पूर्ण है । रिपतिग्रीसमदिरुप सर्वव्यापक, किन्तु मायावच्छिन्न इसी तत्र

को हमने यजुर्वेद कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्त है, सामवेद महाप्रत है, यजु ऋषि है, वृषा है, योनि है। इसी यजु के जरूप मर्यादाक् भाग से पद्मरूप आपोब्रह्म उत्पन्न हुआ है। जहांतक यजुर्वेद व्याप्त है, वहींतक आपोब्रह्म व्याप्त है। दोनों समानायतन हैं। महा-मायाबन्धुन विद्याकर्ममय उस व्यापक चराचरविशिष्ट अव्यय पुरुष [पोडशीपुरुष] का चित्र अपने सामने रखिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा पद्मरूप सुब्रह्म-स्तर समझिए। साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि उत्तर-उत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर नित्य प्रतिष्ठित हैं। 'अनेजदेकम्' से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध पोडशीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का 'सपर्वगाद' इत्यात्मक तीसरा अधिष्ठान तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अर्धरूप] स्त्रीपुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विरतोत्पत्ति असंभव थी। अतएव आगे जाकर मातरिद्या द्वारा दोनों का अन्तर्याम सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिथुन-भाव से जो अपूर्व तरंग उत्पन्न हुआ, वही 'शुक' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमने इस अपूर्वभाव को 'विराटसूर्य' कहा था, एवं वहां शुक को अपूर्वभाव बतलाया जा रहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक' ही सूर्य का जन्मदाता है। शुकवस्था का आशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव—'तद्वाऽएष एव शुको य एष तपति' तद्यदेष तपति तेनैष शुकः' [शत० ४ २।१।११] इत्यादि रूप से सूर्य शुक नाम से प्रसिद्ध है। अतएव प्रहविद्या के अनुसार जहां चन्द्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक' कहा जाता है। सौराग्नि ही अपने प्रवर्णान्श से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक' कहा जाता है। ज्येष्ठमास 'शुक' है, आषाढमास 'शुचि' है। [दिखिए शत० ४।१।१।१५]। विराट् सूर्य को छोड़ दीजिए। अभी विराट् शब्द से केवल शुक का ग्रहण कीजिए। त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्यामरूप याग सम्बन्ध से

२—दिवो रूपम उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थन्तरणिभ्राजमानः ।

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्धानि कृण्वन्नापांसि ॥

[ऋक् सं० ७ मं० । ६३ सू० । ४ मं०]

३—चित्रं देवानामुदगाच्चतुर्मित्रस्य वरुणस्याग्रेः ।

आनाद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्पा जगतस्तस्थुपश्च ॥

[यजुः सं० १३।४६]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही स्रव्योतिधिन हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है । हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानते हैं, जैसा कि—‘मुण्डकोपनिषत्विज्ञानभाष्य’ में विस्तार से निरूपित है । इस मिथुनभाव से अण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का विश्वरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । इसी ब्रह्माण्ड को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

तद्वदमभवद्दमं सदसांशुसमममम् ।

तस्मिन्नग्रे स्ववं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ (मनु० १।१८) ।

स्रव्यभू ब्रह्म—इस सूर्य के पिता हैं । सूर्य हम सब के पिता हैं । तभी तो ब्रह्म को पिता-मह [बाबा] कहा गया है । विराट् पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रेत—योनि—रेताधारूप उस दम्पतीभाव का ही ‘अनेजदकम्’ इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है । ‘अनेजदकं मनसो जयीयो नैनद्देवा भाप्नुवन् पूर्वमर्षत्’ ‘तद्भावतोऽन्यानसेति तिष्ठत्’ यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, ‘तस्मिन्नपः’ यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं ‘मानरिष्या दधाति’ यह मन्त्र शेष रेतोधा का विवेचन करता है । वेदधन ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेजद है, अथवादृष्टया मन से भी जयीय है । इस प्रकार मिल्क व्यशान्ति (गौरी) गर्भिन मिल्कशान्त [मिर्निदकम्] वेदधन ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] ब्रह्मवत् सान्ध रादा है । साण्ड मिष हम पूर्णगुण से पूर्ण है । दिव्यमिषमिषरूप सर्वव्यापक, किन्तु मायाबन्धुन इसी तरह

को हमने यजुर्वेद कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोत्थ है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है, वृषा है, योनि है। इसी यजु के जरूप मर्त्यवाक् भाग से पद्मरत्नरूप आपोव्रत उत्पन्न हुआ है। जहांतक यजुर्वेद व्याप्त है, वहांतक आपोव्रत व्याप्त है। दोनों समानापत्तन हैं। महा-मायावन्द्भिन्न विद्याकर्मण्य उस व्यापक क्षरान्तरविशिष्ट अव्यय पुरुष [पोडशीपुरुष] का चित्र अपने सामने रखिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा पद्मब्रह्मरूप सुब्रह्मस्तर समझिए। साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि उत्तर-उत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर नित्य प्रतिष्ठित हैं। 'अनेजदेकम्' से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध पोडशीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्मण्य दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का-'सपर्यगात्' इत्यात्मक तीसरा अधिकरण तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मरूप से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अब्रह्मरूप] स्त्रीपुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से विरबोत्पत्ति असंभव थी। अतएव आगे जाकर मातरिषा द्वारा दोनों का अन्तर्गमन सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिथुन-भाव से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही-'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमने इस अपूर्वभाव को 'विराट्पूर्य' कहा था, एवं यहां शुक्र को अपूर्वभाव बतलाया जा रहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक्र' ही सूर्य का जन्मदाता है। शुक्रावस्था का आंशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव-'तद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति' तद्यदेव तपति तेनैव शुक्रः' [शत० ४२।१।१।] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अनएव प्रहविद्या के अनुसार जहां चन्द्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है। सौराग्नि ही अपने प्रवर्ग्यांश से ग्रीष्म ऋतु का अविद्यता घनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है। ज्येष्ठमास 'शुक्र' है, आषाढमास 'शुक्रि' है। [देखिए शत० ४।३।१।५]। विराट् सूर्य को छोड़ दीजिए। अभी विपद् शब्द से केवल शुक्र का प्रश्न कीजिए। त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्गमरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वमात्र उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [ऋक्-साम-यजु-आर-वायु-सोम-अग्नि-पम-आदिल मेद से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ तक [महामापातक] ब्रह्म-सुब्रह्मतर व्याप्त थे, वहीं तक दोनों की सम्मिलित अवस्था-रूप निराट्शुक्र व्याप्त हुआ। यही पहिला अव्यक्त स्वप्नभू है। ससीम और असीम [किन्तु मायावच्छिन्न होने से परमार्थतः असीम] वेद से स्वप्नभू दो प्रकार का है। जबतक महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डरी स्वप्नभू का उदय नहीं होता। महदुत्पत्ति से पहिले अरबी सत्ता रखने वाला शुक्रमूर्ति स्वप्नभू व्यापक है, महामायावच्छिन्न बनता हुआ एक है। इस महा-विश्वव्यापक महा स्वप्नभू के उदर में महान् की कृपा से उदित होने वाली अनन्त योगमायाओं से अनन्त पुण्डरी स्वप्नभू प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका कि दिग्दर्शन आठवें मन्त्र में कराया जायगा। जो किसी समय द्वित्रल गा, वही मातारिखा द्वारा पद्मस [आप] से मिथुनभाव को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' कहलाने लगता है। शुक्र क्या पदार्थ है? इस प्रश्न का उत्तर है पद्मससर्गमिन् यजुर्वेद। विश्व के उपादान कारण ही को शुक्र कहते हैं। इसमें वेद-सुवेद दोनों हैं। दोनों का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस मिथुनरूप को हम अवश्य ही 'शुक्र' शब्द से व्यञ्जित कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त स्वप्नभू है। यही अव्यक्त भागे जाकर व्यक्त महदरूप में परिणत होकर विश्व का प्रभय-प्रतिष्ठा परायण बनता है, जैसा कि निम्न पद्यन से स्पष्ट है-

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

राधागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंग्रहे ॥ (गी० = १८)

यही अव्यक्त महत्त्वर के सम्बन्ध से अव्यक्तरूप में परिणत होना है। इस व्यक्त अव्यक्तमूर्ति व्यापकशुक्र से सृष्टि निर्माण होता है।

शरीर पर सृष्टि दानिय। सर्वाङ्ग शरीर में व्यापक सभी शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। पत्त्रिभिन् शुक्र ही योनि में प्लाटन होकर प्रजोत्पत्ति कारण बनता है। यही अव्यक्त

यहां समझिए। महामायावच्छिन्न ईश्वरशरीर शुक्रमय (ब्रह्म सुब्रह्ममय) है। जैसे भिन्न भिन्न शुक्रा-
 द्रवियों से भिन्न भिन्न (पुत्र कन्यादि) प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीरमें व्याप्त शुक्र
 की भिन्न भिन्न आहुतियों से भिन्न भिन्न प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के
 १-स्वयम्भू (पुण्डरीरस्वयम्भू) २-परमेष्ठी, ३-सूर्य, ४-चन्द्रमा, ५-पृथिवी यह पांच
 विभाग हैं। पाचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अनन्त प्रजाएं (अनन्त विश्व) उस में
 उस के भिन्न भिन्न शुक्र प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्र गेद से अनन्त विश्वप्रजाओं
 को उत्पन्न कर वह अनन्तविश्वविष्टाता बन जाता है। ईश्वरत्व 'शुक्र' रूप में कैसे परिणत हो
 जाता है ! प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करता है। एवं यह शुक्र भिन्न भिन्न प्रजाओंको कैसे
 उत्पन्न करता है ! पुण्डरीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है ! इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्य-
 गात् ०' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्य है। प्राकृतिकप्राण की विवर्तसृष्टि होने से
 इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महद्गुरु व्यक्त विश्व का अधिष्ठाता यह स्वयं अव्यक्त है।
 इसी दृष्टि से इसे 'अव्यक्तात्मा' कहा जाता है। अध्यात्मसंस्था में यही अव्यक्तांश 'शान्तात्मा'
 नाम से प्रसिद्ध है — (देखिए कठोपनिषत् १ । ३) । यही ब्रह्मसत्याक्षर, स्वयम्भू, अव्य-
 क्तात्मा, शान्तात्मा यदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। अब महानात्मा
 नाम से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति मन्त्रार्थप्रकरणम्

अव्यक्तात्माधिकरणे-

विश्वविश्वात्मनोः-सम्बन्धाधिकारः

(अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्)

ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१ तदेवति तन्नेवति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥ १ ॥

ब्रह्म कर्मस्थम्

२ यत्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति ।

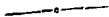
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ २ ॥

कर्म ब्रह्मस्थम्

३ यस्मिन्सर्वोणि भूतानि-आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्रमत्तुपरयतः ॥ ३ ॥

ब्रह्मेव कर्म





ब्रह्मकर्मसम्बन्धनिरुक्तिः

व्यय-पुरुष प्रकृति को आने कर के ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है। प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्तक अव्यय पुरुष के ब्रह्म और कम यह दो प्रधान विवर्त हैं। आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है। दोनों निस्स सहचारी हैं। ब्रह्म-कर्ममय अव्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही साम्राज्य है। प्रयास करने पर भी श्राव ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते। विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विकसित रहता है, विश्व में कर्म की प्रधानता रहती है। अतः एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यग्रहण किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है। इस भेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अव्ययात्मा का सृष्टिसृष्टीभाग मन-प्राण-वाङ्मय है। मन रूपों का उच्य-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उच्य-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्त्व नामों का उच्य-ब्रह्म-साम है। नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है। अव्ययात्मा के कर्मभाग को आत्मन् मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है। इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह तीन विवर्त हैं। अव्ययप्रधान षोडशी स्वयं अमृत किं वा अपृतात्मा है। उपनिषद् के आरम्भ में (पृ० ११) एवं प्राकृता-त्माधिकरणान्तर्गत वेदनिरुक्ति की प्रकरणसंगति में (पृ० सं० ४।१५) उपनिषद् का जो विषय विभाग बतलाया गया है, आज उसे दूसरी तरह से देखिए। कर्मगर्भित ब्रह्म (षोडशी पुरुष) के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह चार विवर्त हैं। यही चतुष्पाद्ब्रह्म है, जिसका कि पूर्व के चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकार में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकारांतर से ईशोपनिषद् इन्ही चारों ब्रह्म विवर्तों का निरूपण करती है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरु-देवं मनसो जवीयः) यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त तत्व का निरूपण करता है।

'स पर्यगाच्छुक्त्वा' इत्यादि मन्त्र शुक्ल नाम से प्रसिद्ध विकृतितत्त्व रूप व्यक्ततत्त्व का निरूपण करता है, एवं 'सपर्यगात्'० से आगे का सारा प्रकरण विश्व नाम से प्रसिद्ध वैकारिक जगत् का प्रतिपादन करता है। इन चारों विवर्तों में अमृतात्मा विश्वात्मा है, विश्वका आधार है, विश्वसाक्षी है, पुरुष है। मय [अन्यक्त] मूलप्रकृति है। शुक्ल विकृति है। विकार विश्व है। पुरुष-प्रकृति-विकृति-विकार-ही अमृत-ब्रह्म-शुक्ल-विश्व हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ मय है, प्रकृति-विकृति-विकार यह तीनों विवर्त धर्मप्रधान बनते हुए कर्मका ही हैं। यद्यपि विश्व केवल विकारसव का ही नाम है। तथापि विकृतिरूप शुक्ल ही इसका उपादान कारण बनता है। एवं कार्यरूप विश्व उपादान कारणरूप शुक्लतत्त्वा से ही सत्ता-युक्त बन रहा है। कारण कार्य से अभिन्न है, विकार विकृति से अभिन्न है। अतएव विकृति रूप शुक्ल को विकारसवरूप विश्व में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है। तीसरा है प्रकृतिरूप मय माय। अन्यक्त प्रकृति ही व्यक्त विकृति (शुक्ल) को उत्पन्न कर विश्व की मूल जननी बनती है। प्रकृति की अन्यक्तास्या ही तो व्यक्तभास में परिणत होकर शुक्ल (उपादान) बनती है। अतएव प्रकृतिरूप अन्यक्त ब्रह्म का विकृतिरूप व्यक्त शुक्ल में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। प्रकृति यो विकृति से पृथक् नहीं किया जासना, विकृति को विश्व से पृथक् नहीं माना जासकना।

प्रकृतिधर्मों (निमित्तकारण) है, विकृति उपादाकारण है, वैकारादि विश्व कार्यरूप है। चौथा सत्य अमृतात्मा प्रकृति विकृति-विकार इन तीनों का आलम्बन बनता हुआ सार्वात्म्यन है। यह कार्य परमेश्वरीय है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर सत्य अमृतात्मा में भी (पोडशी पुरुष में भी) अन्वेष-प्रवृत्त-मात्पवृत्त-ब्रह्मधर्मविश्व इस मय से उक्त कारणता चतुष्टयी की गता मिद होशारी है। इस विभाग में अन्यक्त अमृत है, अक्षर ब्रह्म (अन्यक्त प्रकृति) है, अन्यक्त शुक्ल (अन्यक्त विकृति) है, एवं मय-शुक्ल-विश्व समष्टि वैकारिक कार्य है। दूसरे शब्दों में अक्षर अमृत है, अक्षर निमित्तकारण है, आमश उपादानकारण है, एवं मय-शुक्ल विश्व ही मयद्वि कार्य ब्रह्म है, तथापि भीति विश्व के कार्यकारणमाय के विचार उपा-

स्थित होने पर इस क्रम को प्रधानता वहीं दी जासकती। 'सरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भौतिकविरव अन्वय-अक्षर की कारणता से पृथक् ही मानना पड़ता है। यह ठीक है कि आत्मकारणता ही चरमकारणता है, तथापि स्थूलद्रष्टि से हम षोडशीरूप अमृतात्मा को कार्यकारणता ही कहेंगे। इस प्रकार चतुष्पाद्ब्रह्म के सम्बन्ध में आत्मा-विरव भेद से दो विवेक होजाते हैं। आत्मा भी चतुष्पात् है, ब्रह्म भी चतुष्पात् है। दोनों की समष्टि अथाक्षर गायत्री छंद है। अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विरव का निर्माण मानते हैं।

पुरुष-प्रकृति विकृति सब कुछ गायत्री के उदर में समाविष्ट है। गायत्री चतुष्पाद् ब्रह्म की विभूति है। 'सर्वाणि इ वा छन्दांसि चतुरुत्तराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाद (अक्षर) थे, परन्तु त्रिरूपति के अनन्तर चतुष्पाद् आत्मब्रह्मयी गायत्री अद्यावत् बन-जाती है। इसी वचनविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्राह्ममुहूर्त्त में पूर्वाभिमुख खड़े हो कर गायत्रीब्रह्म का स्मरण किया करते हैं। गायत्री ही सब कुछ है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्य श्रुति कहती है—

“गायत्री वा इदं सर्वं-भूतं-यदिदं किञ्च। चानै गायत्री। वाग्वा इदं सर्वं भूतम्। गायति च त्रायते च। ÷ ÷ + ÷ ÷ तावानस्य पदिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि। यद्वैतद् ब्रह्म इति, इदं वाव तद्, योऽयं-चर्हिर्षा पुरुषादाकाशः। यो वै स चर्हिर्षा पुरुषादाकाशः-अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः-अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। तदेतत् पूर्णं अयमन्ति, पूर्णमपरतिनीं श्रियं समोने य एवं वेद” इति।

[छान्दोग्योपनिषत् ३ प्र. १२ सं.)

‘प्राकृतात्मा’ यह शीर्षक रक्खा है।-सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषत् के दो ही विभाग हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग है, आगे के (अनेनदेकं-से आरम्भरु नम उक्तिविधेम पर्यन्त) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे जाकर प्रकृति-पिच्छति विकारसंघ (ब्रह्म-शुक्-विष्व) यह तीन अवस्थाएं होजाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। ‘अनेनदेकं’ इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के ब्रह्मविचर्त का निरूपण करता है। ‘सर्पयगात्’ इत्यादि आठवां मन्त्र प्रकृति के शुक्रविचर्त का निरूपण करता है। एवं आगे के (अन्धं तमः० इस ६ मन्त्र से आरम्भ कर ‘नम उक्ति विधेम’ इस १० वें मन्त्रतक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विश्वविचर्तभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इस प्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (६ से १० तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विचर्तों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा देवसत्य नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्य की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्य है। यह दोनों ही देव-सत्य विश्व के पृथिवीपर्व पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्य अग्निरूप है। सोम अग्नि का जीवन है। सूर्य इस देवसत्य का आत्मा है। सूर्यरूप विश्व (व्यक्त विश्व) देवसत्य की मूलप्रतिष्ठा है। सोममय चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी खापार है। इस प्रकार व्यक्त विश्व में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी यह चार विचर्त होजाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्य भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मत्पतित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गृहीत है। विश्व के लिए ‘अग्नीषोमात्मकं जगत्’ यह कहा जाता है। इन में अग्निकला सूर्य-देवसत्य-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमकला है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक विश्वके सूर्यादि उक्त विचर्त होजाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अन्नसोम को अन्न अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निशब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विश्व सोमगर्भित अग्नि है, स्पष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विश्व का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमें चन्द्रमा और देवसत्य प्रतिष्ठित हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोगत्या समष्टिरूप अग्नि पर व्यवसान है। इस क्रमसे ६ मन्त्रात्मक चौथे विवरणप्रकरण के

अगन्तर पांच प्रकार हो जाते हैं । सूर्यमकराण-चन्द्रमकराण-देवसत्यमकराण-पृथिवीमकराण
 अग्निमकराण इन प्रकारों में ३ मन्त्र (६-१०-११) सूर्यकला का, ३ मन्त्र (१२-१३-१४)
 चन्द्रकला का, २ मन्त्र (१५-१६ यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वें मन्त्र का 'वायुरनिमस-
 तमू' यह एक चरण) देवसत्यकला का, पौन मन्त्र (१७ वें मन्त्र के शेष तीन चरण)
 पृथिवीकला का, एवं एक मन्त्र (अठारहवां मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि
 विषयविभागप्रदर्शन में स्पष्ट कर दिया गया है ।

यद्यपि इस आध्यात्मिक चर्चा से पाठक चुन्च हो रहे होंगे । परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाने
 हैं कि यह द्योभमान उन के लिए उपनिषद्ज्ञान का मार्ग ऋजु करदेगा । चलिए समष्टिरूप से
 विषयविभाग की ओर चलने हुए अपना द्योम और बढ़ाए ।

उपनिषत् को आत्मन्वी ईश्वरप्रजापति का निरूपण करते हुए तदंशभूत अग्न्यात्मन्त्या का
 निरूपण करना है । ईश्वरन्त्या पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है । विघ्नन्त्यसे
 पुरुष को अपने कर्मभाग को आगे रखना पड़ता है । स्वयं पुरुष भी अन्यय-अक्षर-क्षर भेद से
 त्रेधा विभक्त है, एवं अन्यय का कर्मभाग भी मन-प्राण-वाक् भेद से त्रेधा विभक्त है । इनमें
 मन अन्ययप्रधान है अक्षर प्राणप्रधान है, क्षर वाक्प्रधान है, यह है ईश्वरविभक्त । अग्न्यात्म-
 न्त्या में अन्ययस्त्व मन कामना से भोगों का, प्राणरूप अक्षर कामों का, वाक् रूप क्षर अक्षर

० 'सूर्याग्निःसौ' का युग्म है । यही संस्काररूप विश्व के प्रवर्तक हैं । अतएव दोनों में ३-३ भेद
 में समान मम रक्षणगण है ।

+ देवराज सत्य है, सत्य विषय है । अतएव अग्नि की देवराज निरूपण के लिए तीन मन्त्र रखने
 पड़े । पूरे तीन मन्त्र नहीं, यद्यपि तु स्यादो मन्त्र । १७ वें मन्त्र के तीन चरण पृथिवी में भुक्त होगए । कारण
 पृथिवी देवराज की प्रतिष्ठा है । त्रिगुणरूप से वह प्रतिष्ठित होती है, अतएव पृथिवीरूप एकदश से वह
 देवराज में परिणत होती है, जैसा कि एतद्वरण में आकर स्पष्ट होशयगा । इसी रक्षण को लक्ष्य
 में सत्य तीन चरणों में १० का निरूपण हुआ है, एक चरण का देवसत्य प्रकरण में अन्तर्भाव है ।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है । सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिता सम्बन्ध जिज्ञासा सम्बन्ध है। अत एव प्रसंगोपात्त मन्त्रसम्बन्ध का दिग्दर्शन कराना पड़ा। पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बखलाया गया है। कारण अग्नीषोमात्मक विश्व का उपादान शुक्लरूप व्यक्त महत् है, इस की मूलप्रकृति अत्यक्त ब्रह्म है। 'अनेजदेकम्' से इस का निरूपण हुआ है। फिर भी ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति है। 'प्रकृतिः कर्त्री' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वरूप में परिणत होने वाली है। जब विश्व की मूलप्रकृति का निरूपण होगया तो एक प्रकार से विश्व का निरूपण होगया। अनेजदेकम् के अन्तर्गत ही ऋषिने ब्रह्म-रूप (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझ है। इस प्रकरण में ब्रह्म शब्द शोडशीपुरुष का वाचक है, कर्मशब्द विकार (विश्व), विकृति (शुक्ल) गर्भित अत्यक्त ब्रह्म का वाचक है। इस कर्मण्य, अतएव कर्म नाम से (कर्त्री नाम से) प्रतिष्ठित अत्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से (पुरुष ब्रह्म के कर्मभाग से) हुआ है। अपनी आत्मज्ञान कला से यह अत्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म (उपादान) बना है। अतएव सृष्टिकर्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अथर्व ही ब्रह्म कह सकते हैं। 'तदसृष्ट्या तदेवानुमाविशत्' के अनुशासक द्वारा अत्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर यह षोडशीपुरुष (अमृतात्मा) इसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया है। दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मकाण्ड निरर में वह अमृत ब्रह्म प्रतिष्ठित हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उद्दिष्ट होता है कि हम ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म (विश्व) के साथ क्या सम्बन्ध है? 'केना सम्बन्धे?' दूसरे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मविद्वान् में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर निरगण-निरवेश-निरगन्ध आदि नामों से प्रतिष्ठित हो रहा है? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध जिज्ञासा को शान्त करते हैं।

दशमशाखीने ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है। वही सम्बन्ध 'परिविस्तृत' नाम से प्रतिष्ठित है। ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य है। तोरमें हम कार्य-कारणभावों के सम्बन्ध में विचार करने हैं। कार्य-कारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है। उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकारणभावों का विचार कीजिए। विविध कार्यकारणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

हेतुनिमित्तं प्रकृतिश्च योनिः कारणमूने प्रभवोद्भवौ तथा ।

विवर्तसंचारिरसप्रवादिकप्रकृतपूर्वं समवायिका मताः ॥

१-दीपशलाका से दीपक जल उठना है। दीपशलाका कारण है, इससे प्रकृतित दीपशिखा कार्य है। इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है। इसे ही 'प्रवर्तक' सम्बन्ध भी कहा जाता है। कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। कारण का कार्यरूपमें परिणत होजाना उपादान सम्बन्ध है। यहां कारणरूप दीपशलाका कार्यस्वरूप साधक बनती हुई भी स्वयं दीपशलाका नहीं बनती, यही विलक्षणता है।

२-गायु में एक प्रकार का मोदनावल (प्रेरणवल) देखा जाता है। मोदना कार्य है, वायु कारण है। इसी वायुमोदना से बुद्धादि में कम्प होता है। गेवों का संतरण होता है। यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसंबन्ध नाम से प्रसिद्ध है।

३-आकाश में पक्षी उड़ रहे हैं। सर्प दंशन (काट) करते हैं। मृगशावक (हरिण के बच्चे) उछला करते हैं। पुष्प में से गंध निकला करता है। यहां पक्षी-सर्प-मृगशावक-पुष्प यह चारों क्रमशः उड़ना-दंशन-उछलना-गंध इन चार कार्यों के कारण हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (खाभाविक), किंवा प्रकृति (सभाव) सम्बन्ध कहलाता है।

४-शब्द से शब्द पैदा होता है। आप धरनें मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है। आघात होते ही वाक् समुद्रमें उच्चारित शब्दाकाराकारित लहर उत्पन्न होजाती है। एक लहर के आघात से आगेदूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर, तीसरी से चौथी, पांचवीं इसप्रकार बीचियोंकी धारा बन जाती है। यही प्रतिघनिभाव है। यही लहर अन्य व्यक्ति के कानपर पहुंच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है। इसी के लिए— 'शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है। आप जो शब्द सुनते हैं यह उक्त बीचिन्याय

प्रतिष्ठित हैं। शिल्पी नई मूर्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पाषाणस्थित मूर्ति के बहिरावरण को हटा देता है। शिल्पी जिन मूर्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पाषाण में से वह निकाल सकता है। ध्यान रखे—यदि शिल्पी अपने शिल्पात्रों से (टांकी हथोड़े से) मूर्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्ति नष्ट हो जायगी। मूर्ति को बचा बचा कर ही उसे बाहर का आवरण हटाना पड़ता है। आवरण के अत्यन्तिक हटा देने से पाषाणस्थ प्रतिमा प्रकट हो जाती है। इसीका नाम सत्कार्यवाद है। जो वस्तु है, उसी की उपलब्धि होती है—यदिस्वा दुपलभ्येन। यदि पाषाण में मूर्ति पहिले से न होती तो सहस्रशिल्पी भी पाषाण की मूर्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिल्पी ही पाषाण को मूर्ति का रूप देता है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्ति बना लेता। इसी अभिप्राय से 'नासन्नो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनादिता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'भाविकसम्बन्ध' कहा जाता है। विश्व नया नहीं बनता, अपि तु अक्षरक्षारण्य के भंग से प्रकट होता है।

७- भूमि से अंकुर उत्पन्न होता है। प्राणियों से नोदना बल (प्रेरणबल) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मरुद्दी से जाल उत्पन्न होता है। यहां भूमि—प्राणी—रुद्र—पुरुष—मरुद्दी कारण हैं, अंकुर—नोदना—ताप—पुत्र—जाल—कार्य हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'भौतिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहां प्रभव का (कारण का) नाश नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होना है। सारा भूषिण्ड अंकुर नहीं बनता, साप शुक्र पुत्र नहीं बनता। सारी मरुद्दी जाल नहीं बनती। अपितु भू—शुक्र—मरुद्दी का एक प्रदेश ही अंकुर—पुत्र जालरूप में परिणत होना है। इसी को सांतानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

८- आठों त्रिवर्त्त सम्बन्ध है। अविष्णुपरिणामवाद ही विवर्त्त नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म विश्व बन गया है। ब्रह्म की अस्थान्तर का नाम ही विश्व रख दिया है। अथवा विरव ब्रह्म से पृथक् पदार्थ नहीं है। ब्रह्म ही विश्वरूप से प्रतीत होता रहा है। विश्व साक्षात् ब्रह्म है। यही

ब्रह्मनिवर्त्तनाद है । इसी को प्रातिभासिकविवर्त्तन कहते हैं । विरव ब्रह्मवत् स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता । विरव की देवता भाति है । सत्ता ब्रह्म की ही है । अथवा सत्ताब्रह्म का ही विरवरूप से भान हो रहा है । अलातचक्र क्षितिजवृत्त का भी इस प्रातिभासिक विवर्त्तन में ही अन्तर्भाव है ।

६-खगोल में मन्वरेखा विषुवद्वृत्त है । जिस पर भूविण्ड सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, वह वृत्त ज्ञान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है । तत्तत्तारापुञ्जों में विभक्त भेष-वृष-मिथुनादि राशिप राशिमृतिप है । नक्षत्रों से नक्षत्र पुरपो का स्वरूप बना हुआ है । यह सब काल्पनिक जगत् है । आकाश में कोई वास्तव में गोल वृत्त नहीं है, ज्ञान्तिवृत्तरूप कोई सड़क नहीं बनी हुई है । राशियों की कोई प्रतिमाए नहीं हैं । केवल वरूपना है । वरूपना से वृत्तादि कल्पित हैं । यही विकल्प कि वा वैकल्पिक सम्बन्ध है ।

१०-हमारा मन नई नई वरूपनाए किया करता है । अपने अन्तर्जगत् में विचित्र विचित्र स्वरूपों की भावना किया करता है । यही मनोरान्य है, इसी को 'ऐच्छिकसम्बन्ध' कहा जाता है ।

११-वृत्त से पुण्य-फल उत्पन्न होते हैं । लौह से किट्ट (जंग) उत्पन्न होता है । शरीर से केश लोम उत्पन्न होते हैं, शुक उत्पन्न होता है । यह सब 'औपपादिक सम्बन्ध' हैं ।

१२-तैल से लौ उत्पन्न होती है । शुक शरीररूप में परिणत होता है । शण से रस्सी बनती है, पत्र (वामन) बनते हैं । अगार से भरम उत्पन्न होता है । वायु से धमि, धमि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है । यहाँ कारण (प्रकृति) अपने स्वरूप से च्युत होता हुआ कार्य (विष्टि) रूप में परिणत हो रहा है । स्वरूपान्तरावहस्वरूप यही सम्बन्ध परिणामी किंवा परिणामिक नाम से प्रसिद्ध है ।

१३-रानी से औपधिप, औपधियों से शुक्र उत्पन्न होता है । यही रसानुवृत्तिक किं वा रसवाही सम्बन्ध है ।

१४-तिनया-गुरा-प्रासव-यइ सन कार्य सांपौतिक समरापी सम्बन्ध में अन्तर्भव है ।

- १५-पानी में लहर, मिट्टी में घट, तन्तु से पट, लकड़ी से कपाट, खर्राँ से कटक, तेज-
अव्-शक्तिका क्रमिक विकास इन सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।
- १६-अग्नि से पानी का गरम होजाना, रुद्र से ताप होजाना, सुवर्ण का विघल जाना,
इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।
- १७-स्फटिकमणि पर जपापुण्य का राग, यह आक्रामिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को
आभिव्यक्तिक सम्बन्ध कहा जाता है।
- १८-ऊर्ण (मरुदी) की नाभि से तन्तु उत्पन्न होता है। मरुदी कारण है, मरुदी से उत्पन्न जाल
कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशलोम कार्य हैं।
पृथिवी कारण है, श्लोमि वनस्पतिएं कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। मृत्तिका कारण
है, घट कार्य है। इन पांचों ही कारणों का उपादानभाव से सम्बन्ध है। उपादानकारण-
त्वेन पांचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत हो रही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पांचों
का पार्यक्य स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही लीजिए। मरुदीकी
नाभि से उत्पन्न होनेवाला जाल अपने प्रभव (मरुदी) से पृथक् निरावलम्ब रहता है। साथ
ही में आगे जाकर यह जाल अपने प्रभव (मरुदी) में लीन भी हो जाता है। इस प्रकार अपने
प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पृथक् रहना, अन्तमें प्रभव में ही लीन होजाना, यह एक
प्रकार का कार्यकारणभाव है। ऊर्णनाभि में, प्रभवानालम्बनत्व, प्रभवपृथक्चरत्व,
प्रभवविनयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशलोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। जाले की तरह पुरुष से
पृथक् नहीं रहते। साथ ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पृथक् भी होजाते हैं। इस प्रकार
यहां प्रभवालम्बनत्व, प्रभवानालम्बनत्व दोनों धर्म हैं। जाल की तरह इनका प्रभव में विलयन
नहीं होता। श्लोमि वनस्पतिएं प्रभव (पृथिवी) में आश्रयित हैं, आश्रयित होती हुई स्वतन्त्र-
रूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पृथक्चरत्व है। उन्हें काट कर फैला दीजिए,

फिर भी इनका आलम्बन पृथिवी ही रहती है। मरुद्दी के जाल में यह बात नहीं है। यदि उसे अलग कर दिया जायगा तो मरुद्दी इसका आलम्बन न रहेगी। यहां प्रत्येक दश में पृथिवी ही आलम्बन है। मरुद्दी का जाल जैसे मरुद्दी से पृथक् होजाता है, ओपधि वनस्पतिएं शरीरभूत पृथिवी से कभी पृथक् नहीं हो सकतीं। इनका विलयन पृथिवी में ही होता है। मरुद्दी में विलयन अविलयन दोनों धर्म हैं। यहां केवल विलयन ही है। पृथक्चरत्व जाल और ओपधियों में समान है। पुरुष से उत्पन्न केशलोम में आलम्बनत्व-अनालम्बनत्व दोनों धर्म थे, मरुद्दी में अनालम्बनत्व ही था, पृथिवी में आलम्बनत्व ही है। साथ ही में केशलोम में प्रभव-विलयनत्व है ही नहीं। ओपधि वनस्पतियों में प्रभवविलयनत्व ही है। मरुद्दी के जाल में विलयनत्व अविलयनत्व दोनों धर्म हैं इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से मिलच्छाया है। यहां पुत्र अपने प्रभव (पिता) में आलम्बित नहीं है। इसका विलयन भी मिट्टी में होता है। परन्तु जाल-ओपधि-केशलोम-पुत्रवत्-घना मिट्टी से पृथक्चर नहीं है। पन्दि से विकृतिन्न उत्पन्न होते हैं। यहां भी उपादान कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, परन्तु यह पांशों से मिलच्छाया है। दीपशलाका से अन्व दीपक जल पड़ता है। शलाकाग्नि फारण दे, परन्तु शलाकाग्नि का वत् किञ्चित् अंश भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। पुष्पधारक निमित्त कारणता का भी ऐसे स्थल में समावेश नहीं होता, एवं मृदुघटवत् उपादान कारणता भी नहीं मानी जायती है। वैसा मिलच्छाया सम्बन्ध है।

उपर्युक्त पुत्र एक उदाहरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि कार्यकारणभाव किसी एक ही निष्पत्ति पर प्रीतिष्ठित नहीं है। यदि ऐसा होता तो विरय के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। मक्खन उपादाक तत्र एक है, हममें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्बन्ध की मिलच्छाया, एवं पृथक्त्वा से पदार्थों में वैविध्य उत्पन्न होना है। अन्वय सृष्टि का पर्याप्तान्तावस्थाओं के सम्बन्धों पर ही ग्यान पड़ता है।

१-प्रमथालम्बनत्व
 १-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथोर्णिनाभिः सृजते गृह्वे च” १

१-प्रमथालम्बनत्व
 २-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथा पृथिव्यामोपथयः सम्भवन्ति” २

१-प्रमथालम्बनत्व
 ३-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथा सतः पुरुषाव केशलोमानि” ३

१-प्रमथालम्बनत्व
 ४-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथा पितुः पुत्रः” ४

१-प्रमथालम्बनत्व
 ५-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथा सृष्टिकालो घटः” ५

१-प्रमथालम्बनत्व
 ६-२-प्रमथविलयनत्व
 ३-प्रमथपृथक्चरत्व
 —०—

} “यथा सुदीप्तात् पावसाद्दिस्फुलिङ्गाः भवन्ते” ६

उपर्युक्त कुछ एक निदर्शनों से पाठकों को विदित होगया होगा कि विद्य में कार्यकारण-
 भाव अनेक भागों में विभक्त हैं। ऐसी अवस्था में—‘एकभिन्न धर्मणि विरुद्धनानाकोश्व-
 गाहिज्ञानं संशयः’ इस न्याय के अनुसार कारण ब्रह्म और कार्य कर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा
 का होना स्वाभाविक होजाता है। प्रकृत में केवल ‘पद्विकल्प सम्बन्ध’ की ही प्रधानता है।
 इस पद्विकल्प सम्बन्ध के आगे जाकर १३ विवर्त होजाते हैं। इन १३ हों का ४-४-५
 यह क्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्याप्तवृत्तित्व सम्बन्ध हैं, पाच अन्वाभक्तिवृत्तित्व
 सम्बन्ध हैं। तैरहों का पद्विकल्पों में अन्तर्भाव है। इसी पद्विकल्प सम्बन्ध को—‘अभिन्न-
 सत्ताकार्यकारणभावसम्बन्ध’ कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के घड़े पर
 घट्टि डालिए। मिट्टी से घड़ा बना है, वह सभी को विदित है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य
 किंवा कर्म है। मिट्टीरूप कारण से उपन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है ?
 अथवा मिट्टी का घड़े के साथ क्या सम्बन्ध है ? (कार्य का कारण के साथ, कारण का कार्य
 के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी घट की प्रतीक्षा है। मिट्टी को छोड़ कर
 घट कथमपि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि
 घट मिट्टी में है, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही में घटावच्छिन्न मिट्टी घट को छोड़कर नहीं
 रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट बटलाता है, वह घटरूप वृत्तिका सचगुच घट के विना
 नहीं रह सकती। घट के नष्ट होजाने पर मिट्टी अवश्य रहेगी, परन्तु घटाकाराकारित मिट्टी न
 रहेगी। घटकाररूप मिट्टी तभी तक है, जब तक कि घट का आकार विद्यमान है। ऐसी परि-
 स्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े में है, यही दूसरा सम्बन्ध है। घट एक स्वतन्त्र
 पदार्थ है, मिट्टी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि घट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो—‘घटमानय’
 (घटा लाओ) इस आज्ञा से मिट्टी भी लाई जासकती थी, एवं ‘मिट्टी लाओ’ इस वाक्य से
 वृत्तिका का भी आनयन होसकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। घटशब्द से घड़ा ही लायाजाता
 है, वृत्तिका शब्द से मिट्टी ही लाई जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि
 मिट्टी घड़े में भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। घट के परमाणु टूट जाइए, वृत्तिका

के अतिरिक्त उसमें आरभको दूसरी वस्तु न मिलेगी। मिट्टी ही तो घटरूप में परिणत होती है। घट मिट्टी से भिन्न पदार्थ नहीं है। 'वाचारम्भणां विकारो नामधेयं मृत्तिकैवेव सत्यम्' के अनुसार घट सत्ता वस्तुतः मिट्टी की ही सत्ता है। ऐसी परिस्थिति में घटमृत्तिका से कैसे पृथक् होसकता है। घट मिट्टी है, यही निष्कर्ष है। यही चौथा सम्बन्ध है। मिट्टी घट के बिना भी रह सकती है, परन्तु घट बिना मिट्टी के एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। यही पांचवां सम्बन्ध है। घट कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। मिट्टी ही घटरूप तो दिखलाई देरही है। जिस प्रकारस्याणु में पुरुष की, मृगमरीचिका में जल की, शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, एतमेव मिट्टी में घटे की भ्रान्ति हो रही है। इसी को दार्शनिक अभ्यास कहा करते हैं। मिट्टी घड़ा नहीं है, केवल प्रतीति होरही है। जिस सम्बन्ध से सर्वथा अस्तु घट मिट्टी में सदरूप से प्रतीति होरहा है, उसी को 'अभ्यास सम्बन्ध' कहा जाता है। यही ६ वा सम्बन्ध है। इसप्रकार मृद्घट का कार्यकारणसम्बन्ध निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त देखा जाता है।

- १—घटो मृदि..... (घड़ा मिट्टी में है)----->कार्य कारणे
- २—मृद् घटे..... (मिट्टी घड़े में है)----->कारणं कार्ये
- ३—मृद्घटौ भिन्नौ..... (घड़ा भिन्न है, मिट्टी भिन्न है)----->कार्यकारणेभिन्ने
- ४—मृत्तिकैव घटः..... (मिट्टी ही घड़ा है)----->कारणमेव कार्यम्
- ५—घटो मृत्तिकातो ऽभिन्नः, मृत्तिका- } घड़ा मिट्टीसे अभिन्न है } -->कार्यं कारणादभिन्नम्,
तु घटतो भिन्ना } मिट्टी घट से भिन्न है } -->कारणं तु कार्याद् भिन्नम्
- ६—मघप्यस्तो घटः..... (मिट्टी में घड़ा व्यपगत है)----->कारणे कार्यमप्यस्तम्

उपरोक्त यही ६ सम्बन्ध ब्रह्मकर्म में समभिर। "तव सद्गु तदेवानुमात्रियत्" के अनुसार वह ब्रह्म-तत्त्व कर्ममय विद्य में व्याप्त है। उधर वह कर्म (विद्य) उस ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म भिन्न है, विद्य भिन्न है। ज्ञानकर्ममय ब्रह्म का कर्मभाग ही विद्य यन रहा है। ब्रह्म कर्म-मे, भिन्न है, क्यों

किं कर्ममय विश्व के न रहने पर भी ब्रह्म स्वस्वरूप से विना विरव की अपेक्षा के प्रतिबिम्ब रहता है परन्तु कर्म (विरव) विश्व से अभिन्न है । कारण कर्म (विश्व) ब्रह्म कारण के बिना सर्वाथा अनुपपन्न है । ब्रह्म में कर्म अव्यस्त है । यही ब्रह्मकर्म का पङ्क्तिरूप सम्बन्ध है । वह हममें है । यह उसमें है । दोनों अभिन्न हैं, वही यह है । वह इससे भिन्न है, यह उससे अभिन्न है उस में यह भास रहा है ।

- | | | |
|--|---|---|
| १-ब्रह्म कर्मस्थम् | → | कारणं कार्यस्थम् |
| २-कर्म ब्रह्मस्थम् | → | कार्यं कारणस्थम् |
| ३-ब्रह्मकर्मणी भिन्ने | → | कार्यकारणे भिन्ने |
| ४-ब्रह्मैव कर्म | → | कारणमेव कार्यम् |
| ५-ब्रह्म कर्मत पृथक्
कर्म तु अपृथक् | } | कारणं कार्यात्पृथक्
कार्यं तु कारणदपृथक् |
| ६-ब्रह्मणि कर्माध्यस्तम् | | → |

“कर्मत्वकर्मस्थं, मकर्म कर्मसत्,
भिन्नद्वयं तत्, तदभिलगद्वयम्
अकर्म भिद्येत न कर्म भिद्येत,
ऽध्यासोऽमृते स्यादिति पद-
विकल्पनाः।”
(श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदनाम्)

इन ६श्लो सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रों द्वारा प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है । 'तदेजति०' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । 'यस्तु सर्वाणि०' इत्यादि मन्त्र 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । परं 'यस्मिन्सर्वाणि' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे सम्बन्ध का प्रतिपादन करना है । ६ श्लो सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं । अतः श्रुतियों एतौ को विशेष माना है । तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तन्नैजति तद्ददरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्य बाह्यतः ॥१॥ (ई० ५ मं०) ।

वह चमत्ता है, वह नहीं चमत्ता है, वह दूर है, वह फिर समीप है। वह सबको भीतर है वह फिर सबके बाहर है। वह है मन्त्र को अर्थार्थ । इस मन्त्र के प्रकृतार्थों विधेयान्मा, कृतात्मा भेद से दो अर्थ एक साहित्यज्ञान सम्बन्धी एक अर्थ है। प्रकृतार्थ तीन अर्थ हो जाते हैं ।

विद्वान्-अविद्वान् भेद से मनुष्य की दो भागों में विभक्त है । शांतिव्ययेन से अपनी बुद्धि को विद्यासंस्कार से युक्त रखने वाले सदैवसिद्धिवादी विचारशील मनुष्य विद्वान् कहलाते हैं । 'श्वान्ना पीता भोज उडाना' इस सिद्धान्त को परमपुरुषार्थ समझने वाले, श्रमज्ञान से शून्य लौकिक विषयों में रत यथाजात मनुष्य अविद्वान् माने जाते हैं । विद्वान् मनुष्य का आत्मा-कृतकृत्य रहता है, अतएव इसे 'कृतात्मा' कहा जाता है । अविद्वान् मनुष्य का आत्मा-वासना-मय भौतिक संस्कारों से आवृत होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, अतएव इसे 'प्रकृतात्मा' कहा जाता है । इन्द्रियों के द्वारा रूपरसान्दि-भौतिक विषयों का आगमन होता है । आगत-विषयों का संस्कार ज्ञानमय मन पर होता है । विषय-भौतिक होते हुए तमोमय हैं, अतएव ज्ञान-श्रोति के आवरक हैं । इनके सम्बन्ध से ज्ञानमय मन अपनी बिच्छुक्ति (ज्ञानप्रकाश) से आवृत होता हुआ जड़वत् बन जाता है । मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता है । फलतः मन के भौतिक आवरण से बुद्धि भी मलिन हो जाती है । मलिन बुद्धिसे बुद्धियुक्त महानात्मा का सत्वभाग मलिन हो जाता है । महान् पर पौंडरीपुरुषरूप आत्मा प्रतिष्ठित है । मलिनसत्व की कृपा से आत्मा का विद्याभाग मलिन हो जाता है, यही दुःख का मूल है । इसका प्रधान कारण मलिनबुद्धि है । बुद्धि के आम्पन्तर भाग में (इस ओर) आत्मा है, बाह्य भाग में (उत्त ओर) विषय है । विषयानुगत बुद्धि मलिन होती होती हुई आम्पन्तर आत्मा से अयुक्त रहती है । कार्यकारण

*-बहिरन्तश्च भूतानामन्तरात्परमेव च ।
 सुखमर्थोत्तदविश्वं च दूरस्थं चान्तिकं च तत् ॥ श्री. (११.२१)
 इरासुदरे चरित्वात्तिकं च प्रथमं विदेव निरितं गुराकम् ॥ (उपनिषत्)

विवेकरूपा भावना नष्ट हो जाती है। ऐसी अयुक्त बुद्धि बुद्धि ही नहीं है, अविद्यामय है। बुद्धि ज्ञानसाधिका है, ज्ञानप्रवर्तकत्व बुद्धि का स्वरूपधर्म है। जब स्वरूप रक्षक ज्ञान-योग लक्षण स्वरूपधर्म ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के समान है। इसी अर्थि-
 * प्राय से भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।६६) ।

विषयानुगता बुद्धि अविद्यामयी बनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है। ऐसा ही आत्मा (मनुष्य) अकृतात्मा कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसे कभी आत्मविषयिणी जिज्ञासा ही नहीं होती। "आत्मा-शस्त्र-परलोक-देवता सब ढोंग हैं" ऐसे श्रुतकों की यह आवासभूमि बना रहता है। रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आवरण से यह अचित् बन रहा है। सांसारिक विषयों को ही यह अकृतात्मा सुखसाधन समझता है। इसी अकृतात्मर्मी के लिए 'सर्वज्ञानविमूर्धास्ताद् बुद्धि नष्टानचेतसः०' यह कहा गया है। ऐसे अकृतात्मा का कर्मरूप, अतएव सर्वथा एजद्रूप (परिचर्यनशील क्षणिक) निश्च ही प्रधान आराध्य है।

ठीक इसके विपरीत जिन्होंने विद्यासमुचित निरव्याम कर्म द्वारा आवरणों वा द्वार अवरुद्ध करते हुए प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि से संचित आवरणों को नष्ट करते हुए विशुद्ध बुद्धियोग प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्धास्यगमन योगी कृतात्मा हैं, यही मुक्तयोगी हैं। इनकी दृष्टि उस अनेजद्रूप ब्रह्ममाग पर ही रहती है। एक छोर में मुक्त योगी हैं, कृतात्मा हैं। दूसरे छोर में अकृतात्मा हैं। एक ज्ञानमय के उपासक हैं, शान्तरय के अनुयायी हैं। दूसरे कर्ममय विषय के उपासक हैं, गतिशील क्षणिक सांसारिक विषयों में रत हैं। प्रकृत मन्त्र इन्हीं दोनों को सत्पना कर कहता है कि "जो संसारी है, उन की दृष्टि में यह तरंग चलता है। जो मुक्तात्मा है, उनकी दृष्टि में यह तरंग सर्वथा अविचाली है। अर्थात् मुक्तात्मा अनेजद्रूप को मुख्य समझते हैं।

संसारी एजत् को प्रधान मान रहे हैं। सांसारिक के लिए वह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप में समीप है। सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर छुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है। योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है। सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है, योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं। एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय श्रमरूप विश्व के अनुयायी श्रमणक हैं। एक आस्तिकवर्ग है, दूसरा नास्तिकवर्ग है। एक विशुद्धकर्म के अनुयायी कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं। एक सांख्यमतानुयायी हैं, दूसरे योगमतानुयायी हैं। इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं।

१-तदेवति +----- अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विद्यानुयायी)-कर्म
 २-तन्मैवति +----- कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म

१-तद्दूरे +----- अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विद्यानुयायी)-कर्म
 २-तदन्तिके +----- कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म

१-तदन्तरस्य सर्वस्य +----- अकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विद्यानुयायी)-कर्म
 २-तदुसर्वस्य बाह्यतः +----- कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)-ब्रह्म

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि दोनों को पृथक् समझना अज्ञान है। वही विश्व है, वही विश्वात्मा है। वही एजत् है, वही अनेजत् है। वही दूर है, वही समीप है। वही सबके भीतर है, वही सबके बाहर है। अर्थात् ब्रह्मर्हित कर्मभाग से वह चल है, कर्मगर्भित ब्रह्मभाग से वह अचल है। ब्र० ग० कर्मदृष्टया वह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्टया वह समीप है। प० ग० कर्मदृष्टया वह भीतर प्रतीत

होता है, क० ग० ब्रह्मण्य वही सर्वत्र प्रत्यक्ष है । ब्रह्म भी वही है, कर्म भी वही है । वही ज्ञान है, वही योग है । जो ज्ञानयोग है, वही कर्मयोग है— “यत्कं सःख्यं च योगं च यः पश्यति स (एव वैदिकभारं) पश्यति—(नान्यो भेदराती)” । द्वितीय अर्थ में इसी भाव का स्पष्टीकरण है ।

१



तीसरे हैं विवेकात्मा । जिस प्रकार कर्मठ अकृतात्मा, एवं ज्ञानी कृतात्मा कहलाते हैं, एतद्वै उपासक को विवेकात्मा कहा जाता है । सिद्ध-साध्य दोनों अस्त्यार्थों से पृथक् लौकिक कर्मों में रत अकृतात्मा है, साध्यदशासे युक्त मनुष्य विवेकात्मा है इसी को ‘युञ्जानयोगी’ ‘भारतनु’ ‘निहानु’ इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है । सिद्धदशा में वही विवेकात्मा कृतात्मा कहलाने लगता है । इसी को—‘युक्तयोगी’ ‘कृतकृत्य’ अदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । परम वैदिक शुद्धादित सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यश्री ने इन्हीं उक्त तीन विभागों को मार्पादिकः जीव, भारादिकजीव, पुष्टजीव भेद से इन नामों से व्यवहृत किया है । कृतात्मा युक्तपेक्षी (त्रिनपर भगवान् का अनुपद हो चुका है) पुष्टजीव कहलाते हैं—“भगवदनुग्रहः पोषः” । अन्वयसम्प्रदाय में इतरत्र भटकने वाले शास्त्रविमुक्त यथानात जीव—‘भारादिक’ कहलाने हैं । वही लक्ष्य अकृतात्मा हैं । एव भगवदनुपदस्य पुष्टिमात्र ही प्राप्ति के लिए जो शुद्ध-मार्ग का अनुभव करने हुए शिक्षाशास्त्र को प्राप्त करने में यत्नशील बने रहते हैं, वे ही ‘मार्पादिकजीव’ हैं । भगवदनुपदस्य अनुभव के सम्बन्ध में ही उक्त सम्प्रदाय ‘पुष्टिमार्ग’ नाम से परिचित है ।



- १-कृतान्ति—(युक्तयोगी) — सिद्धासथापन—पुष्ट — (मनोमयमार्ग) — शैली
 २-विशेषाणा (युज्जानयोगी) — साध्यासथापन — प्रायश्चित्त (प्राणमयमार्ग) — उपासक
 ३-अकृतान्ति (यथाजात मनुष्य) लक्ष्ययुतासथापन—प्रायश्चित्त (वाङ्मयमार्ग) — कर्मठ



उपासना मन्त्र की वस्तु है। इसमें ज्ञानकर्म दोनों का समन्वय है। इसी को बुद्धियोग कहा जाता है, जिसका कि दिग्दर्शन प्रथमार्धोपसंहार में कराया जा चुका है। ब्रह्म पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। ब्रह्म अकर्म है, कर्ता कर्म है। अकर्म में कर्म समझिए, कर्म में अकर्म समझिए। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित समझने हुए कर्म करने से कर्मजनित बन्धनमूला आसक्ति नहीं होती। ऐसा कर्म अकर्मन होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मण्ययाग्य कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।

सिद्ध्यते न स पापेन पश्यन्नभिवान्मसा ॥ (गी० ५।१०) ।

उक्त दृष्टि से कर्ममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषश्रेष्ठ ही 'विशेषात्मा' कहलाता है। इसकी दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एजत्, चर, अन्तःप्रविष्ट समझता है, ब्रह्मदृष्टि से वह उसी को अनेजत्—समीप—सर्वत्र व्याप्त समझ रहा है। इस अभिलिखनावना से आगे जाकर विशेषाणा—'यत्रत्वस्य सर्वमात्मिनाभूत्' इस श्रुति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धासथा पर पहुँच जाता है। रागद्वेष नष्ट हो जाता है, अद्वैतमूलक ब्रह्मानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रकृत मन्त्र इसी भाव का निरूपण करता है।

षोडशी पुरुष का अमृतप्रधान विद्याभाग समार में स्थितिरूप से, एवं कर्मभाग गतिरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है। विश्वदृष्टया यद् स्थितिरूप है, आत्मदृष्टया वह विद्या—कर्ममय है। स्थिति गतिसमष्टि 'युजुर्वेद' है। तदवच्छिन्न, अतएव वेदपूर्ति नाम से प्रसिद्ध षोडशीब्रह्म स्थितिगतिरूप से ही विश्व में व्याप्त हो रहा है, जैसा कि 'अनेतद्रेकरूपं' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से

बतलाया जा चुका है। यद्यपि स्थितिगतिभाव तमःप्रकाशम् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय हो रहा है। कैसे ? इसके लिए उसी पूर्व परिचित प्राजापत्यचक्र (कुम्हार के चाक) पर दृष्टि डालिए। कुम्भकार के हस्तचक्ररूप इन्द्र के विद्ये-पण द्वारा दण्ड के आघात से स्थिर कोलक पर प्रतिष्ठित रहता हुआ चक्र प्रचल वेग से घूमने लगता है। परमाणु परमाणु गतिशील हैं। इस प्रकार यह चक्र घंटों चलना रहता है। परन्तु आश्चर्य है कि घंटों चञ्चल रहने पर भी वह अपने नियत स्थान से बिन्दुमात्र भी आगे नहीं चलता। हम जब भी चक्र को देखते हैं, उसी नियत स्थान पर पाते हैं। चल रहा है, इस लिए तो चक्र 'एजति' है। साथ ही में स्थानत्यागलक्षण स्थितिविन्दुस्तिरूप गतिफल के अभाव से—'नैजति' यह भी मानना पड़ता है। इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्म एक ही चक्र में समा रहे हैं। एक मनुष्य अपने घर से दस मिनट में विक्टोरिया गार्डन पहुंचता है। यदि वह स्थान पर ही खड़ा रहता तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता था। अपने स्थान से हटने पर ही उसके लिए—'गच्छति' (जाता है) का प्रयोग होता है। एक मनुष्य अपने स्थान पर ही खड़ा हुआ हाथ हिला रहा है। इसके लिए लोको में—'अमुक मनुष्य अपने स्थान पर खड़ा हुआ निरन्तर हाथ हिला रहा है' यही तो कहा जाता है। यही आप स्थिति-गति दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। मनुष्य बिलकुल नहीं चल रहा है, इसलिए 'नैजति' का समन्वय है। अवयवरूप हाथ चल रहा है, इसलिए 'एजति' का समन्वय है। समुदाय स्थिर है, अवयव चञ्चल हैं। दोनों विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही मनुष्य है। यही परिस्थिति यहाँ पर समझिए। अन्नवक्र ज्ञानगूर्वा सर्वथा 'नैजति', जलरूप से सर्वथा अवल। कर्मगूर्वा सर्वथा 'एजति'—पदरूप से सर्वथा चल। चलाचल की समष्टि ही ईश्वर है—'तदेजति तन्नैजति'।

कुम्भकार का चक्र घूम रहा है, उसे आप देख रहे हैं। घूमते हुए चक्र की जो बिन्दु अभी अभी आपके सामने थी, लीजिए पलक भरते ही वह दूर से दूर उस छोर में चली गई, एवं जिस चक्रबिन्दु को आप अपने से दूर समझते थे, वह अभी अभी इसी क्षण में आपके समीप आ गई। सचमुच प्रतिबिन्दु दूर से दूर है, समीप से समीप है—'तद्दूरे तद्दन्तिके'।

पूम्ता हुआ चक्र गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है । बाहर भीतर जिधर देखो उधर चक्र ही चक्र है । पूर्वोक्त शुभब्रह्म भी ऐसा ही है—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' । वस्तुतः कुम्भवार के लौकिक चक्र के साथ धर्मीयिक ब्रह्मचक्र की तुलना करना सर्वथा असंगत है । वह गतिस्थिति तो—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' के अनुसार अनुपमेय (ल सानी—द्वितीय) है । जितनी स्थिरता आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतम है । आपके लिए वह अचिन्त्य है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है । एकमात्र तदर्थ उद्देश्य से आप उसे जान सकते हैं । "उस की गतिस्थिति ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी" इस प्रकार उसका स्वरूप उद्देश्य कर लेना आपके लिए सर्वथा असंभव है ।

विशुद्ध आत्मापेक्षया ब्रह्म स्थिर है, विशुद्ध बर्मपेक्षया चर है । वेददृष्टया जू अचिन्तुन ब्रह्म स्थिर है, यदवच्छेदेन चर है । वह स्थितितत्त्व उस गतितत्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है । यद्यपि स्थितितत्त्व गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतत्त्व ही प्रधान है । अतएव 'तत्-तत्' इस रूप से उसी को बाहर-भीतर-दूर-समीप बतलाया गया है । स्थिति आधार है, गति आधेय है । आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीमाव मानना उचित होता है । अपि च ब्रह्मरूप स्थितितत्त्व कारण है, निष्-रूप गतितत्त्व कार्य है । कारण प्रथमसत्ताक है, इसलिए भी अन्तरान्तरीमाव में कृत्ति में तत् शब्दवाच्य ब्रह्म को ही प्रधानता दी है । स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक-मेजपर रखी है । टेबिल पुस्तक का आधार अवरय है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के भागमात्र से संश्लिष्ट है । पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है । परन्तु यहां का आधार आधेयभाव-ऐसा नहीं है । यहां यदवच्छेदेन स्थिति है, तदवच्छेदेन गति है । पानी में संश्लिष्ट शर्कराखण्ड जैसा आधारधेयभाव है । पानी आधार है, शर्करा आधेय है । परन्तु दोनों मिलकर एकरूप बन रहे हैं । पानी के परमाणु परमाणु में शर्करा व्याप्त है, शर्करा के अंश प्रत्यंश में पानी व्याप्त है । यदवच्छेदेन पानी व्याप्त है, तदवच्छेदेन शर्करा व्याप्त है । ऐसा श्रोतप्रो-भावात्मक आधारधेयभाव ही प्रकृत में अभिप्रेत है ।

सिद्धावलोकनदृष्टया एक बार पुनः षड्विम्बल्य सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए । इन ६ ओं सम्बन्धों में पहिले दो सम्बन्ध एक श्रेणी के हैं । इन्हें हम 'ओतप्रोतभावसम्बन्ध' कह सकते हैं । तीसरा भेद सम्बन्ध है, चौथा अभेद सम्बन्ध है, पांचवा भेदाभेद सम्बन्ध है । भेद-अभेद-भेदाभेद इत्यादि पांचों सम्बन्ध परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं । एक ही तब में अनेक (विरुद्ध) सम्बन्ध हो नहीं सकते, परन्तु हो रहे हैं । यही इस ब्रह्म-कर्म सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है । यही 'प्र वदत' कि वा 'प्र याम' नाम क दृष्ट अनिर्वचनीय सम्बन्ध है ।

- | | |
|--|-------------------------|
| १-ब्रह्म कर्म में अनुस्यूत है । (ब्रह्म कर्मस्थम्) | } --→ ओतप्रोतभावसम्बन्ध |
| २-कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है । (कर्म ब्रह्मस्थम्) | |
| ३-ब्रह्म कर्म दोनों परस्पर मिल हैं (ब्रह्मकर्मणो भिन्ने) | } ++→ भेदसम्बन्ध |
| ४-ब्रह्म ही कर्मरूप में परिणत हो रहा है (ब्रह्मैव कर्म) | } ++→ अभेदसम्बन्ध |
| ५-ब्रह्म कर्म से मिल है, कर्म ब्रह्म ही है । (ब्रह्म कर्मत-
पृथक्, कर्म चपृथक्) | } +-→ भेदाभेदसम्बन्ध |
| ६-दोनों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है । (ब्रह्मणि कर्मा-
प्यस्तम्) | } --→ अनिर्वचनीयसम्बन्ध |

'तदेजति' इत्यादि मन्त्र उक्त ६ ओं सम्बन्धों में से 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध पर प्रधान दृष्टि रखता हुआ 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । अथ-प्रधानापेक्षया प्रवृत्त मन्त्र को प्रथम सम्बन्ध का निरूपक माना जासकता है—(देखिए ई०वि० भा० पृ० सं० द्वि० खं० १३६), एव गौरवदृष्ट्या इसे द्वितीय सम्बन्ध का प्रतिपादक मानते हुए सम्बन्धद्वयीरूप ओतप्रोतभाव का दिग्दर्शन माना जासकता है । मन्त्र में सर्वत्र "तत्—तद्" का उल्लेख है । "वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह समीप है, वह भीतर है, वह बाहर है" इस प्रकार प्रतिपादक के साथ तत् शब्दवाच्य ब्रह्म की ही प्रधानता है । ब्रह्म कर्म में

'ओन' हो रहा है। साथ ही में एजति, दूरे, सर्वस्य वाह्यतः, इत्यादि वाक्य 'ब्रह्म ब्रह्म में प्रोत है' इस द्वितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकृषित करते हैं। मन्त्र का 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य वाह्यतः' यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। अतः इस मन्त्र का प्रधान लक्ष्य पूर्व के 'अनेजदेकम्' मन्त्र में बताया गए ब्रह्मकर्मात्मक शुक्रस्वरूप का ही 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण है। मन्त्रों में जायिता (युनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निष्कर्ष यह निकला कि 'तदेजति०' इत्यादि मन्त्र तो पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है, एवं 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि०' इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में 'यस्तु सर्वाणि०' यह ६ था मन्त्र तो आरम्भ के—'ब्रह्म कर्मस्यम्—कर्म ब्रह्मस्थम्' इन दो साधनों का निरूपण करता है, एवं 'यस्मिन्सर्वाणि०' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे अर्थ सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। विश्व कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रधानता अग्रधानता में तारतम्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिए उसे ब्रह्म कहा है। विश्व में कर्म प्रधान है, इसलिए इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का चर्मचतुर्धों से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विषय ही दृष्टि का विषय बनता है। पहिले हमारी दृष्टि स्थूल विश्व पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर जाती है, अनन्तर (विज्ञानद्वारा) तदन्त - प्रविष्ट आत्मतत्त्व पर दृष्टि जाती है। इसी स्थूल-सूक्ष्मभाव के क्रम को प्रधान मानकर स्थूलरु-

न्धतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पहिले कर्म को ब्रह्म में अनुस्यूत बतलाता है, अनन्तर ब्रह्म को वर्णन बतलाता है । इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि—आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्यम्)
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते । (ब्रह्म कर्मस्यम्)

(ईशोपनिषत् ६ मन्त्र)

मन्त्र का पूर्वार्द्ध 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का, एवं उत्तरार्द्ध—'ब्रह्म कर्मस्यम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है । 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है, 'सर्वभूतेषु चात्मानं' ब्रह्म है । जो (आत्मतत्त्ववेत्ता) सम्पूर्ण भूतों (विश्व) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत देखता है एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता। यह है मन्त्र का अन्वयार्थ ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है, उक्त मंत्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्यम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है । 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से भूत भाग को ही प्रधानता दी गई है । 'तदेजति' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहां ब्रह्म को प्रधान मान रहा है, वहां यह मन्त्र भूत-भाग को प्रधान लक्ष्य बना रहा है । प्रत्यक्-पराक् भेद से ब्रह्म के दो विवर्त हैं । प्रत्यग्ब्रह्म 'अहम्' है, पराग्ब्रह्म 'त्वम्' है । एक अस्मत्शब्दवाच्य विषयी ब्रह्म है, दूसरा युष्मदपद-वाच्य विषय ब्रह्म है । विषयी प्रत्यक् है, विषय पराक् है, बाहर है । युष्मदस्मत्प्रत्यक्कोचर विषय विषयी तमःअकाशवद् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं । प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराग्ब्रह्म कर्मप्रधान है । हम और विषय यही दोनों क्रमशः प्रत्यक् पराक् ब्रह्म हैं । हम (आत्मा) भीतर हैं, विषय बाहर हैं । हम ज्ञानप्रधान हैं, विषय कर्मप्रधान हैं । ज्ञान प्रकाश है, उद्योति है ।

कर्म अप्रकाश है, आवरण है। इस प्रकार लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्दास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मीयता से सम्बन्ध है। निन्दाभाव का परभाव (अनात्मीयता) से संबन्ध है। संसार (संसारी मनुष्य) अपने को घोर अनुगत रहता है, पराए की घोर विमुख रहता है। अनात्मीय वस्तु से घृणा करता है, आत्मीय से प्रेम करता है। विद्या से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विषय, एवं ब्रह्मरूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने वाला मनुष्य संसार में कितनों ही से राग करता है, कितनों ही से द्वेष करता है। अनुकूल वेदनीयता में रागका, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषका उदय है। दोनों में बंधनमूला आसक्ति है। आसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है। यह निन्दा-स्तुतिभाव तभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है। द्वेष तभी तक है, जब तक कि वह उसे अनात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह विदित होजाय कि मैं उसमें हूँ, वह मुझमें है, हम दोनों एक ही चरण के द्विदल हैं, मेरा स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रतिष्ठित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्दाभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बढ़ा, कौन छोटा, कौन निन्द्य, कौन स्तुत्य, कौन निन्दक, कौन स्तोता। इसी निन्दामूलक दुरिस्तभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर अनुप्राह्य अनुप्राह्यता का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि—“तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में समझो, एवं सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को समझो। धर्मरूप विश्व के जँरे जँरे में अकर्मरूप ब्रह्म को व्याप्त समझो, एवं ब्रह्म में सर्वत्र कर्म को अनुस्यूत समझो। यदि तुम आत्मा और विश्व के इस अतिसूक्ष्मसम्बन्ध को व्यवसायबुद्धि से समझ गए तो तुम्हारा शोकमूलक निन्दास्तुतिभाव से सदा के लिए छुटकारा होगा—‘ततो न विजुगुप्सते’। स्तुतिभाव से आत्मा में क्षोभ का उदय होता है। यह क्षोभ ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मपतन का प्रवर्तक बनता है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व कथनानुसार रागद्वेष का अपने पराए से

सम्बन्ध है। जहाँ—‘यद् अपना है, वह पराया है’ यह भाव है, यही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है, तब तक बुद्धि क्लृप्त है। क्लृप्त बुद्धि ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य बुद्धि निर्वल बनती हुई, मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गदोषरूप आसक्तिभाव का प्रवर्धक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माविकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थं रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थं रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्मकी विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को भिलाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी श्रौतार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषद् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः परमेव, अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६



पूरे कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। “कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो” यह अक्षर ब्रह्म-कर्म इन दो तर्कों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कर्म है, जबतक कर्म है, तबतक भय है—
 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है, तबतक अशान्ति है—'अशान्तस्य कुतः सुखम्'।
 पूर्वनिष्कल्पशैली से किसी को द्वैत का धर्म न हो जाय, बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतधर्म का
 उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वांगी भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषत् ७ मंत्र)

ध्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म-
 साक्षात्कार हो जाता है, उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता
 है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तरं
 कुरुते, अथ भयं भवति' के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का
 मूल है। व्यापकता में कर्म नहीं है। एक वस्तु का अग्न्य स्थान की ओर झुकना ही तो कर्म
 है। व्यापकतावसे अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कर्मन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थि-
 ति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभास से
 मोह होजाता है। चित्त का वैचित्त्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य-
 कार्यविवेकता धारो जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है।
 इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल
 का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति
 कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

श्रुति का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-कर्म दो विधमें हैं। भाति दो हैं, सत्ता एक है, इच्छा परमाणतः अद्वैत है। सत्तामेव ही द्वैत का कारण बनता है। श्रुति का 'विज्ञानतः' शब्द का चमत्कार रखता है। 'जानतः' नहीं ब्रह्मा, 'विज्ञानतः' कहा है। "ब्रह्म व्यापक है, आत्मा एक है, कहीं भेद नहीं है" इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'जानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूततत्त्वज्ञान का 'विज्ञानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुममें सारी वस्तु निपटें पड़ती, जीवन भर 'ब्रह्मवेदं सर्वम्' 'आत्मवेदं सर्व-नेह नानास्ति किञ्चन' का पाठ यथा किया, परन्तु इस कोरे वाचिक ज्ञान से (शब्दश्रवणमात्र से) तुम्हें तबतक क्यापि शक्ति नहीं मिल सनती, जबतक कि तुम दयार्थरूप से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओ। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार कोरे शब्दात्मक को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तरात्मा से अद्वैततत्त्व पर विश्वास कर लोगे, तभी शोक-भेद से छुटकारा होगा। नहीं तो—'फलौ वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है ही। जानना सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विशेषरूप से—कार्यकारणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक जानना विशेषज्ञान है। विशेषरूप से जानना यथार्थ जानना है। इस विज्ञान का बुद्धि से सम्बन्ध है। 'इदमित्यमेव' यह विश्वास बुद्धि से ही होता है। ब्रह्म करना जहाँ मन का ध्यान है, विश्वास करना बुद्धि का काम है। बुद्धियोग ही आत्मा के विद्याभाग में प्रसादगुण का उत्पन्न करता हुआ शोक-भेद निवृत्ति का कारण बनता है। "पूर्व के मन्त्र में द्वैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ, एवं प्रश्नमन्त्र अद्वैतसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं सम्भव आदिष्ट।

उपायाः शिक्तमाणां वानानामुपनाननाः ।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीक्षते ॥ (वाक्यपदी) . .

इस शिक्षाविद्वान्त के अनुसार अधिकांशी भेद से श्रुतिमें द्वैत-अद्वैत दोनों भागों का प्रतिक निरूपण किया है। अस-कर्म को सभी शृणु शृणु सम्भले आरते हैं। पहिले श्रुति का अर्थान्तरात्मवेदबुद्धि का निष्कर्षण करती है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वका नि

समन्व रहे हो, विश्वास करो वे दोनों तत्त्व भात्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों में दोनों अनुस्यूत हैं । जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण होजाता है तो आगे जाकर—'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि' इत्यादि रूप से श्रुति रहे सहे मेद का भी निराकरण कर देती है । प्रातिभासिक द्वैत से व्यावहारिक द्वैत पर लाती है । अन्ततोगत्वा पारमार्थिक अद्वैत पर पहुंचा देती है । इस प्रकार प्रकृतमन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चतुर्थ सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ ब्रह्म-कर्म के अमेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन करता है ।

७

इति ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धाधिकारः



माकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणं-समाप्तम्

१





महत्स्वरूपानिदर्शन

- १— धेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाप्यः पन्था विषलेऽपनाय ॥ (यजुः ३१।१८) ।
- २— अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्ततामे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवस्यमाजानममे ॥ (यजुः ३१।१७) ।
- ३— तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रनाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (यजुः ३२।१) ।
- ४— क इमं वो निष्पन्ना चिकेत वासो मातृर्जनपत स्रधाभिः ।
वह्नीनां गर्भो अ्यपसानुपस्यान् महान् कविर्निश्चरति स्रधाभिः ॥ (ऋ० १।१५।७) ।
- ५— महतां अस्ति महिष दृष्यवेभिर्धनस्पृष्टुम सद्मानो ज्ञप्यान् ।
एको विश्वम सुवदत्य राजा स योधया च ह्यवया च जनान् ॥ (ऋ० ३।७६।२) ।
- ६— नि वेवेति पलितो दूत आस्पन्तर्महार्थाति रोचनेन ।
वपुं विभ्रदभि मो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ (ऋ० ३।५५।१) ।
- ७— यन्त्वा जनासो अग्नि सञ्चरन्ति गाव उप्शामिव ब्रजं यविष्ठः ।
दूतो देवानामसि नर्त्वानामन्तर्महार्थरसि रोचनेन ॥ (ऋ० १०।७।२) ।
- ८— तद्वै स प्राणोऽभन्महान् भूत्वा प्रजापतिः ।
भुक्तो भुजिष्या त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ (शत० ७।५।१।२१) ।
- ९— आभिः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् सभर्षितम् ।
एवत् प्राणग्निमिपच यदेतज्जानय सदसद्दरेण्यं परं विज्ञानाच्चद्रिष्टिं प्रजानाम् ॥
(मुण्डको० २।२।१) ।
- १०— महान् प्रसुर्यं पुरुषः सरतस्यैप प्रवर्त्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः (खेता० ३।११) ।
एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नास्मिन् क्षेत्रे संहरत्येव देवः ।
- ११— भूयः सद्गा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ (खेता० ५।३) ।
यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो मूर्तेभिर्व्यपश्यत ॥ (कठ० १।३।६) ।
- १२— अशरीरं शरीरेष्वनवशेष्ववस्थितं ।
महान्तं विमुमाःमानं मत्वा पीरो न शोचति ॥ (कठ० १।२।२) ।

* १-अग्निः, २-वायुः, ३-आदित्यः, ४-चन्द्रमाः (सोमः), ५-शुक्रं (मातरिवातायुः), ६-आपः, इत्येतेषां सम्यक्त्वाद् ब्रह्म, स प्रजापतिः इत्युक्तौ महानात्मा विद्वत्स्य पतिः ।

भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मैकमक्षरम्

स वेदैतन् परमं ब्रह्म धाम यत्र निरवं निहिनं भाति शुभ्रम् ।

अपासते दुष्टं ये ब्रह्मस्य स्ते "शुक" -मत्तदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

(सुण्डक ३।२।१०) ।

मम योनि-महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भे दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ २ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तस्मां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पितृ ॥ ३ ॥

(गीता १४।३।४) ।



सैवेदं सर्वम्" के अनुसार दरयमान सारा प्रपञ्च ब्रह्म है । इस के आठ अवयव

हैं, एवं अष्टाक्षरब्रह्म को गायत्री कहा जाता है । अतएव अष्टावयव ब्रह्मरूप

सर्वप्रपञ्च को हम 'गायत्रब्रह्म' कह सकते हैं, जैसा कि 'तान्येतान्यष्टौ । अष्टा-

क्षरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म च गायत्री' (जे० उ० ब्रा० १।१।८) ।

इत्यादि सामश्रुति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रजापति (ईश्वरप्रजापति) के यह आठ अवयव

अच्युत, अक्षर, आर्यमक्षर, विकारमक्षर, विश्वसृष्ट, पक्षीकृतपक्ष पञ्चजन, पुरजैन, पुरै,

इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका कि विशद निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जा चुका है ।

ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकल है । इस प्रकार कलादृष्टि से ब्रह्म की

४० कलाएं हो जाती हैं। इसी चत्वारिंशत्कल छन्द को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट् छन्द के दशिनीविराट्, विंशिनीविराट्, त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट्—(१०-२०-३०-४०) यह चार विवर्त हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चालीस अक्षर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अन्तरङ्गप्रकृति, विकृति, विकारसंघ (विष) सब कुछ एत परमाविराट् के गर्भ में निविष्ट है। पुरुषात्माधिकरण के उभयक्रमों परमाविराट् का स्वरूप प्रसारान्तर से बतलाया गया है—(देखिए ई० वि० भा० पृ० सं० ७०)। अनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय हो सकता है। अतएव—'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी' (तां० ब्रा० २४।१०।२) इस अनुगम वचन के अनुसार इस का ब्रह्म की उक्त चालीस कलाओं के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। ब्रह्म ही 'सर्वम्' है। एवं 'सर्वं वै सहस्रम्' (शत० १।६।१।५), 'परमं सहस्रम्' (तां० ब्रा० १६।६।२) इत्यादि के अनुसार संशय सहस्र एवं परम [अन्तिम सीमा] का वाचक है। अतएव इस परमभावरूपा, सर्वरूपा परमाविराट् आगे जाकर तापव्ययुक्तिने 'सस्त्रान्तरा वै परमा विराट्' (तां० ब्रा० २५।६।४।१) इति रूप से सहस्राक्षर बनलाया है। सहस्राक्षर का अर्थ सगीत्या ही है। गायत्र्यादि इत सारे छन्द इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। कोई भी छन्द इस का धर्मण (अतिक्रमण) करने में समर्थ

● नियमसार से लब्धव्य रूपों वाले वेदवचन निगम कहलाते हैं, पर कई अनुरूप मातों का निरूपण करने वाले वचन अनुगम कहलाते हैं। उदाहरण के लिये 'इन्द्रो वै देयानामोजिष्ठो बलिष्ठः' का वचन केवल इन्द्र का शिरूपण करता हुआ निगमरूप में प्रविष्ट है। एवं 'यानि पञ्चधा श्रीणि प्रीणि' इत्यादि वचन अनेक मातों से गणन्य रहता हुआ अनुगम है। यदा ५-२-का उल्लेख नहीं किया गया है। सामान्यतः से 'पांशु जगदं तानं तानं' यह कद दिया गया है। मुष्टिपरा में देवी विन्दो अनेक रूपों में उल्लेख है। उन सबका निगम अनेक मा, अतः विन्दो का नाम न लेकर सामान्यतः के 'वसि एतवः श्रीणि श्रीणि' यह कद दिया है। 'एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी' यदा भी उक्त ४० कलाओं का विवेक नहीं है। अतः इसे भी हम अनुगम ही करेंगे। एषां लिये इत का अनेक रूपों में उल्लेख होना दे।

नहीं है, यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए 'विराड्वा प्रजापृष्टं छन्दः' (शत. ८। २। ४। ४।-यजुः सं. १४। ६) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परमा-विराट् की इन चालीसों कलाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख कर दिया गया है, तथापि सम-दृष्टान के लिए इन का यहाँ भी दिग्दर्शन करा देना असंगत न होगा। एक वात और ध्यान में रहिए। विराट्ब्रह्म प्रजापति है। एवं प्रजापति का "आत्म-प्राण-पशुसमष्टिः-प्रजापतिः" यह लक्षण है। ऐसी स्थिति में इस विराट् प्रजापति में भी ३-४-१-क्रम से आत्मा-प्राण-पशु इन तीन विभागों का भोग मानना पड़ेगा। अव्यय-अक्षर-मात्मक्षर-ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसृष्ट-पञ्चजन-पुरञ्जन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है, एवं पुर को पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विराट्ब्रह्म का जन्मदाता तत्व ही 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष चालीस कलाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाञ्छुक्रमकायमत्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

"कार्यरहित, ब्रणरहित, स्नापुररहित, अतएव अकाय-अत्रण-अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध, अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्र के चारों ओर वह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व ने (शुक्र द्वारा) यथा तथारूप से सदा के लिए पदार्थों का निर्माण कर दिया। अर्थात् वह तत्व पहिले शुक्र को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्र से विश्व का निर्माण

- ५—“स्वर्णशुक्रमुपसो वि दिद्युतः” (ऋक्सं० २।२।७) ।
 ६—“प्रयस्रतीरीळ्ते शुक्रमर्चिः” (ऋक्सं० ३।६।३) ।
 ७—“इन्द्र शुक्रं पिवा सोमम्” (ऋक्सं० ३।३२।२) ।
 ८—“वर्णामतिरच्छुक्रमासाम्” (ऋक्सं० ३।३।५) ।
 ९—“वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे” (ऋक्सं० ४।३।१०) ।
 १०—“भविष्यान् मयवा शुक्रमन्वः” (ऋक्सं० ४।२।७) ।
 ११—“शुक्रं तन्वन्त आरजा” (ऋक्सं० ४।४।२) ।
 १२—“मवायवे भरत चारु शुक्रम्” (ऋक्सं० ५।४।३) ।
 १३—“भामूर्यो भरुहच्छुक्रम्” (ऋक्सं० ५।४।१०) ।
 १४—“शुक्रं तेऽन्यथ नतं तेऽन्यत्” (ऋक्सं० ६।५।१) ।
 १५—“सकृच्छुक्रं दुदुहे पृथिनरूपः” (ऋक्सं० ६।६।१) ।
 १६—“तच्चतुर्देवहितं शुक्रमुधरत्” (ऋक्सं० ७।६।१६) ।
 १७—“असुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः” (ऋक्सं० ८।१।३०) ।
 १८—“शुक्रं हिरण्यमाददे” (ऋक्सं० ८।६।११) ।
 १९—“पवपान अतं वृहच्छुक्रम्” (ऋक्सं० ९।६।२४) ।
 २०—“दिवि शुक्रं यजत सूर्यस्य” (ऋक्सं० १०।७।३) ।
 २१—“ज्योतिः शुक्रमसौ” (ऐन्द्र० ७।१२) ।
 २२—“शुक्रं हिरण्यम्” (ऐन्द्र० १।७।६) ।
 २३—“ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्” (ऐन्द्र० ७।१२) ।
 २४—“शुक्रं होतच्छुक्रेण क्रीणाति यत् सोमं हिरण्येन” (शत० ३।३।६) ।
 २५—“तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [आज्यः]” (शत० १।३।१२=यजुः १।२१) ।
 २६—“शुक्राक्षयः” (ऐ० ब्रा० १।७।३) ।
 २७—“सर्वं वै शुक्रम्” (शत० ३।६।२५) ।

जिन जिन प्रकारों में उक्त रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन उन प्रकारों को अपने सामने रख लीजिए, उपलब्धभाष्यों को भी थोड़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर अर्थ कीजिए। आप को विदित होजायगा कि शुक्र शब्द का अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है। आरम्भ से ही चलिए। जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमोपसंहार के दश पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारों ने प्रकृत में जिसे उस अचिन्त्य निर्गुण-ब्रह्मपरक माना है, वे ही भाष्यकार स्वयं उपनिषत् में ही 'ते शुक्रमेतदतिवर्चन्ति धीराः' इत्यादि रूप से पदे हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं—

'ये शक्रामा विभृतिवृष्णाविर्जिता मुमुक्षवः सन्त उपासते, परमिव सवन्ते, ते शुक्रं नृवीजं यदेवत् प्रसिद्धं शरीरोपादानकारणमतिवर्चन्ति धीराः, धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति' (मुण्डक० शं० भा० ३।२।१)।

इस प्रकार यहाँ शुक्र शब्द से पुरुषोपादनभूत सुप्रसिद्ध शुक्र (वीर्य) का ग्रहण किया गया है। क्या विद्वन्मण्डली—'एकप्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति' इस न्याय को नहीं मानती ! यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अचिन्त्य ब्रह्म परक माना जाय, अथवा ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय। सर्वश्री सायणाचार्यों ने वेद पर भाष्य लिखा है। सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं। अब देखना यह है कि उक्त ऋगुत्थलो में उपात्त शुक्र शब्द का उन्होंने क्या अर्थ किया है।

२—'वह आदिस अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारभूत रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (धुलोक की ओर) लेजाता है"। (३)—'हे अग्ने ! तुम्हारे (आग्नेय) शरीर का जो शुक्र (मज्जित तेज) चमक रहा है"। (४)—'वह आदिस शुक्ररूप (धुलोक के) पय का दोहन करता है" (५)—'हे अग्ने ! आदिस की तरह प्रकाशित शुक्ररूप आपकी उपा मज्जित कर रही है"। (६)—'हे अग्ने ! हविष्मती प्रजा (शैता लोग) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ब्यानाओं की रतुति करती है"। (७)—'हे इन्द्र ! आप (गोदुग्ध से युक्त अत-

एव) शुक्ररूप सोम का पान कीजिए । अथवा शुक्रामन्धीग्रहे में वर्तमान, अतएव शुक्ररूप सोम का पान कीजिए" । (८)- 'इन उपाओं के शुक्र (प्रकार) रूप वर्णको (इन्द्र ने अपने तेज से) प्रवृद्ध कर दिया" । (९)- "पानी बरसाने वाले सूर्य (वृषा) ने अन्तरिक्षरूप स्तन से शुक्ररूप पानी को दूह लिया" (१०)- 'मयवा (शुक्रोक्तस्य सौर) इन्द्रने आप्यायित शुक्ररूप सोम को" (११)- "शुक्ररूप (दीप्तिरूप) रज को वितत कर दिया" । (१२) "हे (आचर्यु ! आपने) वायु के लिए जिस चरणीय (शुक्र नाम के) दीप्त सोम का संपादन किया है" । (१३)- "जिस दीप्त पानी (शुक्र) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रवृद्ध होता है" । (१४)- "हे पूषन् ! तुम्हारा एक शुक्र [शुक्ल] वर्ण है, एक कृष्णवर्ण है" । (१५)- "(वर्षाऋतु में) शुक्लरूप (शुक्ररूप) उदरु अ तरिक्त से भरता है" । (१६)- "दिव ताओं का हितैषी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्र) चक्षु उदित हुआ है" । (१७)- "हे इन्द्र ! आपने जिस समय शुलोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया" । (१८)- "निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता है" [१९]- "पवमाननें शुलोक में दीप्तमान श्वेतवर्ण [सूर्य] को उत्पन्न किया" । (२०)- 'शुलोक में पूजनीय सूर्यके शुक्र की [दीप्तिप्रवृत्तमण्डल की] जैसे कोई आराधना करता है" । (२१)- "यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्र है" । (२२)- "यह शुक्र हिरण्य [ज्योति] है" । (२३)- "ज्योति ही शुक्ररूप हिरण्य है" । (२४)- "सो जो कि हिरण्य सुवर्णखण्ड [अशर्फी] से सोम खरीदता है, वह शुक्र से ही शुक्र खरीदता है" । (२५)- "हे आज्य ! (घृत) आप तेजोमय है, शुक्र है, प्रमृत है" । (२६)- "पानी ही शुक्र है" । (२७)- "सस ही शुक्र है" । + + + +

उपर्युक्त प्रणालियों के अनुष्ठान स्व प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्र शब्द पुरुषपैवीर्ष्य, भुंते-रस, अग्नि, पय, प्रकाश, दीप्ति, सोम, ज्योति, आप, सोम, दीप्तरज, दीप्तसोम, दीप्तपानी, शुक्रवर्ण शुक्लउदरु, निर्मलसूर्य, निर्मलज्योति, निर्मलचन्द्रमा, श्वेतसूर्य, दीप्ति-प्रवृत्तमण्डल, सूर्य, हिरण्यज्योति, ज्योति, सोम, आज्य, पानी, सस-इन पदार्थों के विद

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पर्यवसान द्वित्रल्लगर्मित (यजुरग्निगर्मित) पद्मल (ध्याप) में हो जाता है। अप्तत्व की अत्रया विशेष ही सोम है। सोम ही चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही औपधि द्वारा धीर्यरूप में परिणत होता है। "महचत सोमो महिपञ्चकार" (ऋक् सं० ९ । ९७ । ४१ ।) के अनुसार सोमाहुति से ही सूर्य में ज्योति का उदय होता है। सोममय सौर ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चभूतों का मूल उपादान यही ध्याप है, यही भूतों का रस है। यही गोपशु में प्रविष्ट होकर पयरूप में परिणत होता है। यह सयं ऋत है, परन्तु इसके गर्भ में सत्य यजुरग्नि प्रतिष्ठित है, अतः यह सत्य भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के व्यापार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनों ने 'शुक्रम्' को 'शुक्र' परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, यह वृद्धचरितमात्र है। वैदिक साहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुचर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अद्वैतिक नहीं कहा जा सकता, तथापि 'वेदशास्त्र में अनुक्त सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है" यह मानना प्रौढिवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आरुढ़ होकर आप वेद स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे तो सहज भाष्य भी आप को वेद के यथार्थ तात्पर्य से कृतकृत्य न कर सकेंगे। कुछ समय पूर्व वृत्तालय पाठ्यालया के प्रधान पं० एम्बार कृष्णमाचार्य द्वारा संशोधित, एवं श्रीगोपालानन्दस्वामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णमाचार्य अपनी अस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं—

“इदं तु भाष्यं सरलया शैल्या प्रवर्तमानं सुखेनार्थमवगमयति। विशिष्टाद्वैत-
सिद्धान्तमवलम्ब्यमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम यच्चित्तं यच्चिद्वा-

१ “सरल शैली से लिखा गया यह भाष्य सरलता से अर्थ ज्ञान कराता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आश्रय लेने वालों के लिए महत्वपूर्ण है। यद्यपि कहीं कहीं वास्तव बोधनार्थ शब्दों के अर्थों में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र का भेद है, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अग्रगण्य भी उल्लेख नहीं हुआ है”। यह भाष्य सन् ३५ में निखिल सागर प्रेस में मुद्रित हुआ है।

क्ययोजनायां शब्दार्थेषु च भेदः पूर्वव्याख्यानतः, अथापि विशिष्टाद्वैतं तु न
लेशतोऽप्यनिलङ्घते । तदिदं पुरौकदर्शिनां विदुषामा-नन्दायैव स्यात्” ।

क्या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि करने के लिए ही उपनिषत् प्रकट हुए हैं ? क्या इन साम्प्र-
दायिक अर्थों से, जो केवल कलना का साम्राज्य निर्माण करने वाले चतुर शिल्पी हैं, आप-
तुष्टि हो सकती है ? यदि नहीं तो किसी भी सम्प्रदाय का आश्रय न लेते हुए-आप हमारे
साथ चलिए । हम आपको शुक्रविभूति के दर्शन कराते हैं । विषयारम्भ में कहा गया है कि
विराड्ब्रह्म का जन्मदाता शुकतत्व है । इस शुकपदार्थ का सामान्य विवेचन पूर्व के शुक्रावि-
कार में विस्तार से किया जा चुका है । अतः यहाँ विष्टपेपरण की आवश्यकता नहीं है ।
केवल शुकसम्बन्धी विरोधभावों का ही दिग्दर्शन काना; पर्याप्त होगा ।

शुक क्या पदार्थ है ? इस का उत्तर है ‘उपादानकारण’ । विश्व का उपादानकारण
कौन है ? इस का उत्तर है -- “सृष्टिसान्नी अव्यययुक्त, अतएव वीजावस्थापन्न अवरारु-
गृहीत आत्मत्वर” । अव्यक्ताधिकरण में हमने यजुर्वेदमर्मित पद्भ्रम को शुक बतलाया था,
एवं यहाँ अव्यवाक्षरावच्छिन्न आत्मत्वर को शुक बतलाया जा रहा है, इस में विरोध नहीं समझना
चाहिए, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । चत्वारिंशिनी परमाविराट् के पूर्वोक्त अठ अव-
यवों का स्मरण कीजिए । उन आठों अवयवों में सातवें ‘पुरंजन’ नाम के अवयव की पाँचों
बलाएं वेद-लोक-प्रजा-वीर्य-पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इन में वेद नाम का पहला
पुत्रजन ही सृष्टि का आधार है । बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि । अन्तर
केवल इतना है कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदतत्त्व प्रादुर्भूत होता
है, एवं आत्मज्ञादि में पहिले वेद उत्पन्न होता है, अन्तर वेदद्वारा योगभाषा का प्रादुर्भाव होता
है । तदनन्तर पुरुष (जीवाव्यय) का विरास होता है (देखिए ई. उ. वि. भा. पृ.सं. ४००)
क्रममात्र में अन्तर है । परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह
निदिचन है । जवनक प्रजा नहीं, तवनक प्रजापति नहीं । जब तक लोक नहीं, तब तक प्रजा

नहीं। जब तक आपोमय सुवेद नहीं, तब तक लोक नहीं। जब तक यजुर्वेद नहीं, तब तक सुवेद नहीं। इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजापति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है। तभी तो प्रजापति को वेदमूर्ति कहा जाता है। इस प्रजापति की ईश्वर-मतिपा-जीव-शिपिविष्ट-भेद से चार संस्थाएं बतलाई गई हैं। इन चारों में ईश्वरप्रजापति विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध है। इस विश्वकर्मा प्रजापति के समानशील-व्यसन चार अभिन्न सखा उत्पन्न होते हैं। चारों मित्र वरुण, इंद्र, अग्नि, सौम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। किसी समय यह पांचों पृथक् पृथक् थे। जब तक यह पृथक् पृथक् रहे, तब तक इन की विघ्ननिर्माणसम्बन्धिनी कामना पूरी न हुई। फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे काम नहीं चल सकता। अपने को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए। ऐसा ही हुआ। पांचों मिल गये। मिलने से कामना पूरी होगई। इन की समष्टि कर्मपूर्ति का हेतु बनी, अतएव यह पक्ष 'कामम' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही पक्ष यहविज्ञानपरिभाषा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ। अनुरूप चन्द्रमा अग्रिमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है। इस परिक्रमा से चान्द्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होंगे। कृष्णपक्ष की अन्तिम विश्रामभूमि 'दर्श' कहलाने लगी, एवं शुक्लपक्ष की अवसान भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी। दर्शतिथि में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में पुनरावस्था है। शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लाष्टमी बचपन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है। इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पड़वा) है। यही से चन्द्रमा के हास एवं वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है। शेष सारे चान्द्र अक्षरात्र प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुगामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है। प्रतिपत्-अनुचर सैकितिक शब्द हैं। मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूलानुगत इतरभावों को अनुचर कहा जाता है। सूर्य प्रतिपत् है, रश्मिएं अनुचर हैं। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आग्ना प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं। मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं। गुरु प्रतिपत् है, शिष्यवर्ग अनुचर है। सेनापत्य प्रतिपत् है, सेना अनुचर

मेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है । रात्रिगत पार्थिवभाग सौरप्रकाश में वञ्चित होता हुआ दिति है । मध्याह्न पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमण्डल अदिति है, दक्षिणायनमण्डल दिति है । उत्तरायण उपक्रमकाल शुक्लाष्टमी है, मध्यकाल पूर्णिमा है, उपसंहारकाल कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाल दर्श है, निपुत्रकाल पूर्णिमा है । सारा सम्बन्धतः पूर्णिमारूप है, प्रकाशरूप है, सःसुर के पूर्व-पश्चिम सत्र और पूर्णिमा (प्रकाश) का साम्राज्य है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

पूर्णा पश्चादुत् पूर्णा पुरस्तादुन्मन्वतः पौरुमासी जिगाय ।

तस्या देवा अधि संवसन्त उचमे नारु इह मादयन्नाम् ॥

(तै० ब्रा० ३।१।१।) इति ।

पौरुमासेष्टि का सम्बन्ध मध्य के द्विप्लवकाल से ही है । यही सारे प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं, यही नाक स्थान है । इसी अभिप्राय से 'मध्यतः पौरुमासी जिगाय०' इत्यादि कहा गया है । यही पृथिवी का दर्शपूर्णमास है । पृथिवी सूर्य का उपग्रह है, अतएव सूर्य प्रतिपत् है, पृथिवी अनुचर है ।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साथ लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमास है । इसी सौरदर्शपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रेगुरय-भान का उदय होता है । परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्णिमाकाल है, यही अदिति मण्डल है, यही अध्यात्मभाषानुसार सत्प्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दर्शकाल है, यही दिति मण्डल है, यही तम प्रधान महान् है । सन्धिभाग रजोमहान् है । इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषद्भुति कहती है—

या प्राणेन (सौरप्राणेन) सम्भ्रमत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहा पविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ॥ (कठ० १।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का उपग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपत् है, सूर्य अनुचर है । चन्द्रमा-पृथिवी एव सूर्य को अपने मद्दिमानण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है । इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्माण होता है । विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन-सृष्टिकाल) है । यही सृष्टिकाल अदिति मण्डल है, यही पृष्णिमा है । प्रलयावस्था विश्वभासात्मक तमोरूप दितिकाल है, यही दर्श है, यही परमेष्ठीवृत्त दर्शपूर्णमास है । स्वयं स्वयम्भू स्थिर है, अतएव इसे परोरजा कहा जाता है । पृथिवीरूप भूलोक सूर्यरूप स्वर्लोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवर्लोक परमेष्ठीरूप जनस्लोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महर्लोक स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोलोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणशील लोक) उस परोरजा सत्यलोकात्मक स्थिर स्वयम्भू के आधार पर प्रतिष्ठित हैं । उसने अपनी प्राणशक्ति से [स्वयम्भू प्राण प्रधान है] ६ ओं का विधरण कर रखा है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है ।

अचिकित्वाञ्चिकितुपश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विदमने न विद्वान् ।

पियस्तस्तम्भ पळिषा रजास्यन्नस्यरूपे किमपि स्विदेकम् ॥

(ऋक्स० नासदीयसूक्त १ । १६४ । ६ ।)

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू (ईश्वर) प्रजापति अपनी वरुण [परमेष्ठी], इन्द्र [सूर्य], अग्नि [पृथिवी], साम [चन्द्रमा] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्तक धनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होजाता है । इसी परमप्रजापति का निरूपण करती हुई यजु श्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यापमा या मधया विश्वकर्म-नुतेमा ।

विदा सास्विभ्यो इविपि स्वधावः स्वय यजस्य तन्व वृशानः ॥

[यजु स १० । २१ ।]

• ए० निष्प का सिद्धर निष्पत्ता 'नासदीयसूक्तविशानभाष्य' में दत्तमा चादिप ।

सत्य, तप, जन, पद यह चार परमधाम हैं, स्वः मध्यमधाम है, भुवः भूः अवमधाम है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमधाम है, सूर्य मध्यमधाम है, चन्द्रमा एवं पृथिवी अवमधाम है। परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी-यह चार उस के अभिल सखा हैं। इन्हें वह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिखा देखा है। जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिमाप्रजापतियों में है। वह वर्तुल है, यह चारों भी वर्तुल हैं। वह आत्मा [इदमभाव], पद [पिण्ड], पुनःपद [महिमा] भेद से त्रिर्वा है, वे ही तीन तीन पर्व इन चारों में हैं। यही शिक्षण है। उक्त कामप्रयत्न से परस्पर में मिलते हुए पाँचों सर्वरूप बन रहे हैं। इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमने प्राणादि पाँचों को 'सार्ब्व्य' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [देखिए ई. वि. भा. पृ. सं— ३२५]। विश्व में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साम्राज्य है। प्रजापति की इन्हीं संस्थाओं का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

“स ऐक्षत प्रजापतिः-इयं वा आत्मनः प्रतिमामसृष्टि + + + + ता वाऽपताः
 प्रजापतेरधिदेवता अमृत्यन्त-अग्नि-रिन्द्रः-सोमः परमेष्ठी प्राजाप-
 त्यः + + + + तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यश्मपद्यद्दर्शपूर्णमासौ,
 ताभ्यामयत्त। ताभ्यामिष्ट्वाऽकामयत-महमेवेदं सर्वं स्यामिति, स आपोऽभवत्
 “आपो वा इदं सर्वम्”। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्-कामश्रं
 वाऽहं यज्ञमदर्शं, तेन त्वा याजयानीती, तथेति। तमयाजत्। स इष्ट्वा अकाय-
 यत - महमेवेदं सर्वं स्यामिति, स प्राणोऽभवत् “प्राणो वा इदं सर्वम्”
 स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत् - अनेन त्वा कामयेण० + + + + स वाग्-
 भवत्, “वाग्वां इदं सर्वम्”। स इन्द्रोऽग्नीषोमीं भ्रातरौ-अब्रवीत्, अनेन
 वां कामयेण० + + + + अन्नाद् एवान्यतरोऽभवत्, अन्नपन्यतरः।
 अन्नाद् एवाग्निरभवत्, अन्नं सोमः। अन्नोदश्च वा इदं सर्वमन्नं च। ता वा

एताः पञ्च देवताः (ब्रह्मा (प्राणः), विष्णुः (आपः-वह्णः), इन्द्रः (वाक्), अग्निः (अन्नादः), सोमः (अन्नम्) एताः पञ्चदेवताः) एतेन कामप्रेण यज्ञेना-
जयन्त । ता यत्कामा (सर्वव्याप्ति-आप्तिकामा) अयजन्त, स आभ्यः काम
समाध्वत । यत्कामो ह्वाऽएतेन यज्ञेन यजते, सोऽभ्यै कामः समृभ्यते” (शत-
ब्रा० ११ का । १ अ० । ६ ब्रा० । १३ क०-२० क० पर्यन्त) ।

उक्त श्रुति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के आधार पर पुण्डीरविद्या का रहस्य अन्वलिखित है, जो कि आगे जाकर स्पष्ट होगा । पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यापक मायावच्छिन्न मायी महेश्वर अभिप्रेत है । इस प्रजापति से क्रमशः परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अभिदयताओं का प्रादुर्भाव होता है । इनमें श्रुतिने परमेष्ठी को प्राजापत्य कहा है । दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है । परमेष्ठी आगे जाकर उस पितर प्रजापति से कहता है कि मैंने दर्श-पूर्णमास नाम का काम यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करूँ । प्रजापति की 'तथास्तु' इस अनुमति से परमेष्ठी प्राजापत्य कामप्रयज्ञ से प्रजापति का यजन करता है । परमेष्ठी वा स्वयम्भू प्रजापति के चारों ओर परित्रमा लगाना ही कामप्रयज्ञ से इस प्रजापति का यजन करना है । तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमारूप यज्ञ से ही प्रजापति की महीन प्राणसस्या का उदय होता है । पहिले सर्वरूप आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय स्वयम्भू का उदय होता है । मायी स्वयम्भू पृथक् तत्त्व है, एव परमेष्ठी के सम्बन्ध से प्राणरूप से उदित होनेवाला योगमायावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू पृथक् है । मायी स्वयम्भू प्रथमज था, इससे परमेष्ठी उपज हुआ, परमेष्ठी से पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राजापत्य परमेष्ठी के द्वारा पुण्डीररूप में परिणत होने वाले इस परिच्छिन्न स्वयम्भू के लिए आगे जाकर- 'स प्रजापतिरिन्द्र पुनपन्नवीत्' कहा गया है । श्रुतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द जहाँ व्यापक मायी स्वयम्भू (महेश्वर) का वाचक है, यहाँ यह आगे का प्रजापति शब्द महेश्वर सस्या में मुक्त दन्वेषर पुण्डीर स्वयम्भूका वाचक है । मायी स्वयम्भूकी इच्छासे परमेष्ठीने दर्शपूर्णमास किया है,

है, एवं पुण्डरीर स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) में दर्शपूर्णमास किया है। पुण्डरीर स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी-सूर्य आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यवहृत हुए हैं। एक एक वल्गुशामें पांच पांच पुण्डरीर हैं। इन पांचों में स्वयम्भू परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्डरीका भक्ता सहस्र (१०००) प्राजापत्य वल्गुशामें प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावल्गुदेन स्वयम्भू एक है, पुण्डरीर वल्गुदेन स्वयम्भू एक सहस्र हैं, यही वक्तव्य है।

पञ्चपुराहीराप्राजापत्यवल्गुशा

- | | |
|--|--|
| १-“प्राणो वा इदं सर्वम्” प्राणः-स्वयम्भू ब्रह्मा | } परमप्रजापतिः?
प्रतिमा-
प्रजापतयः ४ |
| २-“आपो वा इदं सर्वम्” आपः परमेष्ठी विष्णुः | |
| ३-“वाग्वा इदं सर्वम्” वाक्-सूर्यो इन्द्रः | |
| ४-“अन्नादो वा इदं सर्वम्” अन्नादः-पृथिवी-अग्निः | |
| ५-“अन्नं वा इदं सर्वम्” अन्नम्-चन्द्रमा सोमः | |

ऐसी सहस्र वल्गुशाओं को (टहनियों को) अपने उदर में रखने वाला मायी गहेश्वर ही ब्रह्माश्रय है, जैसा कि आग्ने के परिलेख से स्पष्ट होजाता है। ब्रह्माश्रयरूप इसी वेदमूर्ति गहेश्वर के वेदभाग से सुब्रह्म रूप आपोमय ब्रह्म का जन्म होता है। वेद स्वयं द्विब्रह्म है, सुब्रह्म पद-ब्रह्म है। पहिले वाङ्मय सत्य ब्रह्माग्नि ही था। ‘पतिश्च पत्नी च’ इस इच्छा से आग्ने जाकर पत्नी सत्य-ऋत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्त्वावाक् यजुर्ब्रह्म है, ऋतवाक् सुब्रह्म है। इसी को ऋग्वेदमें ‘आम्भृणीवाक्’ (आपोमयीवाक्) नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए ऋक् संहिता.....आम्भृणीवाक्) यह ऋतुसत्वरूप ब्रह्म सुब्रह्म ही विश्वके आदि प्रवर्तक हैं, जैसा कि ‘अनेजदेकम्’ इत्यादि मन्त्रमाध्य में विस्तार से बतलाया जासुका है। अग्निमय ब्रह्म

पुरुष है, पति है पिता है । आपोमय सुब्रह्म स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुब्रह्म पार्वती है । यही जगत् के माता पिता हैं—‘जगतः पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ’ । इ ही दोनो के सम वय से आग्ने की सृष्टिधारा चलती है ।

दो वस्तुओं का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पाचव प्रकार नहीं है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध सह्या निर्गुण है, एवमेव दो तत्त्व भी सर्वाथा निश्चित हैं । उन दो के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तत्त्व वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुब्रह्मरूप सौम्या स्त्री है । सचमुच अग्नीसोमात्मक स्त्रीपुरुष के अतिरिक्त अथ तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो “अग्नीपोमात्मकं जगत्” इत्य वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्क चैरार्द्रम् । यच्छुष्कं तदाग्नेय, यदाद्रं तत् सौम्यम्” इत्यादि श्रौतनचन चरितार्थ होते हैं । यह दोनों ही तत्त्व त्रिजातीय हैं । एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है । अग्नि भोक्ता है, अतएव यह अनाद नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अनादाश्रयण भोक्तृ भोग्यमान समुदाय और अन्वयन भेद से दो भागों में विभक्त है । ब्रह्म (अग्नि) सुब्रह्म (सोम) रूप स्त्रीपुरुष का यदि अन्वयन सम्बन्ध होता है तो ऐसी प्रसत्या में आग्नेयब्रह्म “पुरुष” कहलाता है, सौम्यसुब्रह्म ‘स्त्री’ कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वाग्ना यदि अग्निब्रह्म के उदर में चलाजाता है तो उस समय यह दोनों तत्त्व स्त्री पुरुष न कहलाकर अन्न अनाद नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अनाद के (सुब्रह्म जब ब्रह्म के) उदर में चला जाता है तो उस समय आहुत होने वाले अन्न की रस रता नष्ट होजाती है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अनाद में आहुत होजाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शरीरान्नि में जाकर अन्निरूप में परिणत होता हुआ अपना प्रातिरिक्त स्वरूप खो बैठता है । अब यदि उस भुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करना चाहें तो यह असम्भव है । क्योंकि वह अन्न सर्वाग्ना अग्नि में आहुत होचुका है । वस ऐसे समुदायाहुतिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म सुब्रह्मों को अनाद-अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई नई वस्तु [अपूर्वभाग] उत्पन्न नहीं होती, अपि तु केवल ब्रह्म का आयतन मात्र बढ़ता है, यही वृद्धि ‘पुष्टि’ कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपितु, अवयव का सम्बन्ध है तो पुष्टि नहीं सृष्टि है । इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की चिति है । यही चितिलक्षण अवयव सम्बन्ध (संसृष्टिलक्षण सृष्टिसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वभावोपति) का कारण है । इस सृष्टिमूलक अवयव सम्बन्ध में ही ब्रह्म एवं सुब्रह्म स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं । समुदायरूप अन्न अन्नाद के सम्बन्ध में—“यदा उभौ समागच्छतः—अचैवाख्यायते, नाद्यम्” इत्यादि रूप से श्रुति अन्नसत्ता का उच्छेद बतलाती है, एवं अवयव सम्बन्ध में अंशमात्र का उच्छेद है । उच्छेद नहीं, अपूर्वभाव में परिणति है । अतएव इस सम्बन्ध में अन्न-अन्नाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है । इन दोनों का (स्त्री-एवं पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से संभव है । स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी संभव है । इस अवयव सम्बन्ध से न क्षोभ होता, न सृष्टि होती । क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुद्वय के समन्वय से ही होती है । स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं । साथ ही में सौम्य होने से दोनों अवयव आर्द्र हैं । अतएव यह मिथुनभाव सर्वथा निरर्थक है । एवमेव पुरुष पुरुष (के अणुओं) का सम्बन्ध सम्भव है । यदि दो पुरुषों का समन्वय है तो सर्वनाश है । दोनों ही अग्नि हैं । समान बल वाले दो आग्नेय ग्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रभूकम्प नाम से प्रसिद्ध है] के जनक बनजाते हैं, अथवा समान गति रखने वाली दो पद्मावट्टों के सम्बन्ध से [मिडजानें से] जैसे महाविस्फोटन होजाता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का संघर्ष विस्फोटन का जनक बनजाता है । इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्यों कि दोनों ही सजातीय हैं । इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है, परन्तु क्षोभ अवश्य है । तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध । इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वभाव का उदय होता है । यही सम्बन्ध ‘समन्वय’ नाम से प्रसिद्ध है । इसी से सृष्टि होती है—‘तत्तु समन्वयात्’ । इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी उर्ध्व के त्यों सुरक्षित रहते हैं । पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोम) है । अग्नि के उदर में पानी चला जाय, अग्नि अग्नि मिलजाय, पानी पानी मिलजाय, आग पानी मिलजाय, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं । यदि अग्नि के उदर में पानी (सोम) चला गया

तो पुष्टि है, यदि अग्नि अग्नि (ब्रह्म-ब्रह्म) का सम्बन्ध होगया तो विस्फोटन है, यदि पानी पानी (सुब्रह्म-सुब्रह्म) मिल गए तो निरर्थक है, यदि अग पानी का (ब्रह्मरूप पुरुषके शुक्र, सुब्रह्म रूप स्त्री के शोणित का) समन्वय है तो सृष्टि है ।

- (१.२.०.२०) [१-स्त्रीपुरुष का समुदाय सम्बन्ध(अग्नि सोम का समुदाय सम्बन्ध) → → → पुष्टिकर
 २-स्त्री स्त्री का सम्बन्ध..... (सोम सोम का अययव सम्बन्ध) ← ← ← निरर्थक
 ३-पुरुष पुरुष का सम्बन्ध (अग्नि अग्नि का अवयव सम्बन्ध) → → → विस्फोटक
 ४-स्त्री पुरुष का अवयव सम्बन्ध (अग्नि सोम का अवयव सम्बन्ध) → → → सृष्टिकर]

स्त्री पुरुष के जो अवयव सृष्टि के उपादान बनते हैं, उन्ही को विज्ञानभाषा में योपा वृषा कहा जाता है । योपा वृषा शब्द साकेतिक हैं । प्ररनोपनिषत् में इन्ही के लिए 'रयि-प्राण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं वहां रयि प्राण के मिथुनमान से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है—(देखिए प्ररनोपनिषत् १ प्ररन) । योपा यदि सर्गमिना वृषाके गर्भमें है तो अन्न अन्नदभार है, अवयव सम्बन्ध में स्त्रीपुरुषमान है । योपा-वृषा के सृष्टिप्रवर्तक अवयव विज्ञानभाषा में रेत-योनिनाम से प्रसिद्ध हैं । रेत सुब्रह्म नाम के योपा का अंश है, योनि ब्रह्म नाम के वृषा का अंश है । आप्रेय भाग योनि है, सौम्य भाग रेत है । दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्निरूप यजुर्ब्रह्म योनि है, सुब्रह्मरूप पद्मद्र (आप) भाग रेत है । स्थिति है सुद्ध धीर, दिखलाई पड़ता है कुछ अन्य । इसी आधार पर 'परोक्षमिया इव दि देवाः प्रयत्नद्रिपः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । प्रष्टि का प्रवेक कार्य परोक्ष (पर्दे) में होता है । सुब्रह्म की ब्रह्म में आहुति होती है । अग्नि पुरुष है, नोम स्त्री है । यह स्त्रीरूप सुब्रह्म पुरुष में प्रतिष्ठित होरहा है, उधर पुरुषरूप अग स्त्री में प्रतिष्ठित है । स्त्री में पुरुष वैश्या है, पुरुष में स्त्री वैठी है, जैसा कि पूर्व के अव्यक्तात्मा-पिङ्गरगा में नितार से बतलाया जाचुका है ।

विश्वस्वरूपसम्प्रादिका महामाया की जहांतक व्याप्ति है, वहां तक वेदवत वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदवच्छेदेन ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्म (वेद) सुब्रह्म (सुवेद) व्याप्त है, एक बिन्दु भी दोनों से शून्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से अन्न-अनादभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपयुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनिभाग वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोभाग योषारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में मायावच्छिन्न सर्वव्यापक चलाचल (गतिस्थितिमत) का एक अवयवविशेष विशेष है, इसमें मातरिखा नाम से प्रसिद्ध भार्गवशायु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध पद्-ब्रह्म (आप) के एक अवयवविशेष की आहुति होनी है, यही अवयव रेत है। इन अवयवों के सम्बन्ध से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योषारूप ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सर्वाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उधर स्त्री के सर्वाङ्ग शरीर में योनिरूप आर्तव (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्तव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका स्वरूप ही नष्ट हो जाय। स्त्री पुरुष वा आशिक रेत-आर्तव ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किस सम्बन्ध से होती है? यह बतला दिया गया। अथ प्रकरणसंगति के लिए एकवार आपका ध्यान 'अनेमद्रेकम्०' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

वहां बतलाया गया है कि मायावच्छिन्न चलाचल सर्वव्यापक यजुर्वेदोत्पत्ति नामसे मातरिखाशायु पद्ब्रह्मरूप आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेमद्रेकम्०' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति वंश-लाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्वकथनानुसार सृष्टिसंहति में अनायादभावमात्र है, एवं ऐसा सम्बन्ध पुष्टिकर बनता हुआ भी सृष्टिमर्यादा से बहिर्भूत है। सृष्टि अवयव सम्बन्ध पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिखा एजदनेनैव ब्रह्मं मे आप की आहुति देता है" इस वाक्य

का “ब्रह्म के एक योनिरूप प्रदेश में मातरिश्वावायु आपोमयब्रह्म के रेतोरूप, एक प्रदेश की आहुति देता है” यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि श्रुतिमें “तस्मिन्नपो मातरिश्वा जुधोति” यह न कहकर “तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति” यह कहा है। आहुति सम्बन्ध समुदायसम्बन्धकारक अलान्नादभाव पर निर्भर है, आधानसम्बन्ध अवयवसम्बन्धकारक स्त्री-पुरुषभाव पर निर्भर है। लोकव्यवहार में भी “योनि में रेत की आहुति होती है” यह नहीं कहा जाता, अपि तु “योनि में रेत का आधान होता है” यही कहा जाता है। अन्वय च वायु को होता (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता, अपि तु रेतोघा (रेत का आधान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होता है कि ‘अनजदंक्रम०’ इत्यादि मन्त्र से प्रतिगारित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर—‘अवयव की अवयव में आहुति होती है’ यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रमाणिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए ‘स पर्यगाच्छुक्रम’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मंत्र में पढ़ा हुआ ‘शुक’ शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। कैसे? इस जिज्ञासा को शान्त करने से पहिले शुकपदार्थ का स्वरूप परिचय करा देना आवश्यक होगा।

पदार्थविरलेषणविज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने के कारण विद्वानों की दृष्टि में आजदिन शुक-रेत-वीर्य तीनों अभिन्न पदार्थ हैं, तीनों पर्याय हैं। परन्तु यथार्थ में शुक भिन्न वस्तु है, रेत अन्य वस्तु का वाचक है, वीर्य शब्द किसी अन्य ही पदार्थ का बोधक है। वीर्य और शुक रेत में प्रतीष्ठित हैं, इसीलिए ‘तात्स्तृगत्ताच्छुक्रम’ न्याय से रेत को शुक-वीर्य-शब्दों से व्यवहृत करदिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही वस्तु मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संस्कृत साहित्य पर आज एक बड़ा भारी कलङ्क लगाया जाता है। सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि संस्कृतभाषा में एक एक शब्द के अनेक पर्याय होने हैं। फलतः जो जैसा चाहता है, स्वार्थानुसार वैसा ही अर्थ करलेता है। परन्तु आज हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिगते हैं कि संस्कृत साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। एकदेश की समानता को लेकर पर्याय सम्बन्ध प्रचलित होगया है। पदार्थदृष्टिसे सब शब्द नियत अर्थों के ही प्रतिपादक हैं।

विष्णु-नारायण-वामन सब भिन्नार्थ के वाचक हैं। महेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर-आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के द्योतक हैं। मघना-पाकणसन-दृत्रहा-दृषा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपने अपने अर्थों में नियत हैं। बुद्धि-मनीषा-धिपणा-प्रज्ञा-गति सब भिन्नार्थ के परिचायक हैं। जिसके लिए जो शब्द नियत है, वह उसी का बोधक हैं। पट और वस्त्र कभी पर्याय नहीं हैं। आदित्य और सूर्य कभी पर्याय नहीं है। वायु और वात, हिरण्यगर्भ और पद्मभूः, कभी पर्याय नहीं हैं। इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं।

तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही लीजिए। रेत में रहने वाला, आत्मबल को बढ़ाने वाला तराविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है। बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है। शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है। हाथी में बल की प्रधानता है। हाथी अपने भार से एक सिंह को कुचल सकता है। सिंह में वीर्य की प्रधानता है। शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवती है, अतएव प्राणप्रधान (वीर्यप्रधान) सिंह हाथी को परास्त कर देता है। मन की ताकत पराक्रम है। दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने वश में करलेना ही 'पराक्रम' है। यह मनो-बल है। पुरुष में इस की प्रधानता है। यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पक्षर (पींजरे) में बदल कर देता है। इस प्रकार बल-वीर्य-पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के वाचक हैं। आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय माना जाता है। मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एवं वाक् अर्थप्रधान है। आत्मा की इन तीनों कलाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विद् नाम के तीन वीर्य हैं। ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुयायी है, क्षत्रवीर्य कर्म का प्रेरक है, एवं विद्वीर्य अर्थशक्ति का संचालक है। ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, क्षत्रवीर्य का इन्द्र से, विद्वीर्य का विरवेदेवों से सम्बन्ध है। जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है। क्षत्रवीर्य-प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, विद्वीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्तक है। जिस के रेत में अपीर्यरूप, विन्दु सामान्यतः वीर्यरूप पूषा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सन्तुद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शुद्राश्चावरणवर्णाश्च' यह कहा जाता है। इन चारों वीर्यों के विशेषी

चार ही मूलभाग हैं। इन देवविरोधी मूलभागों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दाम्बु, म्लेच्छ इन चार असञ्चुटों की उत्पत्ति होती है। यह चारों ही अवर वर्ण हैं। वही असञ्चुट निरवसित कहलाते हैं।

देवभाग → → → → → मूलभाग
(देवीसंपत्) (आसुरीसंपत्)



१—ब्राह्मणवर्णः (अग्निः) → → → → अन्त्यजः

२—क्षत्रियवर्णः (इन्द्रः) → → → → अन्त्यावसायी

३—वैश्यवर्णः (विश्वेदेवाः) → → → → दाम्बुः

४—अवर्णवर्णः (पूषा) → → → → म्लेच्छः

वर्णसृष्टिः → → → → अवर्णसृष्टिः



स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

१-मनः (शक्तिकः) ज्ञानोद्द्योतकं-ब्रह्मवीर्यम् → → तत्प्रधानाः-ब्राह्मणाः

२-प्राणः (विक्रमिकः) शर्मोद्द्योतकं-क्षत्रवीर्यम् → → तत्प्रधानाः-क्षत्रियाः

३-वाक् (संज्ञिकः) प्रथोद्द्योतकं-विद्वोर्वीर्यम् → → तत्प्रधानाः-वैश्याः



इस निर्माण में वाटरी को वह मन स्वेना पदंवा कि विर्यंवा शुभ और रेत में वर्णन दूना है। रेत में प्रविष्टा रत्ने कथा कतिनाय वीर्य है। रेत के दूध से वीर्य वा भी दूध होना है। वाटरी 'प्रधावर्ण' का वर्ण शुभादात्मक मान लिया जाता है।

अथ-चलिए शुक्र-रेत की थोर । पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है । शुक्राग्नि स्त्री में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है । शुक्र का प्रधान आयतन स्त्री का रज है, रेत का प्रधान आयतन पुरुष का सोमभाग है । पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव स्त्री के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं । दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, तभी वर्णानुरूप सृष्टि (सन्तान) होती है । वर्णरक्षा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है । वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ण का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पढ़कर अपने पुत्र का यदि एक ब्राह्मण वर्ण के नेता की कन्या के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं समझता तो यह उसका, एवं उसके देश का दुर्भाग्य है । हां यदि वह अपनी लड़की किसी ब्राह्मण पुत्र को देदे तो शत्रु-दृष्ट्या उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण ब्राह्मण इतरवर्ण की कन्या के साथ पाणि-ग्रहण कर सकता है । वीर्यरक्षा के लिए शालसिद्ध वैसाहिक मर्यादा आवश्यक है । इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अधोगति । अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि ब्रह्म की अन्वयभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है । सुब्रह्म का अन्वय भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है । योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होत है' यही तात्पर्य है । इसप्रकार वीर्यरत् रेत एवं शुक्र का पार्थक्य भी भलीभांति सिद्ध होजाता है ।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही नियत हो यह बात नहीं है । वस्तुतः रेतत्व का अन्वयेदक उपादानद्रव्यत्व ही समझना चाहिए । प्रजा का उपादानद्रव्य न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है । ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं । स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है । परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है । इसी भेद को समझने के लिए वैज्ञानिकों ने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यक्त किया है, एवं सौम्यरेत को पारिरोम्भात् रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है ।

घनरेत शुक्र है, तरल रेत रेत है । घनता [परिपाक] अग्नि का धर्म है, तरलता पानी का धर्म है । ब्रह्म सत्याग्नि है, सुब्रह्म ऋत आप है । वह घन है, वह तरल है । यह शुक्र-रेत दोनों ही क्रमशः वृषा-योषाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं । हमने शुक्र-रेत रूप योनि-रेत के समन्वय से प्रजोत्पत्ति बतलाई है । परन्तु वस्तुतः सृष्टि के ग्लाधार हैं-योषा-वृषाप्राण । शुक्ररूप स्त्री के अप्रेय भाग में रहने वाला चित्प्राण वृषा कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला चित्प्राण योषा नामसे प्रसिद्ध है । इसी प्राण को भिषक् परिभाषा में 'भ्रूण' कहा जाता है । यदि शुक्रशोणित के भ्रूण जीवित हैं, तभी दोनों के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होसकती है । यदि भ्रूण निर्बल हैं, मर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्रशोणित का मिथुनभाव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनसकता । इन भ्रूणों की निर्बलता के, एवं विनाश के मातृदोष, पितृदोष, कर्मदोष, नाडीदोष, ग्रहदोष, आदि आठ दोष हैं । इन आठों की चिकित्सा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है । सुप्रसिद्ध श्राद्धकर्म पितृदोष का निर्वर्तक माना जाता है । अतएव नित्यकोटि में प्रविष्ट रहते हुए भी श्राद्ध को धर्मशास्त्र में काम्यकर्म (पुत्रकामनासाधक) माना है । निष्कर्ष यही हुआ कि सारवदेत शुक्र है, प्रवाहित रस रेत है । दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणानुगृहीत यही दोनों जीवन के कारण हैं । इसी शुक्र-रेत-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर धर्मियुक्त कहते हैं-

“शुक्र तु सारवदेतो, रसो रेतः प्रवाहि यत् ।

प्राणो नानुगृहीते ते (शुक्ररेतसी) प्राणिनां जीवनं विदुः ॥”

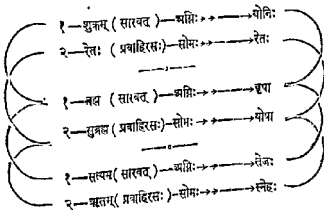
शुक्र अप्रेय पदार्थ है, इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है । 'सप्ताचिर्दमुना शुक्र' से कोशकार राघ वी शुक्र को अग्नि बतला रहे हैं । "अग्निः शोचति, रेतो रसति" से ही दोनों क्रमशः शुक्र-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । शुक्र ही शोक है, शोक संताप है, संताप ताप है, ताप अग्नि का धर्म है । रसनाय से शुक् (अग्नि) ही 'शुक्र' बना है । शुक्र साक्षात् अग्नि

१ इन विषय का विस्तृत विवेचन "श्राद्धविज्ञान" में देखना चाहिए ।

है, अतएव ग्रहयज्ञ में आहुत होने वाले ४० प्रद्वपात्रों में से अग्निमय सौरग्रह पात्र को शुक्र' कहा गया है। इसी आधार पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

- १-“अत्ता वै शुक्रः” (शत० ५।४।२।८) — “रेतो वा अन्नम्” (गो० ब्रा० पू० ३।२३)
 २-“अग्निः शुचिः (शुक्रः)” (तै० ब्रा० १।१।६।२) — “रेतो वै सोमः” (शत. ३।८।५।२)

इसी शुक्र को हम अग्नेय होने से 'तेज' कहा सकते हैं—“तेजो वा अग्निः” (शत. २।१।४।८), एवं रेत को सोम होने से 'स्नेह' कहा जासकता है। एक बात और—शुक्र में रेत, रेत में शुक्र अनुस्यूत है। शुक्र में अग्नि प्रधान है, तरल सोम गौण है। रेत में सोम प्रधान है, वन अग्नि गौण है। इसीलिए कहीं कहीं आप रेत को शुक्र कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकारण के आरम्भ में शुक्र शब्द की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एकोव कहीं कहीं अग्निमय शुक्र को रेत बतला दिया जाता है। इन्हीं दोनों तत्वों के समन्वय से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के समन्वय से कैसे संसार बना है ! इस प्रश्नसमाधि के लिए निम्नलिखित प्रकारण पर दृष्टि डालिए। सृष्टि का मूलप्रवर्तकतत्त्व अस्तुत-प्रद्व-शुक्र इन तीन भागों में विभक्त है।

इन में अमृत आत्मयोनि है, ब्रह्म प्रकृतियोनि है, एवं शुक विकृतियोनि है। दूसरे शब्दों में यो समष्टि कि आत्मसृष्टि अमृत से होती है, प्रकृतिसृष्टि ब्रह्म से होनी है, एवं विकृतिवा विरवसृष्टि शुक से होनी है। सृष्टि के वही तीन विवर्त हैं। इन में अमृततत्त्व अक्षय-अक्षर-आत्मद्वार भेद से निकल है, ब्रह्मतत्त्व प्राणादि भेद से पञ्चकल है, शुकतत्त्व यद्-ब्रू-भेद से द्वितल है। त्रिवृत् अमृत (३), पञ्चकल ब्रह्म (५), द्विरुल्लशुक (२) की समष्टि ही दशिनीविराट् (दशकलविराट्) है, यही 'सर्वम्' है। कहने को अमृत ब्रह्म-शुक तीन पदार्थ हैं। वस्तुतः अमृत ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही शुक है। सृष्टि से बहिर्भूत रहता हुआ वही तत्त्व प्रकृत बहलता है, सृष्टिपुन्युक्त बनकर वही 'ब्रह्म' बहलाने लगता है, एवं सृष्टि का उपादान बनकर वही शुक बहलाने लगता है। मूलस्थापन वही तत्त्व अमृत है, तूलास्थापन वही तत्त्व शुक है, मूल को तूलरूप में परिणत करने के समय वही ब्रह्म नाम से व्यग्रहृत होने लगता है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अमृत एवं ब्रह्म यह दो आत्मविवर्त सृष्टि के मूल हैं, एवं शुक-विवर्त सृष्टि का 'बीज' है। जब तक अमृत एवं ब्रह्म सृष्टि के बीज नहीं बन जाते, तबतक तो दोनों अमृत ब्रह्म इन्हीं नामों से व्यग्रहृत होते हैं, परन्तु बीजावस्था में आकर इन्हीं दोनों की समष्टि वेदरूप में परिणत होती हुई (वेदान्च्छिक्त बनती हुई) 'शुक' नाम धारण करलेती है।

निषयेपत्रम में हमने कहा था कि सृष्टिसाक्षी अव्यययुक्त, अतएव बीजावस्थापन प्रकरणानुसृष्टीत आत्मद्वार को ही शुक कहा जाता है—(देखिए ई. नि. भा. पृ. स १०)। वही यजुर्मंत्र को शुक बतलाते हुए निषेध का उपापन करते हुए इस के समाधान की प्रतिज्ञा की गई थी। अस्तरप्राप्त तक निषेध का भी परिहार करलेना चाहिए। बीजावस्थापन अक्षर धर शुक है, एव बीजावस्थापन प्रक्षर धर ही यजुर्मंत्र है। साक्षी सृष्टि मूर्तिप्राप्त है। मूर्ति ही निषेध का स्वरूप है। सारा निषेध मूर्ति है। मूर्ति पुर है। इस पुररूप निषेध के मूल वेद लोम-अजा आदि नामों से प्रसिद्ध पुरखन ही हैं। यद्यपि इन पाँचों पुरखनों को ही हम निषेध के बीजमूर्त होने से 'शुक' कह सकते हैं, तथापि पाँचों में प्रथम एवं प्रतिष्ठारूप पहिला वेद नाम का ही

पुरुष है, अतः इसी को शुक कह दिया गया है। यह वेदतत्त्व आत्मज्ञ की सर्वप्रधाना एवं सर्व प्रथम प्राणरूपा का विकास है, दूसरे शब्दों में वेदतत्त्व की उपादानभूमि आत्मज्ञ है, एवं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेयैव सशम' के अनुसार कार्यरूप वेद कारणरूप आत्मज्ञ से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुक रूप वेद को आत्मज्ञ कह जा सकता है। आत्मज्ञ प्रकृति का गर्भभाग है, अक्षर अमृत भाग है। अक्षर और आत्मज्ञ दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्ति प्रजापति के दो अक्षर हैं, दोनों मित्रकर एक वस्तु है। ऐसी दृष्टि में यदि विकाररूप वेदामिन्न आत्मज्ञ शुक है तो आत्मज्ञरामिन्न अक्षर भी अक्षर ही शुक है। साथ ही में विना अन्यपालम्बन के अक्षर क्षर भी बीजावस्था में परिणत नहीं हो सकते, अतः अक्षर-क्षरवत् स्वयं अक्षर भी शुककोटि में निविष्ट हो जाता है। तभी तो—“वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक है” यह कहने का साहस किया जाता है। अक्षर ही अक्षर बनता है, वही क्षर बनता है, वही वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्त्व अक्षर के विद्याभाग का विकास है, क्षरतत्त्व उसी के कर्मभाग का विकास है। वही अक्षर विद्या-कर्म भाग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का यत्- (गतिरूप) भाग उसके कर्मभाग का विकास है, ज- (स्थितित्व) भाग उसी के विद्याभाग का विकास है। कहीं विद्यारूप (अक्षररूप) से, कहीं कर्मरूप (क्षररूप) से, कहीं उभयका (वेदरूप) से वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। उससे अन्य कुछ नहीं है, सबकुछ वही है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि यजुर्वेदानुच्छिन्न षोडशी पुरुष ही शुक है। विश्वरूप-पञ्चजन-पुरुष आदि बहिरङ्ग अव्यक्तप्रकृति षोडशी के विना नहीं रह सकती। अन्ययावच्छिन्न अक्षर क्षर ही तो यजुरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थदृष्टि से विचार करने पर—“सृष्टिसाक्षी अव्यययुक्त, अक्षरय सृष्ट्युन्मुख बीजावस्थापन्न अक्षरक्षर शुक है” “एतत् अनेजत् तत्त्व शुक है” इन दोनों वाक्यों में कोई विरोधी नहीं रहता। यही अक्षरवच्छिन्न यजुरूप शुक मातरिरवा द्वारा होने वाले आप के आधान से विश्वरूप में परिणत होता है। विश्वावस्थापन वही शुकतत्त्व ‘अक्षरय’

नाम धारण कर लेता है। इस अश्वत्थ के अण्वय के विद्या-कर्मरूप ब्रह्म-कर्म के अनुग्रह से ब्रह्माश्वत्थ कर्माश्वत्थ यह दो भेद होजाते हैं। इनमें ब्रह्माश्वत्थ का निरूपण कठ एवं सुष्टक-भाष्य में द्रष्टव्य है, एवं कर्माश्वत्थ का निरूपण श्राद्धविज्ञान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक्र की आहुति से ही (पञ्चपुण्ड्री प्राजापत्यब्रह्म) का जन्म होता है। शुक्र की सहस्राहुतियों से सहस्रवत्शा-युक्त अश्वत्थ का स्वरूप संपन्न होता है। अश्वत्थ संसार है, इस संसारमहीरूह का बीज शुक्र-तत्व है। शुक्र का अतिकमण करना ही मायोपाधिस्थत्या परमुक्ति है। निष्कामभाव से जो इस अश्वत्थ की उपासना करते हैं, वे ही धीर युञ्जानयोगी विरकास के उपासनयोग (बुद्धियोग) से युक्तयोगी बनते हुए शुक्ररूप मिश्रसीमा (मायासीमा) से बाहर निकलने में समर्थ होते हैं—“मापेव ते प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ये”। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स वेदैतदपरमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।

उपासते पुरुषं ये शकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥

(सुष्टकपनिषत् ३।२।१॥)

अश्वत्थरूप महेश्वर को आप अव्ययाक्षर दृष्टि से अमृत कह सकते हैं, अक्षरामक्षरादृष्ट्या ब्रह्म कह सकते हैं, अक्षरामक्षरापञ्चिन्नपञ्चदृष्टि से शुक्र कह सकते हैं। वही अश्वत्थ अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। कुछ भी कहिए—परन्तु उसे महामाया की अन्तिम परिधि तक व्याप्त समझिए। आप को विश्वास करना चाहिए कि शुक्र-ब्रह्म-अमृत इन तीन नामों से पुकारा जानेवाला वह तत्व (मायी महेश्वर) अपने उदर में अनन्त (सहस्र) प्राजापत्य वक्त्रों प्रतिष्ठित रखता हुआ एतदनेकत् रूप से खड़ा हुआ है। इसी 'तत्' विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

“ऊर्ध्वमूर्ध्नोऽनाक्षरात् एपोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तद् नत्येति कश्चन ।

एतद् तद्” [कठ० ६।१।] ।

उक्त वचन बीजरूप उसी यजुर्वेद का निरूपण करता है। वेद को हमने सृष्टि का मूलाधार बतलाया है, एवं साथ ही में इसे क्षराक्षरात्मक भी कहा है। यद्यपि विश्व में अविद्यारूप (आवरणरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विश्वनिर्माण विना विद्या की सहायता के सर्वथा अनुपपन्न है। बिना हानरूप विद्याके कर्म संभव ही नहीं है। ध्यानन्द-विज्ञान-मन विद्याभाग है, मन-प्राण-वाक् कर्मभाग है। ध्यानन्द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ध्यानन्द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है। यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप कर्म क्षर है। दूसरे शब्दों में अव्यय के विद्याभाग का अनुग्रह अक्षर पर है, एवं कर्मभाग का अनुग्रह क्षर पर है। अतएव उपनिषदोंने अक्षर को विद्या शब्द से, क्षर को अविद्या शब्द से व्यवहृत किया है। दोनों का ईश अव्यय अपने दोनों भागों से दोनों पर शासन करता है। (सी अग्निप्राय से श्रुति कहती है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूदे ।

चरं त्वविद्या ब्रह्मृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

(श्वेता० उ० ५।१।।)

विद्यारूप अक्षर का विकास 'जू' है, कर्मरूप क्षर का विकास 'यत्' है। जूरूप विद्यात्व अनेकत्व है, यत् रूप कर्मत्व एजत्व है। एजत् अनेकत् की समष्टिरूप यजुर्वेद ही शुक है। सृष्टिकर्ता इस वेदमूर्ति शुक को सृष्टि के प्रधान अनुबन्ध का सहारा लेना पड़ना है। यह अनुबन्ध है 'चितिसम्बन्ध'। योग, विभूति, सहचर आदि ११ प्रकार के सम्बन्धों में से ग्रन्थिबन्धन नाम से प्रसिद्ध चितिसम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुबन्ध है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का चिनाव (लोकप्रसिद्ध 'चिजा') ही चिति है। ईंट पर ईंट पर रखने से जैसे एक दुर्ग का स्वरूप बनता है, एवमेव उसी षोडशीरूप आत्मवरातल पर इष्टक (ईंट) रूप भौतिक विचारक्षरों की चिति से विश्वदुर्ग का निर्माण हुआ है। विश्वमूला यह शुक्रचिति-बीज, देव, भूत, मेद से तीन भागों में विभक्त है। षोडशी आत्मा पर पहिली बीजचिति है,

बीजचिति पर देवचिति है, देवचिति पर भूतचिति है । तीनों चितियों की समष्टि विश्व है, विश्व-चिति वा आत्मन्वन पोडशी विश्वात्मा है, आत्मा और विश्व की समष्टि आत्मन्वी ईश्वर है, इही दो भावों की समष्टि प्रतिमाप्रजापति है । दोनों की समष्टि ही जीवप्रजापति है, एवं दोनों की समष्टि ही शिविषिष्टप्रजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साम्राज्य है—“प्रजापतिस्त्वेवं दे सर्वं यदिदं किंच” । “त्रीणि ज्योतीषि सचते स पोडशी” के अनुसार अध्यय (ज्ञान-ज्योति) अक्षर (कर्म-ज्योति) क्षर (भूत-ज्योति) इन तीनों ज्योतियों से वह पोडशी प्रजापति चितिस्यरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है । महाविश्व ईश्वर का शरीर है हमारा (जीवन्मा) पाञ्चभौतिक शरीर हमारा विश्व है । विश्व सृष्टरूप है, आत्मा प्रविष्टरूप है । दोनों में सृष्टप्रप चितिस्रहस्र (मर्ममज्ञ) है, प्रविष्ट व्रम चिनेनिरेपव्रह्मा (अमृतमज्ञ) है । जिनप्रकार प्रविष्ट-मज्ञ अध्यय-अक्षर-क्षरमेद से त्रिकल है, एतमेव चित्सृष्टप्रहस्र भी बीज-देव-भूत भेद से त्रिकल ही है । पट्कल की समष्टि ही ईश्वर है, पट्कल की समष्टि ही जीव है—“पाट्कौशिकमिदं सर्वम्” । बीजचिति पर अध्यय का अनुग्रह है, देवचिति पर अक्षर का अनुग्रह है, एव भूतचिति पर क्षर का अनुग्रह है । बीजचिति ज्ञानज्योति है, देवचिति कर्मज्योति है, भूतचिति भूतज्योति है । इन विश्वरूप तीन चित्य ज्योतियों से वह विश्वात्मारूप पोडशी अपनी अध्यय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त होरहा है । वह पोडशी विश्वरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे—‘ज्योतिषां ज्योतिः’ (विश्व की बीज-देव-भूतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाना है ।

ज्योतिषां ज्योतिः पोडशी विश्वात्मा → → → विश्वम्

१-अध्ययः (ज्ञानज्योतिः) ++ → १-बीजचितिः (ज्ञानज्योतिः)

२-अक्षरः (कर्मज्योतिः) ++ → २-देवचितिः (कर्मज्योतिः)

३-क्षरः (भूतज्योतिः) ++ → ३-भूतचितिः (भूतज्योतिः)

(आत्मा) → → → (शरीरम्)

} पाट्कौशिकमिदं सर्वम्

ईश्वर की अपेक्षा जीवसंस्था हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं । इनमें आत्मा कौन है ? इसका उत्तर है 'पोटशीपुरुष' । शरीर कौन है ? इसका उत्तर है—'वीज देव-भूत समष्टि' । भूतग्राम, देवग्राम, बीजग्राम की समष्टि ही शरीर है । बीजग्राम को आत्म-ग्राम कहा जाता है । यह आत्मग्राम उस प्रधान आत्मा से मिला है । वह एक है, यह अनेक हैं । यही आत्मग्राम कारणशरीर है, देवग्राम सूक्ष्मशरीर है, भूतग्राम स्थूलशरीर है । कारण-शरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है । तीनों शरीर पोटशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं । अनेक वस्तुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है । आरितकदर्शनानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्योतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकव्यवहार में जो 'द्वेर' 'थोक'-आदि नामों से प्रसिद्ध है, वही विज्ञानभाषा में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यवहृत किया जाता है । सिंहादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रहते, अपि तु एकाकी विचरण करते हैं, अत एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है । अरण्यशब्द जंगलका वाचक नहीं है, अपि तु एकाकी भाव का समर्थक है । इसीलिए एकाकीभाव से सम्बन्ध रखने वाले उपासना प्रतिपादक वेद-भाग को 'अरण्यक' कहा जाता है । उपासना 'अतिर्जनसंसदि' पर ही निर्भर है । जंगल भाग को 'अरण्यक' कहा जाता है । उपासना 'अतिर्जनसंसदि' पर ही निर्भर है । जंगल में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जंगल को भी अरण्य कह दिया जाता है । वस्तुतः अरण्य एकव्यवस्था का सूचक है । मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्रामभाव के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है । बस्ती में समुदाय की प्रधानता रहती है, अत एव बस्ती को भी ग्राम कह दिया जाता है । वस्तुतः ग्राम 'संघ' का वाचक है । "पशून्स्तान्श्चके वायव्यानाराण्या ग्राम्याश्च ये" (शुः सं. ३५. अ. १६ सं. १) में आरण्य-ग्राम्यपशु का यदि कोई-जंगल में रहने वाले पशु, एवं ग्राम में रहने वाले पशु" यह अर्थ करे तो विज्ञानदृष्टि से उक्त अर्थ सर्वथा अन्वर्थकोटि में गिना जायगा । "सिंहादि अरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" वही अर्थ समीचीन होगा । वस्तुतः यही है कि

आध्यात्मिकसंघ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंघ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एव ह्रुदशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, पर अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अतएव इसे 'निकाय' कहा जा सकता है। यही 'निकायछन्द' है—(देखिए शन. मा. ८।१।३।१।)। निकाय ही काय है, काय ही रीति है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचों भूत ही भूतग्राम है, यही श्वेतशरीर है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

“आत्मरूपमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी ? का आप ? को वायु ? किमाकाशम् ? इति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः यद्गुणं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् शृणोति तदाकाशम्—इत्युच्यते”

(गर्भोपनिषत्)

अस्मिन्—आमादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लावा-स्नेह-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को घुने से जिम ऊष्मा (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है, अतः प्रधान वायु है, शरीर में जितना रिक्त (पोल) भाग है, वह सन आकाश है, यही तात्पर्य है। इसी प्रकारसे एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्ता है। यदि व्यसथान (धन्तर) न होता तो शरीर धातु मिश्रण एकत्र होजाते। यह पृथक् है, यह मर्म है, यह रज्जु है, यह फलित निज नाम-गण-व्यवहार नष्ट होजाते। इसी अभिप्राय से—‘आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वाणो परं महा नाम है। वायु-वाण-चक्षु-श्रोत्र-मन-रस पांचों शक्तिओं की समष्टि ही देवग्राम

है। दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है। वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदित्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है—देखिए ऐ० उ० १ सं०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। तीसरा है बीजग्राम। यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-कर्म यह तीन तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं। ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है, चिदाधार तत्व प्रज्ञा है। यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है। अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यही जन्म स्थिति भंग का कारण है, अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है। इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को अन्म का आरम्भक माना जाता है। इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी अन्वारभते पूर्वप्रज्ञा च" (शत० १४ कां० ७।२।३।) यह कहा जाता है। शुक्रगत प्रज्ञामाग पर ही चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में चिदाभास (चित् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्ति इस शुक्र को ध्यात्मग्राम कहा जाता है। पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है। इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिएं), ५ प्रज्ञामात्रा, २ विद्या और कर्म-इन १७ वस्तुओं की राशि से वह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

कर्मान्माहापरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते।

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः ॥

(म० शान्तिप० मो० ३५१ अ० १६ श्लो०)

- बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रपञ्चि का कारण बनती हुई 'पद्म' नाम से प्रसिद्ध है।

१. इस विषय का विशुद्ध विवेचन शतपथब्रह्मसंहिता में देखना चाहिए।

२. 'यत्र आत्मा प्रपञ्चो भवति तत्र पद्म' यह विवेचन के अनुसार आत्मार्क प्रपञ्चितस्थान (निबन्धस्थान)

ही 'पद्म' नाम से व्यवहृत होता है।

आन्धात्मिकसंघ के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंघ के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरूप' कहलाता है। एवं सुदशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किया 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अत एव इसे 'निकाय' कहा जा सकता है। यही 'निकायछन्द' है—(देखिए शत. ब्रा. ८।५।२।३।)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचों भूत ही भूतग्राम है, यही शूतशरि है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

“आत्मकमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी ? का आपः ? को वायुः ? किमाकाशम् ? इति । अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् सुपिरं तदाकाशम्—इत्युच्यते”

(गर्भोपनिषत्)

अस्मिन्—मांसादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लाजा-स्नेह-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को छूने से जिम ऊष्मा (गर्मी) का अनुभव होता है वह तेज है, अतः प्रथम वायु है, शरीर में जितना रिक्त (वोल) भाग है, वह सब आकाश है, यही ताप्य है। इसी आकाशने एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्ता है। यदि व्यसधान (घनतर) न होता तो शरीर धातु मिलकर एक रूप होजाते। यह पृथ्वी है, यह मीस है, यह रजसा है, यह भिन्न भिन्न मान-रस-स्पर्शर नष्ट होजाते। इसी अभिप्राय से—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वाणित' यह कहा जाता है। वाक-वाक्य-चक्षु-श्रोत्र-मन-इन्द्रियाँ की समष्टि ही देवग्राम

है। दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्ही वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव है। वायु अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदित्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है—(देखिए पृ० उ० १ सं०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियमय देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं। तीसरा है बीजग्राम। यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या-प्रज्ञा-कर्म यह तीन तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं। ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है, विद्याधार कर्म प्रज्ञा है। यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है। अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज-शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। यही जन्म स्थिति भंग का कारण है, अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है। इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को अम का आरम्भक माना जाता है। इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी अन्वारभेते पूर्वमज्ञा च" (शत० १४ वां० ७।२।३) यह कहा जाता है। शुक्रगत प्रज्ञाभाग पर ही चिदंश का प्रति-वेन्द्र पदता है। दूसरे शब्दों में विद्याभास (चित्त का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है। पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है। इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रियं), ५ प्रज्ञामात्रा, २ विद्या और कर्म—इन १७ वस्तुओं की राशि से यह आत्मा नित्य युक्त रहता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं।

कर्म्मन्मातरपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते।

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः ॥

(म० शान्तिप० म० ३५१ अ० १६ श्लो०)

बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रपत्ति का कारण बनती हुई 'पदम्' नाम से प्रसिद्ध है।

१ इस विषय का विस्तृत विवेचन शतपथब्राह्मण में देहना चर्हिपे।

२-यत्र आत्मा प्रपद्यते भवति तत्र पदम्' इस विवेचन के अनुसार आत्मार्क प्रपत्तिरूपान् (निरात्मक)

ही 'पद' नाम से व्यवहृत होता है।

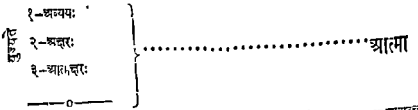


महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है । महिमयुक्त शरीरत्रयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है । ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है । इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है । जब तक कृत वा (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है । कृत अकृत को कभी उपकृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्वाचनों से स्पष्ट है ।

उक्त तीनों वित्तियों में से बीजवित्ति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जा चुका है । इसी कारणता को बतलाने के लिए ऋषिने इस का नाम कारणशरीर रखा है । जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायाविमोक्तलक्षणा) ईश्वर की मुक्ति है । दूसरे शब्दों में शुक्र का अतिवर्तन ही मुक्ति का कारण है । निदानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए । कारण ही बीज है । इसे शुक्र, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जा सकता है । क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजवित्ति है । यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध है । दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजवित्ति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है । प्रत्येक सृष्टि में तीनों मिल अपेक्षित हैं । सृष्टिकर्म का अव्यय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सम्बन्ध है । जब तक इन तीनों कलाओं का सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं हो सकता । मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है । इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है । ईश्वर जैसा चाहता है, वैसा कार्य करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही पशु उत्पन्न हो जाती है । "कामरतदप्रेसमवर्त्तताधि मनसो रेतः

मयमं यदासीन्" (नासदीयसूक्त) के अनुसार काम ही प्रथम बीज है । काम के होते ही कर्म [प्राणव्यापार] हो पड़ता है, कर्म से वाग्ब्यापार होता है, नई वस्तु उत्पन्न होजाती है । काम ज्ञानशक्ति है, कर्म क्रियाशक्ति है, शुक धर्मशक्ति है । शुक रूप अर्थ ही पदार्थों का उपादान बनता है, अतः हम प्रधानबीज शुक को ही कहेंगे, काम कर्म को सहकारी कारण कहेंगे ।

पूर्व कथनानुसार दार्शनिकों ने भावनावासनारूप संस्कार को ही सृष्टि का बीज माना है । यह संस्कार जीवसृष्टि का बीज अक्षर्य होसकता है, परन्तु ईश्वरसृष्टि का नहीं । क्योंकि यह संस्कारलेप से पृथक् है । सतत ज्ञान-कर्मानुष्ठान में रत रहने पर भी उसपर (अना-सक्तिभाव के कारण) संस्कारों का लेप (आवरण) नहीं होने पाता । उधर काम-कर्म-शुकरूप बीज जीववत् ईश्वर से भी सम्बन्ध रखता है, जैसा कि "सोऽकामयत, स तपोऽतपयत, सोऽश्राम्यत्" इत्यादि से स्पष्ट है । ईश्वरवत् आधिकारिक जीवों के साथ भी संस्काररूप बीज घटित नहीं होता । ईश्वर-आधिकारिकजीव-यथाजातजीव-इतर अचान्तर सृष्टिएं इन सब के साथ समानरूप से युक्त रहने वाले बीज का तो -'काम-कर्म-शुकमयत्वं बीजत्वम्' यही लक्षण करना पड़ेगा । प्रकृतमन्त्र में शुक शब्द से यही सामान्य बीज अभिप्रेत है । जीवसृष्टि के लिए दार्शनिकों ने "भावना-वासना-संस्काररवं-बीजत्वम्" जो यह लक्षण माना है, वहां भी वैज्ञानिकों के काम-कर्म-शुक बीज का सम्बन्ध हो रहा है । अपेक्षा-बुद्धि से कर्म करने पर प्रज्ञानात्मा पर संस्कार हो जाता है । उस संस्कार के अभिक्रम-प्रक्रम दो विभाग हैं । काव्यर्थकर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म अभिक्रम है । आप अपने मकान से राम-दो विभाग हैं । रामनिवास बाग पहुंच जाना पुरुषार्थकर्म है । इसकी सिद्धि के लिए आपको पिछला पैर उठाकर आगे रखना-इस क्रम से अचान्तर गतिरूप अनेक कर्म करने पड़ते हैं । यह सब अचान्तर गतिकर्म प्रक्रम हैं । लोकभाषा में जिसे 'पांवड़ा' (पैरों की गति की एक सीमा) कहते हैं, वही प्रक्रम है । यही प्रक्रम काव्यर्थकर्म है । अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का स्वरूप संभव होता है । हम अपने जीवन में अनेक अभिक्रम संगठित कर देते हैं । खाना-पीना-सोना-चलना-द्रव्योपार्जन-अप्ययन-आदि सहस्रों अभिक्रम कर्म हैं । इन सब की सगति



महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतर के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिमयुक्त शरीरवयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है। इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उप-कृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्वकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्वाचनों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों वित्तियों में से बीजचिति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं वही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जा चुका है। इसी कारणता को बतलाने के लिए ऋषिने इस का नाम कारणशरीर रखा है। जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (नापाक्विमोमलद्वशा) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में शुक्र का अतिवर्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुक्र, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जा सकता है। क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं। दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजचिति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों मिल्य अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अध्वय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है, वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामस्तदपेसमवर्चताधि मनसो रेतः

मधमं यदासीन्” (नासदीयसूक्त) के अनुसार काम ही प्रथम बीज है । काम के होते ही कर्म [प्राणन्यापार] हो पड़ता है, कर्म से वाग्न्यापार होता है, नई वस्तु उत्पन्न होजाती है । काम ज्ञानशक्ति है, कर्म क्रियाशक्ति है, शुक अर्थशक्ति है । शुकरूप अर्थ ही पदार्थों का उपादान बनता है, अतः हम प्रधानबीज शुक को ही कहेंगे, काम कर्म को सहकारी कारण कहेंगे ।

पूर्व कथनानुसार दार्शनिकों ने भावनावासनारूप संस्कार को ही सृष्टि का बीज माना है । यह संस्कार जीवसृष्टि का बीज अग्रय होसकता है, परन्तु ईश्वरसृष्टि का नहीं । क्योंकि वह संस्कारलेप से पृथक् है । सतत ज्ञान-कर्मानुष्ठान में रत रहने पर भी उसपर (अना-सक्तिभाव के कारण) संस्कारों का लेप (आवरण) नहीं होने पाता । उधर काम-कर्म-शुकरूप बीज जीववत् ईश्वर से भी सम्बन्ध रखता है, जैसा कि “सोऽकामवत्, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्” इत्यादि से स्पष्ट है । ईश्वरवत् आधिकारिक जीवों के साथ भी संस्काररूप बीज घटित नहीं होता । ईश्वर-आधिकारिकजीव-यथाजातजीव-इतर अचान्तर सृष्टिएं इन सब के साथ समानरूप से युक्त रहने वाले बीज का तो-‘काम-कर्म-शुकमयत्वं बीज-त्वम्’ यही लक्षण करना पड़ेगा । प्रकृतमन्त्र में शुक शब्द से यही सामान्य बीज अभिप्रेत है । जीवसृष्टि के लिए दार्शनिकों ने “भावना-वासना-संस्कारत्वं-बीजरत्वम्” जो यह लक्षण माना है, वहां भी वैज्ञानिकों के काम-कर्म-शुक बीज का समन्वय हो रहा है । अपेक्षा-बुद्धि से कर्म करने पर प्रज्ञानात्मा पर संस्कार हो जाता है । उस संस्कार के अधिकतम-प्रवाह दो विभाग है । ऋतुवर्षकर्म प्रक्रम है, पुरुषार्थकर्म अधिकतम है । आप अपने मकान से राम-निवास बाग जाते हैं । रामनिवास बाग पहुंच जाना पुरुषार्थकर्म है । इसकी सिद्धि के लिए आपको पिछला पेर उठाकर आगे रखना-इस क्रम से अचान्तर गतिरूप अनेक कर्म करने पड़ते हैं । यह सब अचान्तर गतिकर्म प्रक्रम हैं । लोकरूपाया में जिसे ‘पांवड़ा’ (पैरों की गति की एक सीमा) कहते है, वही प्रक्रम है । यही प्रक्रम ऋतुवर्षकर्म है । अनेक प्रक्रमों से एक अधिकतम का स्वरूप संपन्न होता है । हम अपने जीवन में अनेक अतिक्रम संग्रहित कर देते हैं । खाना-पीना-सोना-बलना-द्रव्योपार्जन-अध्ययन-आदि सहस्रों अतिक्रम कर्म हैं । इन सब को समष्टि

व्यूह' (कर्म-व्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रकारों से एक अभिव्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह स्रकाररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्ति-कर्म से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्ध-कर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—“नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति”। कहना यही है कि कर्मात्मक मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के आवापोद्धाररूप धारण से जन्म मरण के चक्र में फसा रहता है। ऐसे ही जीव—आश्वत्थिक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग 'आधिकारिकजीव' का है। इनके ब्रह्माश्वत्थिक-नियतकर्माश्वत्थिक भेद से दो भेद हैं। ब्रह्माश्वत्थिक जीव जड़ हैं। सूर्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वररूप जड़ आधिकारिक जीव 'ब्रह्माश्वत्थिक' हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिष्ठत हैं। नियतकर्माश्वत्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विभक्त हैं। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-ब्रह्मे-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्वा आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अतुमार-मात्माभिमानदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्माश्वत्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अन्तार, एव राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियत-कर्माश्वत्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अन्तार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अन्तार-पुरण लीलासमापण कर जाते हैं, इसी अधिप्राय से नारायणवतार भगवान् व्यास कहते हैं—
 “यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिण्यम्” (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रशापराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति गुन्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से त सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रवर्ग्य बनकर गुन्ध वातावरण को शान्त करने के लिए जीव जनजाता है। वही आधिकारिकजीव अन्तार कहलाता है। प्रकृति देवभेद से निरक्त है। यद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

१ 'अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्,' (शा सु० ११५)। इस विषय का विवरण ११५वें अध्याय में देखा जा सकता है।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अन्वयगुरुरूप के अवतारभूत अतएव पुरुषोत्तम नाम से ही उपनीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८) ।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहां हमें कर्माश्रितिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संघम होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्याव्यय है। काम-कर्म-शुक्र कहो, अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (देखिए खे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का महात्तरूप यजुर्वक्ष पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चित्प्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-आत्मीरूप में परिणत होती हुई त्रिकल बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र-निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-आग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१-मनः-काममयम् (इच्छाशक्तिः)-कामः (इच्छा)

२-प्राणः-कर्ममयः (क्रियाशक्तिः)-क्रिया (तपः)

३-वाक्-शुक्रमयी (अर्थशक्तिः)-आवरणम्(धमः)

अविद्यात्मकं शुक्रम्

१ इस विषय का विस्तृत लिखित गीताविज्ञानग्रन्थ के आचार्य रहस्य में देलना चाहिये।

आपके सर्वाङ्ग शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक भी है। परन्तु इन तीनों के अवन ही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा-कर्म-शुक तीनों का नियत भाग ही उपादान बनता है। यही परिस्थिति मायावच्छिन्न महेश्वर के शरीर में समझिए। ईश्वर के किसी नियत प्रदेश में ही सृष्टिमूला कामना या उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही शुक विषय का उपादान बनता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद, सर्वतोऽन्तिगिरोमुख है। जहाँ तक महेश्वर व्याप्त है, वहीं तक ब्रह्मरूप शुक, एवं सुब्रह्मरूप रेत व्याप्त है। वह कामनाओं का समुद्र है। कामभेद से कर्म, कर्मभेद से शुकभेद होजाता है। नियतकाम-कर्मवच्छिन्न नियतशुक नियतविषय का उपादान बनता है। उस में कामनाभेद से अनन्त शुक हैं। जितने शुक हैं, उतने ही विषय हैं। एक एक विषय का उत्पादक एक एक शुक है। अनन्त ब्रह्माधिष्ठाता महेश्वर अक्षय्य प्रजापति है। उसका पञ्चपर्वा एक एक विरय एक एक पञ्चपुण्डरीक प्राज्ञापत्य बलशा है। व्यापक अमायी परात्पर में माया के उदय से अक्षय्येश्वर का उदय होता है। माया अनन्त है, अतएव मायीमहेश्वर भी अनन्त हैं। प्रत्येक मायी महेश्वर (अक्षय्य) के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। परात्पर एक है, आगे का सारा प्रपञ्च अनन्त है। यद्यपि परात्पर भी अनन्त है, परन्तु इसकी अनन्तता दिग्देशकालानवच्छेद से सम्बन्ध रखती है, महेश्वरादि की अनन्तता सख्या से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार यह सर्व-विभूति अनन्त है, रत्न है, ज्ञानमूर्ति है—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”। परात्पर असीम है। इसी असीममाय को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अव्यय से भी पर-असीम) नाम से व्यङ्गित किया जाता है। जिस प्रकार एक पट (वस्त्र) में ससीम अनन्त गोलाकार बिन्दुएँ प्रतिष्ठित रहती हैं, एवमेव उस असीम परात्पर धरातल में गोलाकार अनन्त मायी महेश्वरप्रतिष्ठित हैं। इस विषय का विशद विवेचन ईशभाष्य प्रथम खण्ड में विस्तार से किया जा चुका है—(देखिए ई. भा. प्र. २५५ से २६४)। प्रत्येक मायी महेश्वर अक्षय्यमूर्ति है। अक्षय्य ऊर्ध्वमूल माना जाता है। वर्तुलवृत्त का केन्द्र प्रथि (परिधि) से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वमूलरूप केन्द्र बिन्दु से चारों ओर प्रथि पर्यन्त सहस्र शाखाएँ निरती

हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पांच पांच पुण्ड्री (पर्व-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्ड्री स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चान्द्रब्रह्मा को 'निघन' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सब भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समगनी चाहिए। तीसरा विवर्त क्लेश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समहिम परमेष्ठी, परमेष्ठी की महिमा में समहिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समहिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समहिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू, समलोकाधिष्ठाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए ई. वि. प्र. ३७८)।

अब तक के सुन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकरूप से यजुर्महाग्नि भरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुब्रह्म व्याप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायावच्छेदेन महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के धरातल पर प्रतिष्ठित व्यापक ब्रह्म-सुब्रह्म के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है, उतने प्रदेश में कर्मजनित क्षोभ से एक नया सीमाभाव उत्पन्न होता है। महानाया के उदर में उत्पन्न होने वाले इसी सीमानाव को 'योगमाया' कहा जात है। इसकी जननी अशनाया (बुभुक्षा) है। अशनाया के अविष्टता विष्णु है, अतएव तन्मूलिवद् योगमाया को—“योगमाया हरेर्देवतत् तथा संमोक्षते जगत्” इत्यादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमावच्छिन्न (योगमायावच्छिन्न) उस नियत प्रदेश से परिच्छिन्न यह यजुर्मह (यजुर्मह का अंश) ही सृष्टि की गति बनता हुआ शुक्र नाम धारण करलेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुब्रह्म (व्याप) भाग रेत नाम धारण करलेता है। ब्रह्मात्मकशुक्र में इसी सुब्रह्मात्मकरेत का रेतोपा मातरिखा द्वारा आधान होता है।

'अनेजेदेकम्०' का अर्थ करते समय हममें सुब्रह्म (व्याप) युक्त ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, वहां केवल यजुर्मह को तो शुक्र, एवं सुब्रह्म को रेत बतलाया जा रहा है। वहां शुक्र-रैतरूप ब्रह्म में सुब्रह्म की समष्टि को शुक्र बतलाने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

को ही उत्पत्ति का कारण समझते हैं। इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उपादानकारण है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी कही जा सकती है। उपादान न केवल ब्रह्म है, न केवल सुब्रह्म। अपि तु दोनों की समष्टि उपादान है। इसी साधारण दृष्टि का स्वागत करते हुए, शुक्र का उपादान अर्थ मानते हुए हमने दोनों के समुच्चय को वहाँ शुक्रशब्द से व्यवहृत कर दिया था। वस्तुतः विज्ञानदृष्टया शुक्र केवल ब्रह्मणि वा वाचक है, एवं रेत केवल सुब्रह्म का वाचक है। इस रेत का आधान हुआ, इससे स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न हुआ। यही शुक्रमूला सृष्टि का पहिला रूप है। यह योगमायावच्छिन्न पुण्डरी स्वयम्भू है, 'अनेजदेकप०' वाला महामायावच्छिन्न, महेश्वर के रूप से समतुलित व्यापक स्वयम्भू था। वह एक है, पुण्डरी स्वयम्भू अनन्त (सहस्र) हैं। इस योगमायावच्छिन्न ससीम पुण्डरी स्वयम्भू से ही परमेष्ठी का उदय होता है। यही शुक्रमूला सृष्टि का दूसरा रूप है। अव्यक्त स्वयम्भू में यद्यपि आप भी है, परन्तु वहाँ प्रयानता प्राण की ही है। प्राण असंगतत्र है, असंगप्राण मैथुनीसृष्टि का कारण नहीं बनता। ऐसी परिस्थिति में प्राणमय स्वयम्भू को भी वास्तविक उपादान नहीं माना जा सकता। सृष्टि का वास्तविक उपादान तो संसर्गधर्मा आपोमय परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उपादान कारण सूत्रक) शब्द का पर्ययसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है। यही इस शुक्र-मूर्ति परमेष्ठी की महत्ता है। इसे 'महान्' कहा जाता है। यदि सृष्टि पर्वों की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अव्यक्त स्वयम्भू को ही सत्र पर्वों की अपेक्षा महान् (नरसे बड़ा) मानना सुक्तिमंगल होता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने अव्यक्त को महान् न बल्कि परमेष्ठी को महान् कहा है। सद्यमुक्त परमेष्ठी ही सत्र पर्वों की अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्ति स्वयम्भू प्रजापति प्राण की संस्था—महत्ता इसी प्राजापत्य परमेष्ठी पर निर्भर है। परमेष्ठी के दर्शपूर्णमास से ही पुण्डरी स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न होता है। पहिले आपतत्र सर्वा बनता है, अनन्तर प्राण को संस्था का धारण मिलता है। पानी ही प्राण की प्रतीक्षा है—'आपोमयः प्राणः'। आपोमयत्वमे जवनक शरीरमें आपतत्र प्रतीष्ठित रहता है, तभी तत्क प्राण मगत्पर से प्रतीष्ठित रहता है, जैसा कि—'यार्द्धं प्राणेषापो भवन्ति तावदावा

वदति" (शत० ५।३।५।१६।) इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है । प्राणपेक्षया पात्नी की यही महत्ता है । पानी के गर्भ में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'प्राणो वा इदं सर्वम्' है, (देखिए ई० लि० भा० पृ० १५) । मातरिखा वायुके वेष्टन से ही अव्यक्त स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिखा वायु-धूप का ही एक अंश है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोमय परमेष्ठी को महान् कहा जासकता है । वैकारिक विश्व का उपादान भी यही है, इसलिए विश्वपेक्षया भी यही महान् है । अव्यक्त अमूर्त या, यह मूर्त है (मूर्तिरेव रयिः-प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिएं, दूसरे शब्दों में मूर्त जगत् इसी रयिप्रधान परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है । धूप कहेंगे मायी महेश्वर सर्वकी अपेक्षा महान् है, ऐसी अवस्थामें विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आदि को कैसे महान् कहा जा सकता है ! हम वही धूप भूलते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अव्यय) का विकास नहीं होता, सृष्टिबाध में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मैश्वर्य इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । धूप के धूप-वायु-सोम यह तीन विवर्त हैं । चेतना आगमन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विश्व में आप्य-वायव्य-सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपलब्ध होती है । इस जीवसृष्टि का अविघाता भी आपोमय परमेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर-जीव-विश्वसब कुछ इसी के आश्रित हैं- 'सर्वमापोमयं जगत्' । परमेष्ठी के इसी महत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऋषियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यक्त किया है । इसी महद्ब्रह्म की महत्ता का-निरूपण करती हुई सृष्टि कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वपोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (गीता १४।३-४) ।

पञ्चपर्वा विश्व के अमृत-मृत्यु मेद से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अक्षरपुरुष स्वयं अमृतरूप है । इस का विकास सूर्य पर्यन्त रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर की प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृताग्नि नामक प्राणाग्नि तक) है । सूर्यपिण्ड से आरम्भ कर नीचे के सारे मर्त्य विरव में क्षर का साम्राज्य है । क्षर को 'ब्रह्म' कहा जाता है । यह ब्रह्मक्षर अनेकधा विभक्त है, विविध भावों से आक्रान्त है । इस बहुरूप क्षरकूट पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विशुद्ध अक्षर नहीं, अपि तु महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरसृष्टि का उपादान शुक्ररूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह सूर्य से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अमृताक्षर कोटि में प्रतिष्ठित मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार षोडशीपुरुष, अथ्यक्त (स्वयम्भू), महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक स्वतन्त्र अमृत विभाग होनाता है । एवं सूर्यपिण्ड-चन्द्रपिण्ड-पृथिवीपिण्ड इन तीन का एक स्वतन्त्र मर्त्य विभाग होजाता है । । इस प्रकार एक ही शुक्र तत्व अमृत मृत्यु मेद से दो भागों में विभक्त होजाता है, जैसा कि पूर्व की शुक्रनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है । इसी रहस्य को सद्य में रखकर—“भूतं भविष्यत् मस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्” यह कहा जाता है ।

१—षोडशीपुरुषः	} अमृतम्—१	} प्रजापतिः
२—अथ्यक्तः स्वयम्भूः		
३—परमेष्ठी महान् — ० —		
१—सूर्यपिण्डम्	} मर्त्यम्—२	
२—चन्द्रपिण्डम्		
३—भूपिण्डम्		

हमारा 'स पर्यगात् ०' मन्त्र शुक्ररूप रसी महद्ब्रह्म का निरूपण करता है । शुक्रपदार्थ यदा जटिल है, यह पूर्व के शुक्रनिरूपण से विदित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यही

समाप्त नहीं होजाती । अभी इस संबन्ध में और भी कुछ क्लृप्त है । यजुर्वेद शुक है, यह पहिला पद है । काम-कर्म-शुक्ररूप अविद्यातत्त्व शुक है, यह दूसरा पद है । ब्रह्म-सुब्रह्म की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक है, यह तीसरा पद है । वाक्-आप-अग्नि-अग्नि-आप-वाक् भेद से शुक दी है, यह चौथा पद है । अपेक्षा भेद से चारों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थतः सब अभिन्नार्थक हैं । पूर्व की शुकनिरुक्ति में हमने चौथे पद को ही प्रधानता दी है, एवं इस प्रकरण में शेष तीनों पदों को प्रधान माना गया है । अब इन चारों का समन्वय कर इस अधिकारण को समाप्त करना है ।

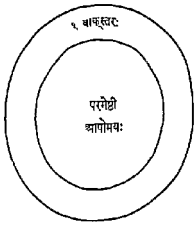
सब का मूल विद्या-कर्ममय अव्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय विद्याभाग है, यही अमृत है । मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है । दोनों की समष्टि विश्व है । विश्व का मूल शुक (उपादान) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक है । परन्तु कैसा विद्याकर्म ! विशुद्ध नहीं, अपितु वेदरूपद्वारा-वर्द्धित विद्याकर्म । यत् रूप मृत्यु, ज्ञ रूप अमृत ही (यजुर्वेद), ही संसार का शुक है । यह शुक पूर्वकथनानुसार मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय के वाक् भाग का ही विकास है । अव्ययवाक् ही वेदरूप में परिणत होती है । मूलावस्थापन्न वाक् वाक् है, उलावस्थापन्न वाक् वेद है, अतएव अव्यक्ताधिकारण में इस वेद को 'ब्रह्मनिःश्रुत' कहा है । निष्कर्ष यही हुआ कि अव्ययवाक् का विकासरूप, अतएव वाक् नाम से प्रसिद्ध अमृत-मृत्युरूप स्वापम्भुव ब्रह्म-निःश्रुत वेद ही (जिसे कि इस शुकप्रकरण में 'वाक्शुक' कहा गया है) प्रथमज एवं प्रतिष्ठा रूप शुक है । यही इस की दूसरी अवस्था है । इसी पर प्रतिष्ठित होकर ' ब्रह्म (धर) एवं अक्षर सृष्टि के अविद्यता बनने में समर्थ होते हैं, जैसा कि मुण्डकोपनिषत् के—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव' इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है । वेदरूप वाक् पहिला शुक है । "एकाकी न रमते तद् द्वितीयमैच्छत्, पतिश्च पत्नीम्" के अनुसार वाक् का (यत् का) ही कुछ भाग पानी बन जाता है । यही आप (जिस में कि आप-वायु आदि पद्मस्र

हैं) पत्नी है। वह सध्या या, यह ऋतु है। इन दोनों की समष्टि ही शुक्र की तीसरी अवस्था है। 'तत् सृष्ट्या तदेवानुमाविशत्' के अनुसार ब्र. नि. वेद अप्तत्व को 'उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसी से पृथ्वीस्वयम्भू का जन्म होता है। चारों ओर आपोमय पद्मरूप व्याप्त है, बीच में वेदत्रयी प्रतिष्ठित है। आप में जो अङ्गिराभाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं बतलाई गई हैं। यह अङ्गिरात्रयी आगे जाकर "गायत्रीमात्रिकेवद" रूप में परिणत होती है। अङ्गिराग्नि गायत्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा० कदना न्यायप्राप्त है। सृष्टि यज्ञमूला है। यज्ञ की प्रथम विकास भूमि आप शुक्र है। अपने ही अङ्गिरा भाग से वह आपत्तव उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है। अङ्गिरात्रयी अग्नि है, भृगुत्रयी सोम है। दोनों का समन्वित रूप यज्ञ है—'दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसाम लक्ष्णम्'। यही यज्ञात्मक चौथा शुक्र है।

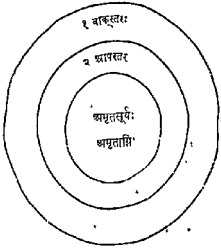
प्रकारान्तर से देखिए। स्वापम्भुवी वाक् पहिला शुक्र है, परमेष्ठ्य आप दूसरा शुक्र है, सौर अग्नि तीसरा शुक्र है। तीनों ही अमृत मृत्यु मेद से दो दो मार्गों में विभक्त होते हुए पद्मशुक्र संपत्ति के सम्पादक बनजाते हैं। उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक्र अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र सब शुक्रों की सूक्ष्मावस्था मानमें पर भी विकास क्रमिक ही माना जा-यगा। स्वयम्भू केवल वाङ्मय है। परमेष्ठी स्वयम्भू के उदर में है, इसलिए यह स्वस्वरूप से से आपोमय बनना हुआ वाक् के आगमन से वाङ्मय भी है। सूर्य में अमृताग्नि-मर्याग्नि के साथ साथ वाक्-भाप का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्य परमेष्ठी के गर्भ है। दृष्टि क्रमानुसार पृथ्वी और सूर्य के गर्भ में प्रतिष्ठित अन्तरिक्षस्थानीय चन्द्रमा में पांच शुक्र हैं। एवं दृष्टि क्रमानुसार (साथ ही में हम पाथिव प्राणियों की अपेक्षा से स्थिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथ्वी में ६ थों शुक्रों का भोग हो रहा है, जैसा कि आगे के परिच्छेदों से स्पष्ट होजाता है।



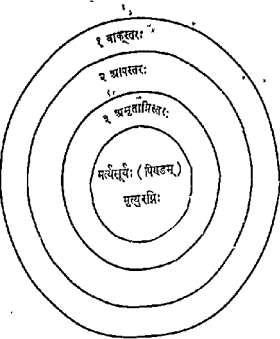
→ वाक्^१ — १ — स्वयम्भूः



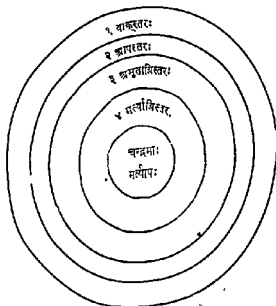
→ वाक्^१ - आपः^२ — २ — परमेष्ठी



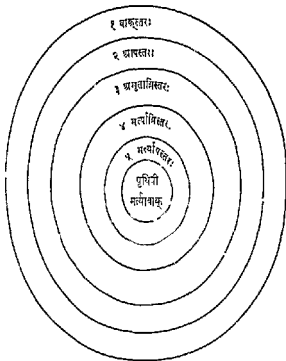
→ वाक्^१ - आपः^२ - अग्निः^३ — ३ — सूर्यः



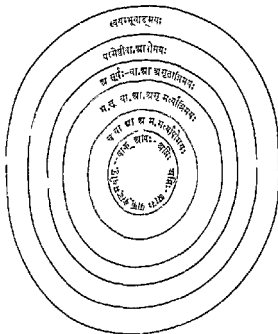
१ २ ३ ४
वाक्-आपः-अग्निः-मर्यादः-
४-सूर्यः



१ २ ३ ४ ५
वाक्-आपः-अग्निः-मर्यादः-आपः-
५-चन्द्रः



१ वाक्-आपः-अग्निः
 २ वाक्-आपः-अग्निः
 ३ वाक्-आपः-अग्निः
 ४ अग्निः-आपः-वाक्
 ५ अग्निः-आपः-वाक्
 } ई-पृथिवी



→ → → → समष्टिः

- १-स्वयम्भुः-वाङ्मयः ।-वाक् १
 २-परमेष्ठी-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः ।-आपः २
 ३-अमृतसूर्यः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः-अग्निः ३
 ४-मर्त्यसूर्यः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः, ^(४)मर्त्याग्निमयः-अग्निः ४
 ५-चन्द्रमाः-^(१)वाङ्मयः, ^(२)आपोमयः, ^(३)अमृताग्निमयः, ^(४)मर्त्याग्निमयः, ^(५)मर्त्यापोमयः-आपः ५
 ६-पृथिवी-^(१)वाङ्मयी, ^(२)आपोमयी, ^(३)अमृताग्निमयी, ^(४)मर्त्याग्निमयी, ^(५)मर्त्यापोमयी,
 मर्त्यावाङ्मयी-वाक् ६

शुक्र में आप का भाग है, अर्थात् गग्नि का भाग है, समष्टि महद्ब्रह्म है । महद्ब्रह्म में अत्यक्त स्वयम्भु प्रतिष्ठा रूप से प्रतिष्ठित है । मातरिश्वा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है । अभी सृष्टि निर्माण नहीं हुआ है । केवल मातरिश्वा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्ब्रह्म रूप शुक्र का आविर्भाव हुआ है । यही आगे विश्व बनने वाला है । हमारा औपनिषद् मन्त्र इसी विशुद्ध शुक्र का निरूपण करता है । मन्त्रार्थ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ । अब मन्त्रार्थ की ओर विह्व पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

मन्त्रार्थप्रकरण



‘स सुब्रह्म की समष्टिरूप उस शुक्र को (सर्वव्यापक आदिस्वयम्भुरूप शुक्र को) मातरिश्वा वायुनें चारों ओर से घेर लिया । इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे किं ‘मार्गव वायु रूप, अतएव आपोमय महद्ब्रह्म के अंश-भूत होने से हम ‘महद्ब्रह्म’-नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है । कुछ एक विजातीय धर्म, एवं कुछ एक सजातीय धर्मों के

सगिमश्रण से ही शुक्र सृष्टि का कारण बनता है। कारण इन्हीं धर्मों के संसर्ग से शुक्र में कायत्व, ब्रणत्व, स्नाविरत्व, अशुद्धत्व, पाप्मविद्धत्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का संघात काप्रभाव है, विजातीय पदार्थों का योग होजाना ही ब्रणत्व है, इन धर्मों का सम्बन्ध कराने वाला सूत्र स्नायु है। इन तीनों भावों से वह अपने शुद्धरूप से विकृतारस्या में आता हुआ पाप्मविद्ध बनजाता है। जबतक शुक्र में उक्त चारों भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमर्यादा से बाहर की वस्तु है। अर्थात्संस्था में आप शुक्र के उक्त चारों धर्मों का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-सौर तीनों सजातीय अग्नियों की (शुक्र अग्निरूप है, इसलिए अग्नि सजातीय है) इसी शुक्र पर चिति हो रही है। यह अग्निचिति ही 'काय' (शरीर) है। काय की मूलभित्ति शुक्र ही है। शुक्र ही आधान के अनन्तर गर्भरूप में परिणत होकर क्रमशः वृद्धिगत होकर शरीररूप में परिणत होता है। इस लिए हम शुक्र को 'संज्ञाय' कहने के लिए तय्यार हैं। विजातीयसोम का भी इस अग्निरूप शुक्र के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में आहुत शुक्र 'सुत' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'सुत' कहलाता है। यह विजातीयभाव ही शुक्र का ब्रणत्व है। सोम स्नेह तत्व है। स्नेहन द्रव्य में दूसरे के साथ विपकने का खामासिक धर्म है। जो सूत्र यह कर्म करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही सूत्र विज्ञानभाषा में—'अद्दा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तननभास के कारण अग्न्य को 'तनय' 'सन्तान' आदि नामों से न्यबद्ध किया जाता है। इसी सूत्र के आधार पर मृतप्राणी के शुक्ररूप महानात्मा के साथ अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी के द्वारा पुत्र पितृलोकस्थ पितर को पिण्डदान द्वारा वृक्ष किया करता है। 'सापिण्डय साप्नपौरुषम्' 'सपिण्डता दुःपुरुष सप्तमे विनिवर्त्तते' के अनुसार सातवें अक्षर पर यह एक सूत्रधारा विच्छिन्न होजाती है। इसी अद्दासूत्र के सम्बन्ध से यह शुक्र स्नायुयुक्त बनता हुआ 'स्नाविर' कहलाने लगता है। चौथी है

संस्काररूपा अविद्या । इसी को 'पूर्वपद्मा' भी कह सकते हैं । इससे यह युक्त विद्ध रहता है । अविद्या पाप्मा (मल) है । इस अविद्यारूप पाप्मा से विद्ध होकर ही यह युक्त प्रजोत्पत्ति का कारण बना है । जबतक कामना पूर्वक कर्म किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासंस्कार से युक्त रहता है, एवं तभीतक प्राणी युक्त के चक्र से विमुक्त नहीं होता । ऋषि कहते हैं कि यद्यपि युक्त कायत्वादि धर्मों से युक्त है, युक्त का युक्तपना कायत्वादि आगन्तुक धर्मों से ही चरितार्थ होता है, तथापि इसकी जो मौलिक-प्रारम्भिक प्रातिविक्र अवस्था है, वह कायत्वादि चारों धर्मों से रहित है । जिन समय सृष्टिकामुक प्रजापति की (सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की) कामना से उस शुद्ध युक्त को मातरिखा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है । अभी न उसमें सजातीय सम्बन्ध है, न विजातीयभाव का सम्बन्ध है, न मूल-भाव का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही लेन है । यद्यपि मातरिखा की कृपा से आगे जाकर ही वह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अवरय ही युक्त होने वाला है, परन्तु आरम्भदश में तो वह सर्वथा अकाय-अव्रण-अन्नाविर-अपापविद्ध-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है । मातरिखा के सम्बन्ध से कायत्वादि धर्मों से क्यों युक्त होजाता है ? इसका उत्तर मातरिखा से पूछिए । मातरिखा कवि है, परिभृ है, स्वयम्भू है । मातरिखा वायु को हमन मार्गिव (भृगु) वायु कहा है । भृगु कवि है, अतएव मार्गिव मातरिखा को कवि कहा गया है । जन्ममरण-धर्म से आक्रान्त विविधभावमय विश्व इसी मातरिखा का काव्य (कृति) है । यदि रेतोधा मातरिखा त्रयमें (योनिमें) आप (रेत) का आधान न करता तो निरयका निर्माण असंभव था । कवि मातरिखा के द्वारा होने वाले रेत के आधान से ही मर्त्य निरय की उत्पत्ति हुई है । कब तक जो मनुष्य हंसता खेलता था, वह आज मरण । अब त्रैलोक्य में उस स्वरूप का पता नहीं है । यही उस कवि का महाकाव्य है । वही संचर काल में उत्पत्ति का अधिष्ठाता बनता है, प्रति-संचरकाल में वही विनाश का अधिष्ठाता बन जाता है । मातरिखा कवि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

विधुं दद्राणं समने वहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य परय क्राड्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥

(ऋक्सं० १० । ५५ । ५ ।) ।

श्रुतत्व स्नेहधर्मा है । स्नेह ही संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का कारण है । यह स्नेहधर्म ही मार्गवमातरिश्वा कवि की कवित्शक्ति है । इसी स्नेहधर्म से चित्तिभाव का उदय होता है । चित्तिसमष्टि ही 'काय' है । शुक का चित्तिलक्षण कायरूप में परिणत होजाना, मातरिश्वा की कवित्शक्ति (स्नेहगुण) की ही महिमा है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना ही विजातीय-भाव के आगमन का कारण है । इस कामना का उदय मन से होता है । मन की कामना ही 'मनीषा' है । मनीषामाव से विजातीय परिमर्शों का संग्रह होता है । विजातीय परिमर्श ही 'व्रण' है । मार्गव मातरिश्वा यद्यपि वायुरूप होने से स्वयं क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया विना मन की कामना के सम्भव नहीं है । सुतरां मातरिश्वा में अन्यय मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है । इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है । यह मनीषीभाव ही कामनाओं का प्रवर्तक बनता हुआ, विजातीयधर्मों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक के व्रणभाव का कारण बनता है । अधिच-मातरिश्वा का सारा ज्ञान एक ज्ञानमयी कृति है । बड़े नियम से सृष्टिपूर्वों का निर्माण हुआ है । सृष्टि मनमानी नहीं है । अथि तु जैसे एक बुद्धिमान शिल्पी बुद्धिपूर्वक मूर्तियों का निर्माण करता है, एवमेव यह भी अन्यय मन से युक्त बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तरूप) विश्व का निर्माण करता है । जहा मातरिश्वा कवि (सृष्टिकर्ता) है, वहाँ यह बुद्धिमान् भी है । 'वायुर्वं गौतम! तवमूत्रम्' (शत० १४ । ६ । ७ । ६) के अनुसार मातरिश्वा सूत्रमान का भी प्रवर्तक है । इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक में सूत्रमान के उदय का कारण बनता है । सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होना हुआ 'परिम्' (परि-चारों ओर-भू-व्याप्त रहनेवाला) है । इस वत् यह परिम्भाव ही शुक के स्थाविरत्न का कारण है । व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, विना केन्द्र कामभव

मन का उदय नहीं होना, बिना कास्मय मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के विषय का आगमन नहीं होता, बिना विषय के लेप नहीं होता। लेप का कारण अशनाया है। अतएव अशनाया (भूख) को 'पाप्मा' कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

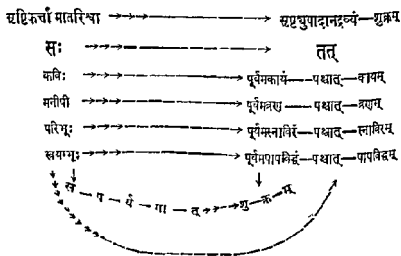
“नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्—मृत्युर्नैवेदमाद्यतमासीत्—अशनाया।

अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुल्ल-आत्मन्वी स्यात्” इति

(शत० १०।६।२।१।)

इस अशनाया का प्रभव मन है। मन की प्रतिष्ठा हृदय है। हृदय सीमाभाव पर निर्भर है। यह सीमाभाव मातरिराग पर निर्भर है। मातरिराग ही उस शुक को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डरीकरूप में परिणत करता है। इसी सीमा से स्वयम्भू 'दृचौजा' (गोलाकार) बनता है—देखिए मनु० १।अ०।६ श्लो०) “स एव वायुः प्रजापतिः (मातरिश्वाद्यो बराह-प्रजापतिः) अस्मिन्नेष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्त पर्यक्तः” (शत० ८।३।४।१।२।) के अनुसार यह मातरिश्वा ही मायासीमातक व्याप्त-शुक के एक प्रदेश को चारों ओर से घेरकर इसे पुण्डरीक-स्वयम्भूरूप में परिणत करता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही स्वयम्भूभाव सीमाभाव से सकेन्द्र, अतएव समनस्क बनता हुआ अशनीपारूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है। एव इस स्वयम्भूभाव के उदय का कारण मातरिराग है, अतः तास्मिन्नेष्टुभ्याप से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस प्रकार अपने कवि-मनीषी-परिभू-स्वयम्भू इन चार स्वरूपधर्मों से युक्त यह मातरिराग, प्रथमास्थापक अतएव अकाय-अन्नया अस्नाविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुक को ऊपरः काय-न्नया-स्नाविर-पापविद्ध जना डालता है। कविधर्म, काय-ज्ञा, मनीषीधर्म व्रण-ज्ञा, परिभूधर्म स्नाविर-ज्ञा, एव स्वयम्भूभाव पाप्मा का प्रवर्तक है। चतुर्थमूर्ति-मातरिराग शुक को उक्त चारों धर्मों से युक्त करने के परचाद-ही, दूसरे शब्दों में कायत्वादि से युक्त शुक से ही यह वैचारिक विरतिनिर्माण में समर्थ होता है।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अर्थरूप शुक विश्व का उत्पादन बनता हुआ भी जड़ है, क्रियाशून्य है। क्रिया सदागति मतरिरवा वायु का ही धर्म है। अतः 'वायातय्यतो' श्रुत्यादि रूप से श्रुतिनें मतरिरवा को ही सृष्टिकर्ता बतलाया है। मतरिरवा वायु ही अपने स्नेहनरूप कविभाज से शुक रूप अर्थ को कार्यरूप में परिणत करता हुआ, मन से ज्ञानयुक्त बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुक को ब्रह्मरूप में परिणत करता हुआ, परिभूमाव से शुक को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वप्नभूमाव से अशनाया द्वारा शुक को पापनिह्न बनाता हुआ उक्त लक्षण अर्थमूर्ति शुक से सदा के लिए अर्थों का (विश्वपदार्थों का) यथापूर्व निर्माण कर रहा है—“वायातय्यतोऽर्थाद् व्यधाच्छारवतीभ्यः समाभ्यः”



जैसा (पया) धाज धाप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में मतरिश्वा ने वैसा (पया) ही पनाया था, एवं 'यथापूर्वकल्पयत्' इस सिद्धांत के अनुसार सदा के लिये (शाश्वतीभ्य—समाभ्य) यह ऐसा ही बनाता रहैगा। उस मनीषी मतरिश्वा की निर्माण पद्धति सदा के लिए निर्यात है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, भूमि का

कान्तिवृत्त पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत भाव पहिले थे वे ही आज हैं, एवं भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे। जिस परिस्थिति के लिए लोकव्यवहार में—“बढ़ काम तो सालों साल ऐसा ही होता रहता है—सदा एकसार होता रहता है” यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए ‘याथातथ्यतो०’ इत्यादि कहा गया है। हम सृष्टिप्रक्रिया का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। श्रुति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप बतलाना है। इसीलिए स्थूलारुन्धति न्याय से ‘तथा यथा’ यह क्रम न रखकर ‘यथा तथा’ यह क्रम रखा गया है। श्रुति कहती है कि जैसा तुम आज देख रहे हो, सदा के लिए मातरिशानें वैसा ही बनाया है, वर्तमान में वैसा ही बना रहा है, एवं भविष्य में वैसा ही बनाता रहेगा। वर्तमान परिस्थिति तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—भविष्य—स्थिति का अनुमान लग सकते हो।

मातरिश्रावच्छिन्न शुक्र अधिदैवत में ‘परमेष्ठी’ कहलाता है, अध्यात्म में यही ‘महानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृतिरूप सत्व प्रसादर की अप्कला की प्रधानता है। ब्रह्मसत्य के सम्बन्ध से ही हमने इसे प्रकरण विभाग में ‘ब्रह्मसत्यात्तर महान्’ नाम से व्यवहृत किया है। भूपिण्ड के दर्शपूर्णमास से इस महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चान्द्र दर्शपूर्ण-से प्रकृतिभाव का, सौर दर्शपूर्णमास से ब्रह्मकृतिभाव का उदय होता है। पार्थिवभाग महत् के तमोगुण का प्रवर्तक है, सौरभाग रजोगुण का प्रवर्तक है, एवं स्वापम्भुवभाग सत्वगुण का प्रवर्तक है। ज्ञानप्रधान स्वयम्भू ब्रह्मा सत्वमूर्ति है, क्रियाप्रधान सौरविष्णु रजोमूर्ति है, अर्थप्रधान पार्थिव भूतेशशिव तमोमूर्ति है। इस त्रिमूर्ति के सम्बन्ध से महद्ब्रह्म त्रैगुण्य से युक्त होनाता है, जैसा कि ‘उपनिषद्बिज्ञानभाष्यशुभिका’ के ‘क्या उपनिषद् वेद है’

१ यही महान् = १००००००० वैश्वदेवों का प्रवर्तक है। यही ब्रह्म का परमात्म अन्ततम अपिकारी है। इसमें इस विषय में बहुत कुछ वस्तुत्व है। परन्तु विस्तारमें से उपेक्षा की जाती है। आगे की उपनिषदों में, एवं विशेषतः आन्दाविज्ञान में इन विषयों का विषाद विवेचन हुआ है।

इस प्रकार में विस्तार से बतलाया जा चुका है। महान् को हमने आपोमय कहा है। यह आपोमय—आप—वायु—सोम—अग्नि—वायु—आदिस. भेद से पट्कल है। इनमें आप के साथ आकृतिभाव का, वायु (भर्गवायु) के साथ प्रकृतिभाव का, सोम के साथ अहंकृतिभाव का, अग्नि के साथ तमोगुण का, वायु (रुद्रवायु) के साथ रजोगुण का, एवं आदिस. के साथ सत्वगुण का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह पट्कल महान्—पद्गुण—बनकर पाट्कौशिक विश्व का प्रभव—प्रतिष्ठा—परायण बन रहा है।

- १-१-पार्थिवदर्शपूर्णमासाभ्यां ————— आकृतिभावोदयः
- २-२-चान्द्रदर्शपूर्णमासाभ्यां ————— प्रकृतिभावोदयः
- ३-३-सौरदर्शपूर्णमासाभ्यां ————— अहंकृतिभावोदयः
- ४-१-स्वायम्भुवदानमूर्तिव्रतशोभा ————— सत्वगुणोदयः
- ५-२-सौरक्रियागूर्तिविष्णुना ————— रजोगुणोदयः
- ६-३-पार्थिवार्थमूर्तिपशुपतिना ————— तमोगुणोदयः

पद्गुणको महान्

आपोमयो महानात्मा

- भृगुः { १-१-आपः ————— आकृतिमयः
- { २-२-वायुः ————— प्रकृतिमयः
- { ३-३-सोमः ————— अहंकृतिमयः
- { ४-१-अग्निः ————— तमोमयः
- { ५-२-वायुः ————— रजोमयः
- { ६-३-आदित्यः ————— सत्वमयः

“आपो भृगवज्जिरोरूपमापो भृगवज्जिरोमयम्”

प्रत्येक सृष्टि में योनि-रेत-रेतोधा तीन भावों का सम्बन्ध नित्य अपेक्षित है । सुप्रसिद्ध प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद-इन पांचों प्रकृतियों का स्मरण कीजिए । यही पांचों क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचों पर्वों के 'रेत' हैं । व्यापक प्राण योनि था, व्यापक प्राण रेत था, व्यापक मातरिश्वा रेतोधा था, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय हुआ । परिच्छिन्नप्राण योनि था, परिच्छिन्नप्राण रेत था, परिच्छिन्न मातरिश्वा रेतोधा था, इससे परिच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राणमय पुण्डीर स्वयम्भू योनि बना, आपतत्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोधा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ । अन्न आपोमय परमेष्ठी योनि बनेगा, तीसरा वाक्त्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे सूर्य उत्पन्न होगा । वाक्मय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे भूपिण्ड उत्पन्न होगा । अन्नादमय भूपिण्ड योनि-बनेगा, अन्न रेत बनेगा, एवं वही मातरिश्वा रेतोधा बनेगा । इससे चन्द्रमा उत्पन्न होगा । यहां आकर सृष्टिक्रम समाप्त होजायगा । इस प्रकार सृष्टिक्रम में रेतोधा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है । हीं सृष्टिपर्वमेद से उसके नाग-रूप अक्षरप ही बदल जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में वराहस्वरूपनिर्वचन में बतलाया जा चुका है । पूर्व पूर्व प्रकृति (प्राणादि) उत्तर उत्तर की प्रकृति (अवादि) की योनि बनती है, उत्तर-उत्तर की प्रकृतिएं (अवादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं । अव्यक्तात्माधिकरण में व्यापक स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डीरस्वयम्भू, एवं परमेष्ठी की उत्पत्ति बतलाई गई है । इस आपोमय महान् को योनि (ममयोनिर्महद्ब्रह्म) समझिए, तीसरे वाक्त्व को रेत समझिए, यज्ञवराह ति मातरिश्वा को रेतोधा समझिए । इस वाग्रेत के महद्योनि में आधान होने से विज्ञानघन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान् सूर्यनारायण का जन्म होगा । आगे का अधिकरण इसी जन्मोत्सव के लिए हमारे विज्ञानात्मा (बुद्धि) को प्रेरित कर रहा है ।

इति-प्राकृतात्माधिकरणो

शुक्रात्मनिरूपणम्

— प्राकृतात्माधिकरणे —

महद्रात्माधिकरणं समाप्तम्

२



पूर्णमदः →→→→→

पूर्णमितम्

३-सूर्यः →→→→→

विज्ञानवैभव

१-विज्ञानात्मा

अविदेवतम् →→→→→

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्यः विज्ञानात्मा

३

सूर्यः ←←←←← काक् →→→→→ विज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणां तृतीयम्)

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्नः—विद्या-अविद्यामयात्मा

क्षिप्वात्मा

- १—अन्वं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां स्ताः ॥
- २—अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचत्तिरे ॥
- ३—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषद् ६, १०, ११, मन्त्र)





विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

- १— एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एनाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽपनाय ॥ (खे० ६।१५) ।
- २— स विधकृद्विद्विदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविधः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ (खेता० ६।१६) ।
- ३— स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोता ।
य ईशेऽस्य जगतो निलमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ (खेता० ६।१७) ।
- ४— यदा तमस्तज दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं ब्रह्मा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (खेता० ४।१८) ।
- ५— क्षिरण्यमर्षः समवर्त्तताम्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं घामुतेमां धरमै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुः) ।
- ६— यत्क्षैरपचां प्रथमः पथस्ततो ततः सूर्यो ब्रतपा वेन आजनि ।
आगा आजदुशना काव्यं सचा यमस्य जातममृत यजागहे ॥ (ऋक्. १।८३।५) ।
("तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्")
यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्
- ७— अमयं तित्तीर्षतां पार नाचिकेतं शक्रेमहि ॥ (ऋ० १।३२।१) ।
विज्ञानात्मा सह देवैरथ सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
- ८— तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वगोऽविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथा कालं चाद्भुतयो ह्याददायन् ।
- ९— तन्नपन्थेताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽविगासः ॥ (मुण्ड० १।२।५) ।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽग्ने हृद्यं सन्निधाय ।
- १०— तद्विज्ञानन परिपरयन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ (मु० २.२।७) ।
हिरण्ये परे क्रोत्रे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मनिदो विदुः ॥ (मु० २।२।२) ।
- ११— हंस शुचिपद्मसुस्तरिद्वसद्भोता वेदिपदविधिदुरोणसत् ।
द्वपद्मरसद्वत्सद्भोमसदञ्जा गोत्रा ऋतजा अदिजा ऋतं बृहत् ॥ (क० २।५।२) ।

॥ श्रीः ॥

तमेव धीरो विज्ञाय मर्ज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्ब्रह्मच्छब्दान् वाचो विंग्लापनं हि तत् ॥

नीहारहारघनसारसुधाकराभां कल्पाणदां कनकचम्पकदामभृपाप ।

उत्तङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूशै ॥



व्यक्त प्राण से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूस्वरूप योनि में सुब्रह्म रूप आप-रेत का आदिवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान होने से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए । अव्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होने से सत्य था, व्यक्त परमेष्ठी अग्निप्रधान होने से ऋत है—“ऋतमेव परमेष्ठी” । फल-रूप यही महद्ब्रह्म ‘अहं’ भाव की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर—‘ब्रह्मस्मिं

अथमजा ऋतस्य पूर्व-देवेभ्यः’ यह कहा जाता है । इस ऋतरूप महद्योनि में तीसरे वाक् नाम के रेत की यज्ञवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान हुआ । इस वाक् रेत के आधान से संवत्सर-का जन्म हुआ । यही संवत्सरान्नि आगे जाकर ‘सूर्य’ रूप में परिणत हुआ । संवत्सरान्नि सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र ‘सरस्वान्’ नाम से प्रसिद्ध है) विचरण करने वाला एक सुपर्ण (सुनहरे पंखवाला पक्षी) है । दक्षिणायन इसका दक्षिणपक्ष है, उत्तरायण इसका उत्तरपक्ष है, विषुवद्बृहत् इसका आत्मा है । चन्द्रमा; पृथिवी, चान्द्रजीव, पार्थिवजीव यह चारों सुपर्ण इस संवत्सर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं; अतएव इसे ‘महासुपर्ण’ कहा जाता है । निखिल संवत्सरान्नि इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

“अथ ह वाऽप महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः । तस्य यान्युत्तरस्ताद्विषुवनः

पिपंसासानुपयन्ति-सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् पङ्कपरिष्ठात् सोऽन्यतरः,

आत्मा विषुवान्” (शत० मा० १२।२।१।७) ।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः प्रथमा

- १—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदपिर्होता न्यपीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरौ आविवेश ॥
- २—किंश्चिदासीदविष्टानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षुः ॥
- ३—विश्वतरचक्षुरुत् विश्वतो मुखो विश्वतो वाहुरुत् विश्वतस्पात् ।
स चाहुभ्या घमति सपतत्रैश्यार्वा भूमिं जनयन् देव एकः ॥
- ४—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्तुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषे स्वधावः स्वय यजस्व तन्नं वृषानः ॥
(यजु स० १७अ० । १७ १०-१६-२०-२१-२२-२३-२४-मन्त्र) ।

२—सूर्यमूलासृष्टिर्द्वितीया

- १—हिरण्यगर्भः समवर्चताप्रे भृतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं धामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु १३४) ।
- २—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आपाद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुपश्च ॥ (यजुः १३४) ।
- ३—येन द्यौरग्रा पृथिवी च हृद्वा येन स्वः स्तभित येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
- ४—मजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता वभूय ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वय स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋक् स० १० म । १६१ सू०) ।

३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया

१—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादः ।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिप्रदशाहुलम् ॥ (यजुः ३१।१) ।

२—अदितिर्द्यौरतितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विषे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋ. १।८६।०)

३—“इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी” (तै० ब्रा० १।७।६।७) ।

४—“इयं उ वाऽएषां लोकानां प्रथमासृज्यत” (सत० ६।५।३।१) ।

५—“इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्वं जगत्” (गत० ६।२।१।२६) ।

६—“पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः)” (ज० उ० १।१० २) ।

—०.०.०—

इन तीनों सृष्टिविद्याओं का उपनिषदों में क्रमशः ओङ्कारविद्या (स्व० विद्या), उद्गीथविद्या (सूर्यविद्या), प्रणवविद्या (पृ० विद्या) इन नामों से निरूपण हुआ है । स्वयम्भू से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अवसान मानना ओङ्कारविद्या है, सूर्य को आरम्भ स्थान मानकर तब परमेष्ठी स्वयम्भू पर, इधर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवसान मानना उद्गीथविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू पर अवसान मानना प्रणवविद्या है । स्वयम्भू विराट्पुरुष का मस्तक है, अतएव इस विद्या को 'गिरोमूलाविद्या' कहना चाहिए । सूर्य विराट्पुरुष का हृदय है, अतः इसे 'हृदयमूलाविद्या' समझना चाहिए । एवं पृथिवी पाद स्थानीय है, अतः इसे 'पादमूलासृष्टिविद्या' कहना चाहिए ।

प्राणने भी तर्क का आधार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिविद्या का उपसंहार किया है । “प्राणा मे सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, साग विश्व प्राण है” यह उक्त

• उक्तप्रमाण के अन्वयानुसार में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—(देवी-८३० ४० (४०।१२२०।१४०) ।

का एक मत है। "विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है" यह दूसरा मत है। एवं—"महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का जन्म स्थिति भंग हुआ है, सारा विश्व महेश्वर है" यह तीसरा मत है। आप ब्रह्मपुराण को अथ से इति तक देख जाइए, वहां विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवर्तक बतलाया गया है। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें अथ से इति तक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है। शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है। सृष्टिवाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज उक्त भिन्न भिन्न पुराणों के प्रमाणों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुष्ठासुष्टि को ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। स्वात्मबुध ब्रह्मा, ज्ञानमूर्ति है, सौर विष्णु क्रियामूर्ति है, पार्ष्व शिव अर्थमूर्ति है। एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं। त्रिमूर्ति की समष्टि ही प्रधान है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से कितने सच्चा कहा जाय ! सत्य एक हो सकता है। उधर तीनों ही मत वेदाभिमत होने से मान्य हैं। परन्तु मान्य होते हुए भी संदेह के जनक अर्थ्य हैं। इस संदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। संदेहरूप प्राणान्तकञ्जर को निवृत्त करना चिकित्सा-शास्त्र का ही कार्य है।

रज-शुक्र के मिथुनभाव से गर्भस्थिति होती है। आगे जाकर गर्भ क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावयव संपन्न बन जाता है। गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है कि गर्भ में पहिले मस्तक बनता है ? अथवा पहिले हृदय का विकास होता है ? अथवा पहिले नाभि का उदय होता है ? किंवा पहिले पकाशयगुद का आविर्भाव होता है ? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में भिषग्वरों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले पुच्छिय गर्भ का शिर बनता है, अनन्तर अन्य अवयवों का विकास होता है। "हृदय ही (हृदयस्य प्रधान मन ही) सब इन्द्रियों का आलम्बन है। जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

१—"संशयाश्मा चिन्त्यति" (गीता)।

तत्र तक चक्षु, श्रोत्र, प्रणालि इन्द्रियों का विकास कल्पमपि संभव नहीं है” इस कारण को आभे रखते हुए काङ्क्षायन वारिहीक नाम के वैद्य गर्भ में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। भद्रकाम्य के मतानुसार नाभि पहिला भाव है। नाभि द्वारा ही मातृमुक्त रस से गर्भ की पुष्टि होती है। भद्रशौनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन वनता हुआ पकाशयमुद ही पहिले विकसित होता है। बडिश के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। वैदेह जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होना है। मरीचि महर्षि के पुत्र अतएव मारीचि, किं वा मारीच नाम से प्रसिद्ध महर्षि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष विषय है। गर्भ का कौनसा अङ्ग पहिले वनता है ? यह इन्द्रियातीत विषय है, अतः इसके सम्बन्ध में—“इदमित्य-मेव” इस प्रकार निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह विषय ही अविन्य है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सारे अङ्ग एक साथ वनते हैं। सभी अवयव परस्पर में अन्योऽन्याश्रित हैं। अतः इनका युगपत् ही सम्भव (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पद मानती हुई चरकसंहिता कहती है—

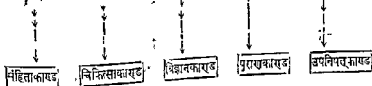
“सर्वाङ्गनिर्गच्छिर्गुगपत्—इति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं—सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वाभिनिर्गच्छिरेषाम्। तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्गच्छिः। सर्वभावा ह्यन्योऽन्यमतिवृद्धाः, तस्माद्यथाभूतं दर्शनं साधु” (चरक संः शरीर-स्थान ६ शरीरविषयाध्याय—१२ सं०)

इस प्रकार आयुर्वेद के मतानुसार आन्व्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अवयव एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि सूक्ष्मरूपानुसार कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले मस्तरु का ही विकास मानना पड़ता है। बीजरूप से सभी अवयव समानकालीन होते हुए भी अक्षुरदशा में पहिले मस्तरु की ही प्रधानता है। इसी प्रकार गार्कटाक्ष्य महर्षि पहिले उदर का, अरुण के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ० धा० २।१।४।)। इस प्रकार श्रुतियों में भी मत-याद है। तथापि यहां सृष्टिविकासक्रममूलक मस्तरुोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, जैसा कि श्रुति पढ़ती है—

“शिरो वा अये सम्भवतः सम्भवति । चतुर्धा विहितं-
 वै शिरः—प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्” (तां० ब्रा० २२।६।४) ।
 “शिरो हि मयमं जायमानस्य जायते” (श्व० ८।२।४।२८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एवं “शीर्षतो वाऽग्रे-जायमानो जायते” (श्व० ३।४।१।१६) के अनुसार प्रसवकाल में भी पहिले मस्तक ही अग्रणी बनता है । शिर सचमुच सृष्टिक्रम में अग्रणी है । तभी तो जरा का प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—“यस्माच्छीर्षयेवाग्रे पलितो भवति” (श्व० ११।४।१।६) । इसी प्रयमभाव के कारण प्रपमश्रेणि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय (मुख्य) माना जाता है । गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही जीवन की प्रतिष्ठा है । दृष्टिक्रम में पैरों की प्रधानता है । यही क्रम अर्थादेवत में समझिए । बीजरूप से प्राण-आप वागादि पाचों प्रकृतिएं समकालीन हैं । पान्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय स्वप्भू का विकास होता है । इस सृष्टि-क्रम की अपेक्षा से स्वापम्भुव ब्रह्मा का ही सर्वप्रधानत्व है । ब्रह्मा ज्ञानप्रधान है । ज्ञान-अर्थ-क्रिय तीनों अन्धोऽन्धप्रित हैं, तथापि प्राथम्य ज्ञान का ही मानना पड़ता है । विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है । सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य भाव का उदय होता है । त्रिगुण-भावापन्न महद्ब्रह्म जवतक है, तवतक सृष्टि है, जब तक सूर्य है, तभी तक गुणोदय है । फलतः सूर्य का विश्वस्थितिस्थापकत्व भलीभांति सिद्ध होना है । इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर विष्णु का ही साम्राज्य है । हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव महेश्वर का ही साम्राज्य है । ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थितिक्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविधाओं में कोई विरोध नहीं है ।

- | | | |
|--------------------------------|-------------------|--|
| १-स्वप्भूमूलासृष्टिः—शिरोमूला— | सृष्टिक्रमप्रधाना | ब्रह्मविद्या (उत्पत्तिमूला ओङ्कारविद्या) |
| २-सूर्यमूलासृष्टिः—हृदयमूला— | स्थितिक्रमप्रधाना | विष्णुविद्या (स्थितिमूला—उद्गीथविद्या) |
| ३-पृथिवीमूलासृष्टिः—पादमूला— | दृष्टिक्रमप्रधाना | महेशविद्या (नाशमूला—प्रलयविद्या) |



प्रकृत प्रकरण उक्त तीनों सृष्टिधाराओं में से हिरण्यगर्भ विद्या नाम से व्यवहृत किए जाने योग्य सूर्यविद्या का ही निरूपण करता है। उसी का उपबृंहण करना प्रकृत प्रकरणार्थ है। विद्या-रूपमय अणुपर्यय पुरुष विश्व के पाचों पदों में व्याप्त है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के सभी पदार्थों में ज्ञान एव क्रिया (कर्म) की उपलब्धि होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतनाया जा चुका है। अणुपर्यय का त्रिधा भाग पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। विज्ञोपहित विद्या-कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक यही ब्रह्म-कर्म ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी विश्व के इन पाचों पदों में (प्रत्येक में) ज्ञान-क्रियारूप से अणुपर्यय के विद्या-कर्म-दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विकासभूमि अथवा सूर्य ही माना जाता है। सूर्य विश्व का कन्द्र है, इतर पद परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में प्रबन्ध के ज्ञानरूप विद्याभाग का, एव कर्मरूप अधिद्याभाग का पूर्ण विकास सिद्ध होना है। यही कारण है कि विश्व के और किसी पद के लिए 'त्रिधा चाधिद्या च यस्तद्देदोभय सह' यह न कह कर केवल सूर्य को ही विद्या-अधिद्यामक गाना गया है।

अथि च 'सद्यज्ञा प्रजासृष्ट्या पुरोयाच प्रजापति' (गीता ३।१०) इस सिद्धांत के अनुसार यज्ञ से ही विश्वप्रजा का निर्माण होना है। यह यज्ञ 'सुखा' 'चिखा' भेद से दो भागों में विभक्त है। यही दोनों यज्ञ सवन-चयन नामों से प्रसिद्ध हैं। सुखायज्ञ सोमपचान है, सोम का ही सवन होता है। चिखायज्ञ अग्निपचान है, अग्नि का ही चयन होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अहोरात्ररूप अग्निहोत्र, क्रष्ण-शुक्रनपदरूप दर्शपूर्ण-स, ग्रीष्म-नर्पा-शीतर्तुर्नप चतुर्मास्य, उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पशुदन्व, संवत्सर-रूप ज्योतिष्टोम (सोमपाग-किराप्रदपाग) इस क्रम से सोमपच पांचभागों में विभक्त होना

है। इन पाँच अवयवों के कारण ही सुत्यायज्ञ को 'पाङ्को वै यज्ञः' (शत. १।१।३।६) के अनु-
सार पाङ्क (पञ्चावयव) कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से आप्तन वृद्धि नहीं
होती, अपि तु स्थिति की रक्षामात्र होती है। इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्क
सुत्यायज्ञ संपन्न होता है। निगरण किंवा विलयन इस सोमाहुतिरूप सुत्यायज्ञ किंवा सवन-
यज्ञ का स्वाभाविक धर्म है। अग्नि में सोम डाल दीजिए, अग्नि उसे 'निगल' लायगा, पी जा-
यगा, हुत सोम का अग्नि में विलयन होजायगा, अब सोम कहीं ढूँढे से भी नहीं मिलेगा।
दूसरा है चित्सायज्ञ। अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्नियज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता
है। अग्नि अग्नि का निगरण (हजम) नहीं कर सकता। अतएव इस यज्ञ में आप्तन की वृद्धि
होती है। यह अग्नियज्ञ भी अग्नि-वापु-आदिस-दो साध्य प्राणाग्नि के मेद से पाँच ही भागों
में विभक्त है। अग्निचिति से पृथिवी का, वायुचिति से अन्तरिक्ष का, आदिसचिति से
दुलोक का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष की सन्धि में, अन्तरिक्ष एवं दुलोक
की सन्धि में दो अग्नि और चित रहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि अवरुपा मेद से पञ्चचि-
तिका बन जाता है। इस चितियज्ञ से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एवं उत्पन्न वस्तु
की स्वरूप सचा सुत्यायज्ञ से होती है। प्रकाशान्तर से यों समक्षिप कि उत्पत्ति सोमयज्ञ से
होती है, पुष्टि अग्नियज्ञ से होती है, स्थिति सोमयज्ञ से होती है। ध्यावन्त में सोम है, मध्य में
अग्नि है। सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर परमेष्ठ्य सोम है, इस ओर चान्द्र सोम है। अन्त्यात्मसंस्था
में इस स्थिति का प्रत्यक्ष कारण। शुक्र (रेत) सोम है, शोणित (योनिरूप-आर्चव-रज) अग्नि
है। इस रज्जरूप योनि में धीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है। इसप्रकार
उत्पत्तिकाल में सोमयज्ञ की प्रधानता है। आगे जाकर क्रमशः गर्भावयव बढ़ने लगते हैं,
यही अग्निचिति है। अस्थि-मांसादि की चिति ही अग्निचिति है, यही वृद्धि का कारण है।
अन्नरूप-सोमाहुति से इस चित्सायज्ञमय शरीरायज्ञ की स्थिति रहती है। प्रातः-सायं होने वाले
अन्नाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयज्ञ से शरीर स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी चयन-
रहस्य को लक्ष्य में रख कर वाजिश्रुति कहती है—

“तत्र पञ्च चितीश्चिनोति, एताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोति, यच्चिनोति-
तस्माच्चितयः” (शत० ६।१।२।१७)। “पञ्चतन्वो व्यस्रपन्त-
लोम, त्वष्ट, मांस, मसिष्ठ, मज्जा । ता एवैता पञ्च चितयः” (शत०-
६।१।२।१७)। “पञ्च ह्येते अग्नयो यदेताश्चितयः” (शत० ६।-
२।१।१६।)।

उक्त दोनों यज्ञों में सुत्या, किंग सोमयज्ञ का अविष्टाता आपोमय परमेष्ठी है, एवं विला किंग चयनयज्ञ का अविष्टाता वाङ्मय 'सूर्य' है । परमेष्ठी सोमप्रधान है, सूर्य अग्नि-
प्रधान है । सुत्या सोमप्रधान है, चिया अग्निप्रधान है । उत्पत्ति का मूल आश्रय जहाँ परमेष्ठी-
यज्ञ (सोमयज्ञ) है, वहाँ विकास का मूलप्रवर्तक सूर्ययज्ञ (अग्नियज्ञ) है । जब तक उत्पत्ति
यस्तु चि यरूप में परिणत नहीं होनाती, तबतक उस की उत्पत्ति अनुपत्ति के समान है । पर-
मेष्ठी की उत्पादकशक्ति का विकासस्थान सूर्य है । महत्परमेष्ठी ही गर्भधारण करने वाली योनि
है, परन्तु इस गर्भ का प्रजननरूप से विकास सौरसस्या में ही होता है । इस से यह मान लेना
पड़ता है कि सूर्य से ऊपर उत्पादक योनिरूप महद्ब्रह्म के रहने पर भी वित्याग्नियज्ञ के अभाव
से प्रजनन कर्म का नितात अमान है । भौतिक मर्य प्रजा की उत्पत्ति का मूल उपक्रम सूर्य
ही है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर चयनश्रुति कहती है—

“धौर्वाऽ उच्यते स्वयमातृश्रुताः, आदित्य उच्यते विश्वज्योतिः ।
भर्वाचीन तावद्विधादित्याद्य-ऋत्न दधाति, तस्मादर्वाचीनमेयात् ऋत्न
व-मयो प्रजननम् । एतदर्वाचीनं तावद्विधादित्याद्य प्रजननं
दधाति, तस्मादर्वाचीनमेयातः प्रजायते । स्थित (समाप्त) इवातः
पराक प्रजननम् । यावन्नो देव सनामे देवास्तावन्तो देवाः”

(शत० मा० ८ वां । ७ अ । १ मा. २ क.) ।

प्रजाश्रुति की उत्पत्ति समय (मौसम) पर होती है । समय का ही नाम ऋतु है । तत्सद्
ऋतु भिद्येणों में ही तत्त्वभिद्येण पदार्थ उत्पन्न होने हैं । ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है । संवत्सर

की मूलप्रतिष्ठा सूर्य है। सुतां संवत्सरात्मक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध होना है। चतुर्दशविध भूतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि, आगे जाकर स्पष्ट ही जायगा। सूर्य से ऊपर ऋतुओं का अभाव है, अतएव ऋतुमूलक प्रजनन कर्म का भी वहां अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन नवीन पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह जन्म-मरणचक्र नहीं है। वहां तो सृष्टि के आरम्भ में जिन मौलिक साध्य देवादि का विकास हुआ था, वही विकास आज तक उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहां परिवर्तन का अभाव है, यही बतलाने के लिए श्रुतिमें—'यावन्तो ह्येव सन्नाप्रे देवास्तावन्तो देवाः (शत. = 10। 1। 1६) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस चिदात्मा (अन्यथ) को अपने गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्ण विकास चितिधर्मा सूर्य में ही आकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में चिदात्मा आता है, पल्पु विलयनधर्मा सोमयज्ञ के प्रभाव से वह विलीन हो जाता है, वहां केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहने वाले उस पोडशीपुरुष का विकास तो सूर्य में ही होता है। चिदात्मा की गर्भभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। यही कारण है कि ब्रह्मा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक भृश, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पाँचों में से इन्द्रप्रकृतिक सूर्य को ही 'पोडशी' कहा जाता है। क्योंकि 'पोडशीपुरुष' नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का पूर्ण विकास केवल इन्द्रात्मक सूर्य में ही होता है—'असौ वै पोडशी योऽसौ (सूर्यः) तपति" (कौ.श्र. १७। १। 1)। इसी चिदात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रतत्त्व इतर प्रकृतियों की अपेक्षा पोडशी प्रजापति की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सन्तान कहलाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ (छुपुत) कहलाता है, जो पिता के यश को द्विगुणित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम मेद से 'पोडशी प्रजापति के पांच पुत्र हैं। इन पाँचों में सर्वज्येष्ठ ब्रह्मा है, सर्वकनिष्ठ सोम है, त्रिचला पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रने चिदात्मारूप पिता का यश सर्वत्रिलोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मज्योति का प्रसार

हुया है—“सूर्य आत्मा जगतस्तथ्युपश्च” । इसी सुपुत्री के कारण प्रजापतिने विश्व के सबसे ऊंचे आसन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व कहलाता है, एवं विश्व के हृदय में ही सूर्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सर्वज्येष्ठत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है । इसी अभिप्राय से महाब्राह्मण श्रुति कहती है—

“सः (पोडशीप्रजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति । तामस्मै सृजं (विजयमात्नां) प्रसमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रेष्ठयायाति-
पुन्त-तच्छिल्पं पश्यन्तः” (ता० ब्रा० १६।१।३) । “इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो,
वलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः, पारयिष्णुमः” (ऐं० ब्रा० ७।१६) । सर्व वाऽ-
इदमिन्द्राय तवस्थानमास यदिदं किञ्च” (शत. ३।६।१।४) । “हृदयमेवेन्द्रः”
(शत० १२।६।१।१५) ।

त्रैलोक्य क्या है, किसी चतुर शिल्पी का सर्वोत्कृष्ट शिल्प (कारीगरी) है । वह शिल्पी वही इन्द्र है । अपने इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिल्प पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिने इसके गले में विजयमाल टाली है । इसके इसी शिल्प से प्रभावित होकर (इसका लोहा भानते हुए) ही तो प्रजाने इसे श्रेष्ठ माना है—“प्रजाः श्रेष्ठयायातिपुन्त तच्छिल्पं पश्यन्तः” । (१६।१।३) । सचमुच इन्द्र ऐसी ही वस्तु है । सारा विश्व इन्द्र से पूर्ण है । त्रैलोक्य में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ‘शुन’ नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसने मनुष्यकिन्दु को पहिचान लिया, उसने सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिराजप्रतर्दन को इन्द्र के अभिमानी देवताने कहा है—“एतेदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्” (मैं मनुष्य के लिए वही परम हित समझता हूँ जो कि वह मुझे (इन्द्र को) समझजाय) (कौ.उ.३।१) । इन्द्र की इसी सर्व-व्यापकता, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—पद्याव इन्द्र शतं ते शतं भूमिरुत स्युः ।

न त्वा बभित्सदसं सूर्या भनु न जातमष्ट रोदसी ॥ (ऋक० ८।७०।५) ।

२—सूर्यस्येव ररमयो द्रावयित्त्वो मत्तरासः प्रमुपः साकमीरते ।

तन्तुं ततं परिसर्गास आरावो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥ (ऋ. ६।६।६)

३—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।

इन्द्रो वृषामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः लेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ (ऋ. १०।८६।१०)

४—नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायां अस्ति वृषइत् ।

नकिरेव यथा त्वम् (ऋ० ४।३०।१।)

प्रकारान्तर से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए । अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि षोडशीपुरुष है । इनमें अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, क्षर अर्थप्रधान है । ज्ञान-प्रधान अव्यय, अर्थप्रधान क्षर दोनों का मध्यपतित क्रियाप्रधान अक्षर के साथ समन्वय है । अतः अक्षर ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों त्रिमूर्तियों से युक्त होजाता है । पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर केवल अर्थप्रधान ही है, परन्तु मध्यस्थ अक्षर ज्ञान-अर्थ के संदश में पतित होता हुआ त्रिमूर्तिप्रधान है, जैसा कि कठश्रुति कहती है—

एतद्धेवान्तरं ब्रह्म (क्षरः) एतद्धेवान्तरं परम् (अव्ययः) ।

एतद्धेवान्तरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तव ॥ (कठ० १।२।१६) ।

सूयम् परमेष्ठी अव्ययप्रधान है, चन्द्रमा पृथिवी क्षरप्रधान हैं, किन्तु मध्यस्थ सूर्य अक्षरप्रधान बनता हुआ परमराम में प्रतिष्ठित अव्यय, अवमराम में प्रतिष्ठित क्षर दोनों का समाहक बनता हुआ षोडशी बन रहा है । केवल अव्यय की दृष्टि से विचार कीजिए । समाहक बनता हुआ सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्मभाग गुरु है, सूर्य से अव्यय का विद्याभाग अमृत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्मभाग गुरु है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है । परन्तु मध्यस्थ सूर्य में दोनों का समन्वय है । विद्या-अविद्या दोनों के यदि आपको एक साथ दर्शन करने हैं तो इसके लिए विज्ञानघन सूर्य की ही शरण में जाना पड़ेगा । और कर्मभाग ही आगे जाकर आनन्दरूप में परिणत होता हुआ धाम-

रुद्ध बनकर 'अर्थ' नाम से व्यवहृत होने लगता है । इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है । तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है । ज्ञानशक्तिमय होने से—'धियो योनः प्रचोदयात्' (शु. २२।६) यह कहा जाता है । क्रिया-शक्तिमय होने से—'प्राणः प्रजानामुदयेसप सूर्यः (प्र. उ. १।८) यह कहा जाता है । एव अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए—'नृनं जनाः सूर्येण ममृताः अयन्नर्थानि क्रणवन्नपांसि' (श्र. ७।६।३।४) यह कहा जाता है । इन तीनों में अर्थ का कर्म में अ तर्माव है, अत परमार्थ में ज्ञान-कर्म भेद से दो भाग ही रह जाते हैं । ससार के जितने भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखने हैं । एव ससार में जिनकी भी ज्ञानशक्ति है, वे सब सौरज्ञान के आश्रय से सञ्जातित हैं । इस प्रकार त्रैलोक्य विधाता, सहस्राशु, विद्या-अविद्यात्मक सूर्य भगवान् विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का यश पैला रहे हैं । जिस दिन इनका लय होजा-यगा, उस दिन सब कुछ अनुपात्यतम के गर्भ में विलीन होजायगा । सूर्याभावकाल रात्र्या-गम (प्रलयगम) है, सूर्यसत्ता अहरागम (सृष्ट्यागम) है । यही प्रजापति का पुण्यदह है । सर्व-शास्त्रा सूर्य उत्पन्न कैसे हुआ ? यह प्रश्न बच जाता है । इस के समाधान के लिए निम्न लिखित सवत्सरविद्या प्रकरण पर दृष्टि डालनी चाहिए ।

स्मरण कीजिए उस स्थिति का, जब कि न पृथिवी थी, न चन्द्रमा या, न सूर्य या । उस समय यदि वा तो क्या या ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

“आपो वा इदमग्रे सलिनमेवास । ता अकामयन्त-कस्य नु प्रजायेमहीति । ता अश्राम्येस्तास्तपोऽतप्यन्त । तामृ तपस्तप्यमानासु द्विरगमयाएह मन्वभूव । अजातो ह तर्हि सवत्सर आम । तदिद द्विरगमयाएहं यावत् सवत्सरस्य बेला, तावत् पर्यप्लवत् । ततः सवत्सरे पुरुषः समभवत् । + + + । स इदं द्विरगमयाएह व्यवहन्त् । नाह तर्हि काचन मतिष्ठा-आस । तदेनमिदमेव द्विर-गमयाएहं यावत् सवत्सरस्य बेलासीचावृद्विभ्रत् पर्यप्लवत् । तानि वा एतानि

पश्चान्तराणि तान् पञ्चर्वनकुरुत, तऽइमे पञ्चर्वयः । स एवमिमोल्लोकान् ज्ञातान्
संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् । स सहस्रायुर्जज्ञे । + + + । स आत्मन्येव प्रजा-
तिमपत्त । + + + । स ऐक्षत प्रजापतिः—सर्वं वाऽअत्सारिपं—य इमा देवता
असृञ्जीति—स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो इ वै नामैतत्—यत् संवत्सर इति”

(शत० ११ कां० १।६) ।

“पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्यादि की उत्पत्ति से पहिले सलिल (नाम से प्रसिद्ध) पानी
ही था । पानियों ने इच्छा की कि अपन कैसे उत्पन्न होंगे । इच्छानुसार
उन पानियों ने तप किया, श्रम किया । इस तप-श्रम से तप्यमान पानियों
में चुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ । उस समय तक संत्सर उत्पन्न न हुआ था ।
उस समय वह हिरण्ययाण्ड वहां तक व्याप्त, जहां तक कि आज संवत्सरचक्र
की सीमा है । एक वर्ष में वह (पुरभाव से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया ।
उस (आपोमय प्रजापति) ने हिरण्ययाण्ड की ओर दृष्टि डाली । उस समय
(उस अण्ड में) कोई प्रतिष्ठा न थी । केवल संवत्सर की सीमातक प्रजापति
उस हिरण्ययाण्ड को लिए हुए फिरता रहा । आगे जाकर पांच अक्षरों से
अभ्युत्पन्न की । इन अभ्युत्पन्नों के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ
खड़ा हुआ । आगे जाकर उसने अपनी आयु के हजार वर्ष तक यज्ञ किया ।
(इस से प्रजा उत्पन्न हुई) प्रजाति नाम से प्रसिद्ध उस प्रजा की प्रजापति ने
अपने ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया । आगे जाकर प्रजापति ने विचार किया
कि अरे ! इस प्रजनन कर्म में अपन तो अपना सब कुछ खो बैठे ! प्रजा-
पति के इसी भावनमय मगडल का नाम “सर्वत्सर” हुआ । यह सर्वत्सर
ही आज “संवत्सर” नाम से प्रसिद्ध है !”

सर्वत्र आपोमय पानी का साम्राज्य है । उस को “इरा” कहा जाता है । यह इरा नाम
का उस ही अग्नि संबन्ध से बन बन जाता है । अभी प्रतिष्ठापि उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल

प्राणमूर्ति ब्रह्माग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा प्रबहणशील है, घनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव "सरिद्भावमयी-(प्रसन्नवणशीला) इरा -(रसभागः) यस्याः" इस निर्गमन से पानी की वह प्राथमिक अवस्था "सरिर" नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय "सलिल" था, इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही सलिल का स्रोतक है। इधर उधर बहते रहना, यह ऋततत्त्व का स्वामि-विक्रम धर्म है। आपोमय परमेष्ठो स्वयं ऋतरूप है, अतः इसे न्यायतः सलिल ही माना जा सकता है। अभी "वह आप सर्वथा ऋत है, सद्य (पिण्ड)-भाव का उदय अभी नहीं हुआ है" यही बतलाने के लिए—'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' यह कहा गया है। इस आपोमय महद्मल्ल के गर्भ में मनप्राणमाह्वय सृष्टिसाक्षी अव्यय गर्भी बन रहा रहा है। कामना इस का निस्सर्ग है। इसी की कामना से मातरिखा की कृपा से वायुरूप पानी में संवर्ष होना है। यात यह है कि ऋत परमेष्ठो का पानी वायुरूप है। यह चलवायु स्थिर मातरिखा-वायु से विरा हुआ है। इस स्थिर वेद्यन के भीतर गतिधर्मी वायु अपना व्यापार करता रहता है। मातरिखा की सीमा तक जाकर वह वापस लौटता है। यदि सीमा न होती तो वायु को इधर-उधर भ्रमण करने के लिए पर्याप्त धरातल मिल जाता। उस समय संवर्ष का अरसर न आता। परन्तु पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिखा के वेद्यन से वायु को निरुलने का अरसर नहीं मिलता। वह अपने गतिस्वामन से परस्पर में टकरा जाता है। वायु के इसी संवर्ष से आग्नेयपरमाणु उत्पन्न होजाते हैं। वायु का सर्परूप बलप्रयोग ही—'सहोमल' नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी बल से उत्पन्न हुआ है, अतएव इसे 'सहोना' कहा जाता है। इसी सहोना अग्नि की बीजा-वस्था 'वाक्' नाम की तीमरी प्रकृति है। यह वाक्त्वन बड़ी आपना सुपरिचित, पूर्वस्वरूप-समर्पक मापत्रीमात्रिकवेद है। इसी वाग्मूत की उस आपोयोनि में आहृति होने से ऊर्ध्व सहोना अग्नि उत्पन्न हुआ है। 'अप एव ससर्जदी तामु बीजमवाहृजद' इत्यादिरूप से गतने जिस बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाग्मूत है। बीजानस्थापन वाग्मूत आप में आहृति होकर संवर्ष से अग्निरूप से निरसित हुआ। सारे पामेष्ठय समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया । मातरिश्वा द्वारा अण्ड का स्वरूप दान चुका था । इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि अंतरूप से भरगया । सभी पिण्ड नहीं दना, वेन्ल अग्निपरमाणुओं का उदय हुआ, यही हिरण्यमयाण्ड कहलाया । यही अग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध है । यही धूमकेतु सूर्यपिण्ड के जनक हैं । इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति बढ़ती है—

- (१)—हरयो धूमकेतवो वातजूता उप धवि ।
यतन्ते वृथगमयः ॥ (ऋक् सं० ८४३।४) ।
- (२)—एतेरये वृथगमय इद्धासः सदन्तव ।
उपसागिव केतवः ॥ (ऋक्सं० ८४३।५) ।
- (३)—अपवन्ने साधिष्टव सौपधीरनुरुध्यसे ।
गर्भे सजापसे पुनः ॥ (ऋक्सं० ८४३।६) ।
- (४)—यदग्ने दिविजा अग्नि, अप्सुजा सहस्कृत ।
तं त्वा गीर्भिर्हवापहे ॥ (ऋक् सं० ८४३।२८) ।
- (५)—स नो महो अनिमानो धूमकेतुः पुरुधन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥ (ऋक् सं० १।७।११) ।
- (६)—यदयुक्त्वा अरुपा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः ।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये पा रिरयामा वयं तव ॥ (ऋ. १।६४।११) ।

- (१)—वायु से प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्ष में पृथक् पृथक् मार्ग से जा रहे हैं ।
- (२)—पृथक् पृथक् निचरण करने वाले बट (धूमकेतुरूप) अग्निपं होलाओं द्वारा समिद्ध बनकर (यज्ञ में) प्रवृत्त हो रहे हैं ।
- (३)—हे अग्ने ! आप का निवासस्थान पानी में है । ऐसे आप ओषधियों पर अनुग्रह कर उनके गर्भ में प्रसिद्ध होकर (औषधिरूप से) उत्पन्न होते हैं ।
- (४)—हे अग्ने ! आप चुल्लोक में, एवं अग्निमें में उपपन्न होने वाले हैं । सर्वोत्तम से आप (जित्य) युक्त हैं । ऐसे आप की हम वाणी से स्तुति कर रहे हैं ।
- (५)—(पिण्डदानक न होने से अनिमान-परिच्छेदरहित-अतमप-इवस्ततः व्याह), चन्द्रकान्ति के समान प्रकाशित बट धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एवं कर्म (ज्ञान-कर्म) के लिए प्रसन्न करें ।

वैदिक वैज्ञानिक तत्त्वों का बड़ी ही प्रसाद भाषा में स्पष्टीकरण करने वाले, अपान्तरतमा महर्षि के अवतार भगवान् कृष्णार्द्रपायन (वेदव्यास) ने अपने सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में वरुण धूमकेतुओं की उत्पत्ति का बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुराणित मितमाकाशमनंतमचलोपमम् ॥
 नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संवभौ ॥१॥
 ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ॥
 तस्माच्च सखिलोपीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥२॥
 यथा माजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्षते ॥
 तन्नाम्भसाप्यर्षमारुणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥३॥
 तथा सलिसंरुद्धे नमसोऽन्ते निरन्तरे ॥
 मित्रार्थवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥४॥
 स एव चरते वायुरर्णवोपीडसम्भवः ॥
 आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिमाधिगच्छति ॥५॥
 तस्मिन् वास्वभ्युसंयत्तं दीप्ततेजा महावसः ॥
 प्रादुरभूद्भ्रूगिरः श्रुत्वा निरितिनिरं नमः ॥६॥

(६)—हे अग्नि ! तिमि समय आस वायुके सम (वायुके ही) धौको से कुछ रूप पर तमार टोकर कभी से जलने हुए निकलने हैं, उस समय आस का शब्द एक महा बलिष्ठ वृषभ मंत्र जैसा होना है । अनन्तर आस बलवान्ने सारं पराधी में (वृद्धि में) अपने धूमकेतु मन्त्र से भक्त होको है । हे अग्नि ! आस के साथ निरता होकने पर हम कभी दुःख न पने । 'हम सदा भाप के हैं' (आस से देवी वृष्टि रख कर सदा हमारा रक्षा करनी अवश्य) ।

१-धूमकेतु से होकना में पुष्पान् (पुष्पान्) कहा जाता है । इसे से ऊर्ध्वदिशा कहा है । वह उर्ध्व-पुष्प शब्दों में उर्ध्व शब्द हुआ कल्पना उर्ध्वदिशा रक्षता है । उर्ध्व कल्पना में "हृत्वा निरि निरं मयः" कह कहा है ।

अग्निः पवनसंयुक्तः खं सनाक्षिपते जलम् ॥ .

सोऽदिर्माहृतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥७॥

तस्याकाशं निपतितः स्नेहस्तिष्ठति यो परः ॥

स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥८॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥

भूमियोन्निरिह द्वेषा यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥९॥

(महा० शान्तिप० मोक्षध० १८३ अ० २२खो - १७२लो.पर्यन्त)

उक्त मन्त्रवर्णन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोगव (वायुमव) महास-
 शुद्ध में इतस्ततः दोलायमान प्रदीत, सौरप्रकाशवत् प्रकाशमान ऋताग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है ।
 'धूमकेतूनामेकसहस्रसंख्येति-शशिवद्भासमानास्तीवाः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एक-
 सहस्र माने जाते हैं । यही सहस्र धूमकेतु पूर्वशुक्ल-‘स सहस्रायुर्जज्ञे’ प्रजापति की आयु
 के सहस्र विभाग है । यही अग्निपुञ्ज सूर्यपिण्ड के उत्पादक हैं । कोई एकसा धूमकेतु
 (राशिमृत् अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातभाव को प्राप्त होता हुआ सूर्यपिण्डरूप में परिणत
 होगया है । वह अग्निपुञ्ज परिभ्रमणशील था, अतएव तदुत्पन्न सूर्य भी स्वरथान पर घूर्णता
 हुआ अपने प्रभव परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, एवं इतर धूमकेतु सूर्य के चारों
 ओर परिक्रमा लगा रहे हैं । उच्चावच स्थान भेद से इन की परिक्रमा का काल अनन्तवर्षों में
 विभक्त है । घूमते घूमते धूमकेतु जब सूर्य के समीप जाता है, तभी वह हमारे दृष्टिपथ में आता
 है । यही इस का उदय काल माना जाता है । परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परि-
 भ्रमण से ही प्रचारांशों से आगे जाकर शनि-मंगल-बृहस्पति-देवसेना-पृथिवी-बुध-मा-
 उर-कपिल-दण्ड-आदि पृथक् पृथक् अनेक अग्निगोल उत्पन्न हुए हैं । यह सब सूर्य के
 हैं । सूर्य पानी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोलों में केन्द्र में अग्नि है, बाहर

पानी है। वेन्द्रस्थ अग्नि प्रजापति है। यह अमदादि प्रजानिर्माण में क्रमशः निस्तप्त (खर्च) होता हुआ कम हो रहा है। जिस दिन अग्नि निरुप होजायगा, इन गोलों का आयु समाप्त होजायगा। इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी नष्ट होजायगा, रह जायगा वही सलिलावस्थापन्न वेदत आपोमय समुद्र। धूमरेतु उपलब्ध होगा, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा। निरवेधर के इस विश्वचक्र के अनाद्यनत प्रवाह को कौन जानसकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगतने "तेजोमेघविचार" (Nebular Hypothesis) को प्रधानता दी है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता केन्ट और लानान्म का कहना है कि "क्रिमी समय साग विश्व उष्ण वायुमय था। उस समय वायु-रूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था। आगे जाकर क्रमशः मध्य-भाग में घनमात्र का उदय होने लगा। बाहर के भाग के सम्बन्ध विच्छेद होजाने के कारण ज्योतिर्गोल टूट टूट कर पृथक् पृथक् होगए। ये तप्त गोले जैसे जैसे ठंडे होने लगे, जैसे जैसे पिघलते गए, आगे जाकर यह घन बनगए। इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, परं भीतर का भाग उष्णतावस्था में रहा। इस प्रकार अन्तरिक्ष में भूगोलों की उत्पत्ति हुई"।

तुलना कीजिए पूर्व—पथिम विज्ञान की। दोनों में से कौन यथार्थ में प्रथम दृष्टा है। "परिले वायु था, यह पिघल बना, पिघल पिघल गया, फिर कठिन होगया" इस रहस्य का शक्तिरिश्तेपरि क्रमने सब से पहिले सत्ता के सामने खला ! उही वेन्द्र-मर्तियोंने। आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरल पानी, तरल पानी से पुनः घन (पृथिवी) भाव— इस क्रम के (तत्त्वादूरा एतत्त्वादात्मन आकाशः सम्भृतः, आकाशाद्वायुः, वायोऽग्निः, अग्नेरापः, अपद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिव्योऽर्धः, अर्ध्नाद् पुंसः) प्रथम आविष्कार है, हम कुरतों के पिता पितामह। जिन की निराशने वेद का निरुपार पर आन के विज्ञान युग में उन विज्ञानाभिकारियों से पर-दत्ता हो रही है। ज्याहरण-न्याय-भार का उदाहरण नहीं कर सकते, उदाहरण है—दत्त का वेद ! वैदिक विज्ञान !! 'वेद पर विज्ञानाभिकारि निःश्रेयसकरः परः'।

प्रहन का अनुमरण कीजिए। आपोनय (वायुमय) प्रन,पति के गर्भ में धूपकेतुर्बर्ष हिस्-
 षण्मास से आगे जाकर पिण्डात्मक मूर्ध का जन्म हुआ, ऋतुओं का विभास हुआ, प्रजापति-
 प्रजानिर्माण में युक्त होकर 'संवत्सर' का संवत्सररूप में परिणत होगे। गायत्रीमंत्रिक-
 वेदघन, प्रकृतिवाक्य, इन्द्राक्षरमय संवत्सराधिष्ठाता यही सूर्य सत्य का अस्तार है। पिण्डात्मि-
 मय होने से ही यह सत्य है। आपोनय परमेशी सर्वप्रथम इसी सत्य को अपने गर्भ में धारण
 करता है। सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—“अपां गमन्त्सीद्” (शत०७।५।१।८) ।
 इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतखण्डन हमारे सामने आते हैं—

१—“तद्यत् तव सखं प्रयी सा विद्या” (शत० २।५।१।१८) ।

२—“तस्यै वानः सखमेव ब्रह्म” (शत० २।१।४।१०) ।

३—“सखमेव य एष तपति” (शत० १।४।१।२) ।

४—“आपो वै (सौर)-देवाना मियं धाम” (तै० ब्रा० ३।२।४।२) ।

उत्पन्न होकर यह हिरण्यमासक चारों ओर समुद्र में घूमने लगा । आगे क्या हुआ ?
 सुनिए । आजदिन 'संवत्सर' शब्द को कालवाचक समझा जा रहा है । यदि किसी विद्वान् से
 'संवत्सर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिन के वाचक 'वर्ष' शब्द
 को प्रश्नकर्ता के सामने रख देता है । यस्तुतः संवत्सर शब्द काल का वाचक नहीं है, अपितु
 अग्नि का वाचक है । इस संवत्सराग्नि के ही पञ्चसुन्दर पाच विवर्त हैं । जिस मार्ग पर पृथिवी
 सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है । इस क्रान्ति-
 मण्डल में व्याप्त जो सौर अग्नि है, उसी का नाम संवत्सर है । यह क्रान्तिवृत्त ही संवत्सर की
 वेना (परिधि-तट-अन्तिम सीमा) है । सूर्य से पृथिवी उत्पन्न होती है । उत्पन्न होकर सूर्य
 के चारों ओर घूमने लगती है । ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का सत्त्व
 सम्भव हो, सूर्य हो तब पृथिवी बने, पृथिवी हो तब संवत्सराग्नि की सीमा हो । इसी अभिप्राय
 से सूर्योत्पत्तिज्ञान की स्थिति को लक्ष्य में रखकर पूर्वश्रुते में “उस समय संवत्सर न था,

आज जो तुम संवत्सर की बेसी देख रहे हो, वहाँ तक केवल अग्नि भरा हुआ था, एवं वह बड़े वेग से घूम रहा था" यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस अग्न्यात्मक संवत्सर के चारों ओर घूम आती है, इसलिए संवत्सर शब्द वर्ष का वाचक बनता हुआ काल का वाचक बन गया है। वस्तुतः संवत्सर अग्नि का ही वाचक है।

सूर्य का जन्म हुआ, विद्या-कर्ममय चिदात्मा का विकास हुआ। सारा विश्व आलोकित एवं पुलकित होगया। सूर्य में जो इन्द्रभाग है वह तो कर्म है, एवं चेतना भाग विद्या है। सौर इन्द्र रूपज्योति का (प्रकाश का) अधिष्ठाता है। इसी ज्योति को भूतज्योति कहते हैं। विद्याभाग ज्ञानज्योति है। दोनों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध है। भूतज्योति ज्ञानज्योति पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानज्योति भूतज्योति के आधार पर विकसित है।

हमारी बुद्धि जैसे अध्यात्मसंस्था को प्रकाशित करने वाला सूर्य है, एवमेव वह सूर्य आधिदैविकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (ईश्वर की) बुद्धि है। इस में अविद्या-विद्या दोनों भावों का साध्याव्य है, अत एव इस में ज्योति और तम का उदय होजाता है। दोनों भाव (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिर्लक्षण विद्या भाग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त है, एवं तमोलक्षण अविद्याभाग अयर्म-अज्ञान-आसक्ति-अनैश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है। यही सांख्यामिमत् 'अष्टौ बुद्धयः' है। विद्या का चतुर्धा विभक्त ज्योतिर्भाग अव्यय के विद्याभाग का, एवं अविद्या का चतुर्धा विभक्त तमोभाग अव्यय के अविद्याभाग का अनुग्राहक है।

प्राकृतिक नित्य नियमसंघ का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए ई० नि० मा० पृ०) प्राकृतिक विश्व को प्रकाशित रखने वाली चेतना ज्ञान है। उस चिन्मयोत्ते का सारे भूतों के गर्भ में प्रविष्ट रहते हुए भी भूतदेह से अज्ञान है, यही वैराग्य है। सर्वत्र मानिरूप से विकसित रहने वाली नाम-रूप

• एव एता च विद् विदेधन 'गीताविज्ञानभाष्य' में देयता आदिप ।

की सगुण 'ऐश्वर्य' है। नियतधर्म को आवृत करने वाला पाप्मा 'अधर्म' है। ज्ञानज्योति को आवृत करने वाला पाप्मा अज्ञान है। पदार्थों में प्रश्लिषन्धन डालने वाला, रागद्वेष उत्पन्न करने वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आवृत कर उसे जड़रूप में परिणत कर देने वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूर्य के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूर्य अपने आकाश से विद्याचतुष्टयीरूप देवीसम्पत् का प्रवर्तक बनता है, एवं अवाह्मण से अविद्याचतुष्टयीरूप आसुरीसंपत् का जनक बनता है, जैसा कि वाजसनेय श्रुति कहती है-

“स आस्येनैव (मुख्यपाणात्मकमाह्मणोनेव) देवानसृजत । ते देवा दिवमभि-
पय-असृश्यन्त, तद्देवानां देवत्वं-पदिवमभिपद्यासृश्यन् । तस्मै सृजमानाय
दिवैवांस । + + + + । अथ योऽयमवाह्मणः-तेनासुरानसृज्यत । त इमा
मेव पृथिवीमभिपद्यासृश्यन्त । तस्मै सृजमानाय तम इवांस” । + + + + ।
तस्मादेतद्ऋषिणाऽभ्यनृक्तं—

‘न त्वं युयुत्से कतमन्नान्नान्तेऽमिगो मयन्न कश्च नास्ति ।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाथ शत्रुं न नु पुरा युयुत्से ॥”

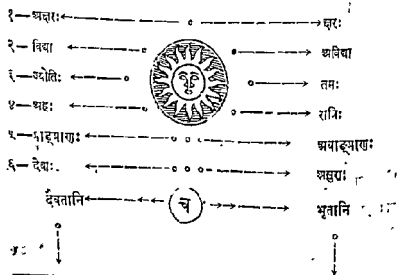
(शत० ११ वा० १ । १।६।७-८) ।

उक्त श्रुति इन्द्रात्मक सूर्य प्रजापति से ही देव-असुर सृष्टि की प्रवृत्ति बतला रही है। “देवता और असुर दोनों सूर्य (इन्द्र) की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में जो इन्द्र का असुरों के साथ युद्ध बतलाया जाता है, वह असंगत है” उक्त मन्त्रश्रुतिमें इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूर्य में अहोरात्रभाव का उदय होता है। अह.काल में सौरप्राण नामक प्राण की प्रधानता रहती है, रात्रि में पार्थिव अपानप्राण की प्रधानता रहती है, इसी को अवाह्मण कहा जाता है। पृथिवी सूर्य का ही उपग्रह है, अतः पार्थिव अवाह्मण को

१—इस विषय का विस्तृत विवेचन शतपथविद्वान्माम्य के अष्टविधदेवता निरूपण प्रकरण के सौ-
रदेवताप्रकरण में देखा जाय।

सूर्य का ही अवाद्प्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप क्षरभाग की प्रधानता है, यह पार्थिवभाग क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोभ्य आसुरीविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्रादु-प्राण से बड़ी सूर्य्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की दैवीविभूति का, एवं रात्रि में आसुरीविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिमें—“स यदस्मै देवान् सृजन्तानां दिवेवास, तदहरकुरुत । अथ यदस्मा असुरान् सृजन्तानां तम इवास, तां रात्रिमकुरुत । तेऽब्रहोभवे” इत्यादि रूप से आगे जाकर स्पष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेखः



दैवीसम्पत् निर्वाचतुष्टयी	देवाश्च या असुराश्च उभये प्राणापत्याः	आसुरीसम्पत् अविद्याचतुष्टयी
------------------------------	--	--------------------------------

सूर्यगत विद्या (ज्ञान)-भाग स्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के संबन्ध से ही इसके चार विवर्त होजाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होने से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से च्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है। वही विज्योति का आवरण बनता हुआ अज्ञान का, राग-द्वेष का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्दी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितने अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अर्थसम्पत्ति ही है । इन्हे चार उपाधियों के कारण स्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि भाठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्धयः

अविद्याबुद्धयः

- १—धर्म → → → १ अधर्म
 २—ज्ञान → → → २ अज्ञान
 ३—वैराग्य → → → ३ आसक्ति
 ४—ऐश्वर्य → → → ४ अनैश्वर्य



चार अविद्या विपर्ययो के मूल पाच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ-दुराग्रह धर्रा जाना है, वही अभिनिवेश है । “गुरुपदेश-शास्त्र-लोकमयादि-आदि बुद्ध नहीं है । जो बुद्ध हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अज्ञा बुरा स्वयं समझ सकते हैं” । इस प्रकार अपने आपको सर्वे सर्वो समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर उत्पथ गमन करना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा समभव है, परन्तु ‘हम नहीं मानते’ कहने वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते- ‘न तु मतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाश्रयेत्’ । अर्द्धज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सूर्य का ही अनादप्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है, यह पार्थिवभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। यह सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोभय आसुरविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्राण-प्राण से वही सूर्य्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य्य की दैवीविभूतिका, एवं रात्रि में आसुरविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिमें—“स यदस्मै देवान् सद्यजानाय दिवेवास, तदहङ्कुरुन । अथ यदस्मा अस्तुरान् सद्यजानाय तम इवास, तां रात्रिपकुरुत । तेऽप्रहोभने” इत्यादि रूप से आगे जाकर सृष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेखः—



दैवीसम्पत् रिषान्तुष्टयी	देवाथ वा अस्तुराथ उभये प्राणावस्थाः	आसुरीसम्पत् अविद्यान्तुष्टयी
-----------------------------	--	---------------------------------

सूर्यगत विद्या (ज्ञान)-भाग स्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विपरीत होजाते हैं । पार्थिवभूत पाम्नारूप होने से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से न्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है । वही विज्योति का आवरक बनता हुआ अज्ञान का, राग-द्वेष का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितने अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक अर्थसम्पत्ति ही है । इन चार उपायियों के कारण स्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि आठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्ध्यः

अविद्याबुद्ध्यः

- | | | | | |
|---------------|---|---|---|-------------|
| १-धर्म | → | → | → | १ अधर्म |
| २-ज्ञान | → | → | → | २ अज्ञान |
| ३-वैराग्य | → | → | → | ३ आसक्ति |
| ४-प्रेरवर्ष्य | → | → | → | ४ अनैश्वर्य |



चार अविद्या विपर्ययों के मूल पांच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ-दुराग्रह कहा जाता है, वही अभिनिवेश है । "गुरुपदेश-शास्त्र-लोकमयादि-आदि कुछ नहीं है । जो कुछ हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अच्छा बुरा स्वयं समझ सकते हैं" । इस प्रकार अपने आपको सर्वे सर्वा समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर उत्पन्न गमन करना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा संभव है, परन्तु 'हम नहीं मानते' वहने वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते- 'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमापावयेत्' । अर्द्धज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सर्वार्थ मूर्ख को समझाया जासकता है, विद्वान् सरलता से युक्तिसंगत बात को मान लेता है। परन्तु अर्द्धशिक्षितों का अनुरजन असंभव है। ज्ञानसबदुर्विद्युत् अचिकित्स्य हैं। आज भारतवर्ष में इसी अभिनिवेश का साम्राज्य है। सभी शिक्षित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूर्ण अभिनिविष्ट हैं। शास्त्र की मर्यादा भी यही समझते हैं। शास्त्रों में क्या है? इस के निर्णायक भी यही हैं, फिर चाहे संस्कृतशास्त्रमय शास्त्र में इनका चञ्चुप्रवेश भी न हो। युगधर्म के रहस्य वेत्ता भी यही हैं। तभी तो देश क्रमशः उन्नति करता जा रहा है। कहना यह है कि अभिनिवेश अधर्मवृद्धि का जनक है, अधर्म नाश का कारण है। शिक्षा का अभाव अज्ञान का कारण है। विना शास्त्राध्ययन के ज्ञान का आवरण नहीं हटता। रागद्वेष आसक्ति के जनक हैं, अस्मिता अनेश्वर्य की माता है। जो व्यक्ति गिरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है', 'कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विभूति खो बैठता है। विकास रिमत् (खिलना) भाव है। अपने आत्मा में सब कुछ विभूति समझना रिमत्लक्षण ऐश्वर्य का वारण है। प्रत्येक दशा में अल्पता का अनुभव करना अस्मिता लक्षण अनेश्वर्य है।

१—अभिनिवेश से—अधर्म

२—अविद्या से —अज्ञान

३—रागद्वेष से —आसक्ति

४—अस्मिता से —अनेश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्वोक्त आठ विवर्त हैं। उस में देवीसंपत् भी है, आमुरीसंपत् भी है। तप पि वह स्वरूप से सदा विकसित रहता है। कारण इस का यही है कि वह समत्वयोग का अधिष्ठाता बना हुआ है। उसमें अविद्या है अवरय, अन्यथा अविद्यामूलक संसार कैसे किससे उत्पन्न होता। परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह कर्ममय विश्व में स्थित होता हुआ भी अनिष्ट है। अविद्यायुक्त होता हुआ भी अविद्या से अपरामृष्ट (असंग) है—
 "लेगकर्मविपाकागर्परपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पातञ्जल-योगदर्शन)।

“सप्त वै देवस्वर्गाः” के अनुसार देवस्वर्ग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवस्वर्गों की प्रतिष्ठा सूर्य ही है, अतएव सूर्य के लिए—“मध्ये द्व संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः” (शत. ६।७।४।१-११) “स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्” (यजुःसं. २०।२१-शत. १२।१।२२) इत्यादि कहा जाता है। इन सात देवस्वर्गों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वर्ग और हैं। यह तीनों क्रमशः ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप, इन्द्रविष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि ‘त्रिविष्टपस्वर्ग’ है। पृथ्वी के १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण तक जो एक प्राकृतिक यज्ञ होरहा है, वही नवाहयज्ञ (१-३-५-७-९-११-१३-१५-१७-१९-२१-२३-२५) इन अहर्गणों की समष्टिरूप नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अहर्गण में) नवाहयज्ञाधिष्ठाता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अहर्गणों में से किस अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—“एकविंशो वै स्वर्गो लोकः” (शत० १०।५।१।६)।

२—“एकविंशो वै इतः स्वर्गो लोकः” (तै० ब्रा० ३।१.२।५।७)

३—“एष एवैकविंशो य एष (सूर्यः) तपति” (शत० ५।५.३।४)।

संवत्सरात्मक सूर्य की प्रतिष्ठा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपना प्राण है, १७-से २५ तक सौर संवत्सर का साम्राज्य है, इसी आधार पर—“नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा” (पह्वि. ब्रा. ३।१।२।) यह कहा जाता है। ४ अहर्गण सूर्य से नीचे हैं, एवं ४ अहर्गण सूर्य से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रतिष्ठा एकविंशस्तोमात्मक सूर्य ही है—“एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः” (कौ० भा० ११।६) “प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानाम्” (तां० भा० ३।७.२)। इन में १७ वां रतोम ब्रह्मविष्टप कहलाता है। यहां तब पार्थिव अग्निप्रजापति की प्रधानता रहती है। यही सप्तदशस्तोमस्य अग्नि-‘प्रजापतिः सप्तदशः’ (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रजापति कहलाता है। यही अग्नि ‘आहवनीय’ नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० भा० ५।२४-२६)। सप्तदशस्तोमस्य इस आहवनीय अग्नि में सोम

की श्राद्धति होती है । इस श्राद्धति से यह अग्नि प्रज्वलित होकर २१ एव विश स्तोम तक व्याप्त होजाता है । इसी सोमाश्राद्धति के प्रभाव से पार्थिव यज्ञ की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है । इस यज्ञात्मक विष्णु के- विद्युत् (६), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) यह तीन विक्रम हैं । इहाँ तीनों विक्रमों से (अक्षरों से) वामनविष्णु ६-१५-२१ रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों लोकों में व्याप्त हो जाते हैं । २१ पर विष्णु की व्याप्ति समान है । यही २१ वां स्थान 'विष्णुविष्टप' कहलाता है—“तान् विष्णुरेकविंशेन स्तोमेनाप्नोत्” (तै० ब्रा० २।७।१४।२) । इसी विष्णुविष्टप को ऋन्स्यविष्टप् स्वाराज्ययज्ञ अदि नामों से भी व्य हत किया जाता है—(देखिए तै० ब्रा० ३।८।१८।३) । यही स्वर्ग-नाम्नस्वर्ग नाम से भी प्रसिद्ध है । २१ से २५ तक इन्द्र विद्युत् का साम्राज्य है । इसी को सौम्यविद्युत् कहा जाता है । यही सौम्यविद्युत् उपनिषदों में—‘अमानवपुरुष’ नाम से प्रसिद्ध है । यही तीसरा इन्द्रविष्टप है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक विष्णु की प्रधानता है, एव १७ से १ तक पार्थिव ब्रह्मा की प्रधानता है । पार्थिव ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वा स्तोम है, विष्णु की मूलप्रतिष्ठा २१ वा स्तोम है, एव सौम्यविद्युत् रूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है । इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७-२१-२५ तीन तो विष्टपस्वर्गों में समाविष्ट हो जाते हैं । शेष रह जाते हैं— $\frac{17}{17} \frac{21}{21} \frac{25}{25}$ यह ६ स्तोम । इन के साथ में २१ वें वा सम्बन्ध माना जाता है । यह २१ वा मिन है, विष्णुविष्टप वाला २१वां मिन है । इस मिनता का कारण अग्नि और विष्णु है । १८ से २४ तक इन्द्रविष्टप नाम से प्रसिद्ध नाचिकेतामि का साम्राज्य है । सुतरा मन्वपतिन २१ वें स्तोम में भी नाचिकेतामि की सत्ता सिद्ध होजाती है । इस नाचिकेतामि के सम्बन्ध से २१ वा अर्हर्गण देवस्वर्गकोटि में प्रविष्ट है । उपर २१ पर विष्णु का भी प्रभुत्व है । विष्णु के सम्बन्ध से वह २१ वां विष्टप स्वर्गकोटि में भी प्रविष्ट है । इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं । यही सात देवस्वर्गों की मूलप्रतिष्ठा है । १८-१९-२० यह तीन देवस्वर्ग २१ से इधर हैं, २२-२३-२४ यह तीन देवस्वर्ग २१ से उधर हैं, सब २१ वा सातवां देवस्वर्ग है । यही तीन तीम स्तोम सामन्विया के

अनुसार 'स्वरसाम' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के कारण सूर्यग्रहण होता है, जैसा कि अन्य ग्रहों में स्पष्ट है। यही सप्त स्वर्गराशि 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। यह सातों स्वर्ग क्रमशः अपोदक, ऋतधामा, अपराजित, नाक, अधिर्घो, प्रथो, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १० से २४ तक व्याप्त रहने वाले एक ही अग्नि की सति भिन्न भिन्न अवस्थारं हो जाती हैं। अग्नि की वे ही सातों अवस्थारं क्रमशः—अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, ब्रह्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सप्तदेवस्वर्ग—तीन विष्टप स्वर्ग—इन सब की समष्टिरूप नवाहयज्ञ की प्रतिमा रूप सौराग्निमय संक्रसर अचलरूप से खड़ा हुआ है। इस संक्रसर में सभी स्वर्गों का समावेश है। दूसरे शब्दों में यह स्वर्गों का टीला (पर्वत) है। अतएव इसे स्वर्गधरुण कहा जाता है। मिट्टी पापाण आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रान्तीय भाषा में टीला कहा जाता है। इसी के लिए वेद भाषा में 'धरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संक्रसर क्या है, स्वर्ग का धरुण है। प्रतिष्ठात्व को ही धरुण कहा जाता है। सौर संक्रसर ही त्रैलोक्य की प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठा की भी मूलप्रतिष्ठा एकविंशत्य आदित्य है, अतएव इसे भी 'धरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि वाग्निश्रुति कहती है—

“असावेवादिसो धरुण एकविंशः। तद्यत्तमाह धरुणमिति, यदाहोवैपो-
स्तमेति—अथेदं सर्वं ध्रियते” (शत० ०।४।१।१२)। “प्रतिष्ठा वै
धरुणम्” (शत० ७।४।१।५)।

संक्रसर स्वरूप धरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिए भी इसे स्वर्गधरुण कहा जासकता है। यही स्वर्गधरुण अथर्ववेद में 'स्कम्भ' (यम्बा) नाम से व्यवहृत हुआ है—“स्कम्भे सर्वं प्रति-
ष्ठितः” (अथर्वसं० १०।४।७।३०)। यह अग्निस्कम्भ (संक्रसर) अविचाली रूप से खड़ा है। यही भावा-भूषिनी का आलम्बन है। इस स्कम्भरूप स्वर्गधरुण के ऊपर (केन्द्र में) द्विपररूप से सूर्य तप रहा है। संक्रसरचक्र आग्नेय है। यही एकचक्रात्मक (एक पक्षिण माता) अग्निमय

मण्डल सूर्य का लुनहरी रथ है । गावत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-ज-
गती नाम से प्रसिद्ध सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा अहोरात्रवृत्त) रथ के सात घोड़े हैं ।
इन घोड़ों पर सूर्य सवार है । इस प्रकार नीचे स्वर्गधरुरूप स्तम्भ, उस पर घोड़े, उस पर
सूर्य प्रतिष्ठित है । इसी सूर्य को-‘अथर्माशुभि’ कहा जाता है । अथर्मा नाम के ध्रुव सोम की
आहुति से ही सूर्य ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

महत्तव सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृत्सीत देवान् ।

अदथादिन्द्रे पवमान् ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥

(ऋक् सं० ६ ६७।११-१२) ।

इसी सोमाहुति से सूर्य में सतवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है । सतवर्णा समष्टि ही
(चित्र विचित्र वर्णों का समुच्चय ही) पृथिन है । इसी अथर्मा और पृथिन भाव के कारण सूर्य
को ‘अथर्माशुभि’ कहा जाता है । अथि च जिस प्रकार एक अथर्मा (पत्थर) स्थिर होता है,
इसी प्रकार सूर्य स्वस्वरूप से अथर्मास्वरूप (पाथाणलोष्ठ) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मि-
मण्डल पृथिन है । पिण्डापेक्षया सूर्य अथर्मा है, मण्डलापेक्षया पृथिन है । इस ‘अथर्माशुभि’
सौरमण्डल के साथ उत्तरा, समुद्र, अरुण, सुपर्ण इन चार भावों का सम्बन्ध है । उत्तरा शब्द
वृषभ (बैल) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुण शब्द पुरुष का वाचक है, एवं
सुपर्ण शब्द पत्नी का वाचक है । सूर्य साक्षात् वृषभ है-‘वृषभो रोरवीति’ । रस-उपरस-
धातु-उपधातु-विण-उपविपादि की षष्ठि सूर्य से ही होती है, इसी वर्णय कर्म से इसे
‘वृषभ’ कहा जाता है । अथि च यही गौप्राण गौपशु का आरम्भक है । तात्पर्य यह है कि
केवल वर्णशील होने से ही सूर्य वृषभ नहीं है, अथि तु, गौप्राणवच्छेदेन सचमुच वृषभ (गौ)
रूप है । सौर रश्मियों के संघर्ष से मरीचि नाम का पानी उत्पन्न होता है । साय रौदसी नैलेत्थ
इस पानी से न्पात है । जैसे पालेष्ट्य समुद्र सरस्वान् कदलाता है, तथैव संरसाधिष्ठाता वह
सौर रौदसी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है—‘ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादि संव-

सरो अजायत' (श्रुत्सं. १०।१६०।१-२)। अथ च वर्ण का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्र-
रूप है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसना दिवमुत्पतन्ति ।

त भाववृत्रन्तसदनाहनस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(श्रुत् सं० ११६४ अथवागीम सूत्र ४७ मं०)

'यदा खल्वसावादित्यो न्यङ्ग रश्मिभिः पर्यावर्तते—अथ वर्षति' इत्यादि प्राक्षणश्रुति, एवं
'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष
शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि विश्वकेन्द्रभूत सूर्य में ही
पुरुष का विकास होता है। इसी आत्मपुरुष को लक्ष्य में रखकर 'योऽसावादित्ये पुरुषः
सोऽइप्' यह कहा जाता है। त्रैलोक्य में जितना भी पुरुष (आत्म) विगर्त है, सब का
अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है, ठीक वैसा ही
आकार सौर सत्सत्ता का है। अतएव पूर्व में सत्सत्ता को—'महामुपर्ण' (त्रैलोक्य व्याप्त गरुड़
पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंश है, अतएव प्रयाणकाल में आत्मा भी
सुपर्ण नाम से ही व्यवहन होता है। यह प्रेतरूप सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में पश्चिम्
संचरण करता है। सुप्रसिद्ध गरुड़पुराण इसी आत्मगति रहस्य का निरूपण करता है। इस
प्रकार लक्षा—(वृषभ), समुद्र (अर्णव), अरुण (पुरुष) सुपर्ण—(सत्सत्ता) इन चार भागों
से नित्य आक्रान्त वह अरणावृष्टि सूर्य बुलोक में उसी प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश
में निराधार (किन्तु स्वशक्ति से आधारयुक्त) विमान (वायुयान) खड़ा रहता है। रोदसी
त्रैलोक्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

विमान एष दिवो मध्य भास्ते आ प्रविशत् रोदसी अन्तरिक्षम् ।

स विश्वाधीरभिचेष्ट घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ (यजुः सद् १७।५२) । ३३

उदा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविचेष्ट ।

मध्ये दिवो निहितः पृथिरयमा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ (श्रुत् सं० ५।४७।३) । ३३

“असौ वा आदित्योऽश्मा पृथ्विः । रश्मिभिर्हि मण्डलं पृथ्विः । एष इमौ लोका-
वन्तरेण तपति । स्थिरो वा अश्मा पृथ्विः, अन्तरेमं च लोकममुंच । विक्रम-
माणो वा एष एषां लोकानामन्तात् पाति” (शत० ६।२।१७।) ।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गधरुण केवल ज्ञानगम्य है, मन से उपास्य है । चर्मचक्षु से अश्मापृथ्विरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गधरुण के और किसी अयम को नहीं देख सकते । जिस समय भूमण्डल पर देवयुग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं ने (मनुष्यनिध भौम-
देवताओं ने—जिनकी कि सत्ता आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है) भीमस्वर्ग प्रदेश में उस प्राकृतिक (आधिदैविक) स्वर्गधरुण की मरुत में ठीक वैसा ही एक स्वर्गधरुण बनाया था । इसी प्रकार विज्ञानतत्त्वों की परीक्षा के लिए सिन्धु नद के उस पार सरस्वती नदी के समीप के टीले पर (जहाँ पर कि वसिष्ठ महर्षि का आश्रम था) एक विज्ञानमठ बनाया था । यही विज्ञानमठ 'सूर्यमदन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । 'द्वैते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुया विदुः' (ऋक्० १०।८५।१६) इत्यादि रूप से ऋग्वेद संहिता में इसका बड़ा विशद निरूपण है । यह भी प्रकृति की मरुत पर ही बनाया गया था । विस्तारमय से इसका निरूपण प्रकृत में अनपेक्षित है । इस प्रकार उस समय की कलाओं में स्वर्गधरुण और सूर्यमदन को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था । दुष्टबुद्धि अशुरों की क्रम से आज भूमण्डल उक्त दोनों विभूतियों से वञ्चित हो गया है । थोड़े से शब्दों में स्वर्गधरुण की भी गाथा सुन लीजिए ।

जिस प्रकार प्रकृति में विष्णुवादि स्वर्ग वन्द्य एवम् हैं, इसी प्रकार भौम ब्रह्मा द्वारा इस भूमण्डल पर विष्णुवादि स्वर्ग व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी । इशानयोग में सोवीरराष्ट्र के अधि-
पति भीम इन्द्र का साम्राज्य था । जो भाग आज साइबेरिया (Siberia) नाम से प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुपार पर्यन्त का (वर्तमान) साम्राज्य है, जहाँ नरद्विषक मितान अत्यन्त बुद्ध एक जगती मनुष्य, एवं बुद्ध एक बर्फीले पशु पक्षियों को छोड़कर बुद्ध नहीं है, वही का मध्य भाग किसी समय 'अमरावती' नाम से प्रसिद्ध था । यही देवाधिपति इन्द्र आनी

सुधर्मासभा में निर्णय किया करते थे । यहीं मेरुद नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला अद्भुत स्वर्गीय पत्नी था, यहाँ संवाहः हाथ वाले 'मेमार्थ' नाम के हाथी होते थे । इस प्रकार देवयुग में उक्त स्थान मानव सम्भ्यता का सर्वोत्तम स्थान बना हुआ था । धोर धोर सब देव स्थानों पर अधिकार करने पर भी अमर इस विश्व में आक्रमण न कर सके । अतः यह 'अपरराजितादिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई । यही ऐन्द्रधाम पुरायुग में 'इन्द्रविष्टप' था । प्राग्देह (पामीर) पर कान्तिमतीसभा युक्त प्राग्ज्योतिष नगर में ब्रह्मविष्टप था । एवं उत्तर दिशा में इन्द्र ब्रह्म के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में भद्रगिरि-चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों के मध्य में विष्णुविष्टप था । इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध थी । इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंश पर चौथा ब्रह्मरथ-विष्टप था । यही देवताओं की देवयजन भूमि थी । देवता यहीं यज्ञ किया करते थे । उचार कस में जो झील आज के भुवनकोप (भूगोल) में 'वालकश' नाम से प्रसिद्ध है, वही देवयुग में 'माची सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध थी । देवतालोग इती नदी में अचभृयस्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे, यही स्थान अन्नरथविष्टप था, यही स्वर्गधरुण था । यही स्वर्ग का परिचायक था । यहां से चारों ओर रास्ता जाता था । ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग, उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर पितृमर्ग था । जिसे आज 'मंगोन्धिया' कहा जाता है, वही हमारा 'प्रदो' नाम का पितृलोक था । इस प्रकार चारों ओर गमन के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-चौराहा) में स्वर्गधरुण खड़ा था । चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चोकोर ऊंचा चबूतरा बनाया गया, इस पर बड़े शिखर से (नीचे से बढ़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा) एक पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अग्ना था । इस अग्ना के सर्वोच्च धरातल पर प्रवृत्तिवत् (एको अश्वो महति सतनामा-श्वक्० १२६४२१) घातु का एक अश्व बनाकर उसके सुवर्ण के सात मस्तक बनाए गए ।

इस सप्तमुख अश्व के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर चमकता हुआ रश्मियुक्त सूर्य प्रतिष्ठित किया गया । रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृथ्विन नाम रखा गया । यह बनावटी

सूर्य दिन-रात समान रूप से प्रकाशित रहता था। चारों मार्गों के पथिकों को मार्ग बतलाना इसका मुख्य काम था। सब से नीचे चक्रवर्ते के चारों ओर एक चतुर्भुज मण्डल बनाया गया था। इस मण्डल के चारों कोणों में क्रमशः उत्ता-समुद्र-अरुण-सुपर्णा यह चार वस्तुएं प्रतिष्ठित की गई थीं। एक कोण में पाषाण का वृषभ (बैल) खड़ा किया गया था। दूसरे कोण में बैल से ठीक नीचे एक गरुड पक्षी था। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए यह ऊपाटा मार रहा हो। तीसरे कोणमें अश्व पर एक मनुष्य बनाया गया था। उसके हाथ में एक माला था, और वह माला भूर्गर्म में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर माला गड़ा हुआ था, वहां से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सगेवर) में निरन्तर जाता रहता था। इसी पानी से वह तालाब सदा भरा रहता था। आश्चर्य यह था कि भाले से निकले हुए पानी के निरन्तर आने पर भी उस तालाब में से (ओर किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का द्वार न होते हुए भी) पानी अपनी नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। देवाधिपति इन्द्र के इस शिल्प से उस समय सास विष्व चकित था। आधिदैविक स्वर्गधरुण की इस प्रतिमा से इन्द्र का यश सर्वत्र व्याप्त होगया था। इसी प्रतिमा-रूप भौतिक धरुण का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आसूर्य रोहयद्विवि ।

वि गोभिरद्रिमैरयमव । (ऋक्सं० १।७।३१) ।

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विरवा वेद सवना द्दन्ति शुष्णम् ।

महीं चिद्द्यामतनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कम्भनीयान् ॥

(ऋक्सं० सं० १०।१११।५१) ।

ध्याने के परिलेख से स्वर्गधरुण की प्रतिमा का उक्त स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन्द्र के प्रतिमा शिल्प से तत्कालीन प्रदाने इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि 'ततो वा इन्द्राय प्रमाः श्रेष्ठयायातिष्ठन्त-तच्छिल्पं परयन्त्यः' इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जा चुका है।

विज्ञानघनसूर्यप्रकारण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संवत्सरात्मक स्वर्गधरुण का दिग्दर्शन

कराया गया, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक वाङ्मय सूर्य का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सत्व-रज-तम-इन गुणों के आधार पर होती है। इन तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानप्रधान सत्वगुण निष्क्रिय होने से, अर्थप्रधान तमोगुण जब होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यपतित क्रियाप्रधान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्व की प्रधानता रहती है तो सात्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, रज रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। ज्ञानसत्व श्रुतिर्मय होने से शुभ्र (शुक्ल) माना जाता है, तम आन्तररूप होने से कृष्ण माना जाता है, एवं मध्यपतित रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुरक्त है—'रजोनुपे जन्मनि सत्ववृत्तये'। महत् प्रकृति इन शुक्ल-रक्त-कृष्ण भावों से युक्त अज पुरुष की अजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्बहद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार स्वप्रकृतिभूत, अतएव 'अजा' नाम से प्रसिद्ध इस महत् प्रकृति से युक्त होकर ही अजपुरुष सृष्टि किया करता है। जैसा कि—'अजापेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः' (श्वेता० ४।५) इत्यादि से स्पष्ट है। बतलाना यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के त्रैगुणभाव पर निर्भर है, एवं यह त्रिगुणता सूर्य के दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महदात्मा-धिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूर्य ज्ञान-क्रिया-अर्थ-भूति है। यही तीनों भाव महद्ब्रह्म में सत्व-रज-तम रूप से विकसित होते हैं। सत्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, विषयभावस्था में जाते हुए तीनों ही दोष हैं। सत्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इस से (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्व का प्रवर्तक मूर्ध ही है, अतएव—'सत्वाद्भि महानात्मा' इत्यादि रूप से बुद्धिरूप सूर्य को, किंवा सूर्यरूपा बुद्धि को 'सत्व' कहा जाता है—(देखिए कठोप० ६।७)। जिस जीवात्मा में सत्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान और आनन्द (आत्मानन्द) कला का विकास रहता है। सत्व (विद्याभाग) अन्यथात्मा के विद्यारूप आनन्द

विज्ञान को विकसित करता है। जो धीरे सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं, उनमें सत्व की ही प्रधानता है। यह सदा ज्ञान से ही परिश्रम करते हैं। इनसे शरीरायास नहीं हो सकता। जिस में वर्गप्रदक्षता अधिक है, काम्य कर्मों में, सांसारिक धर्मों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उसमें रजोगुण की प्रधानता समझिए। एवं प्रमाद-भ्रालस्य-अतिनिद्रा-अतिभोजन-निरर्थक कालयापन-यथ सत्तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए गीता० १४-अ० ६, ७, ८ श्लो०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (सौर दर्शपूर्णमास द्वारा) उत्पन्न होकर देहस्थित जीवात्म्य को बंधन में डाल देते हैं, जैसाकि स्मृति कहती है—

सत्यं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

नियञ्जन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४।५)।

इस प्रकार आपोयोनि में वाग्देह से उत्पन्न, महदब्रह्म में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अक्षररूप, अव्यय-क्षरके विद्या-अविद्या से उभयरूप बने हुए लोकद्रष्टा सहस्रांशु भगवान् विष्वक्के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अद्यात्मसंस्था में आने वाला वही सौर भाग 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक विज्ञानात्मा (सूर्य) का निरूपाय समाप्त हुआ, अब आध्यात्मिक सूर्य (विज्ञानात्मा) का दिग्दर्शन कराया जाता है।

विद्या-अविद्यात्मक यह मूर्ध्नि अथवा मज्जत् में—'विज्ञानात्मा' 'बुद्धि' 'चान्दुपपुरुष' 'क्षेत्रज्ञात्मा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के साथ प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आगम्य, इन चार चार भागों का सम्बन्ध है। अद्यात्मसंस्था में जितने भी आत्मविकर्त हैं, सब के प्रभवादि भिन्न भिन्न हैं। आध्यात्मिक आत्मार्थों का उत्पत्तिस्थान प्रभव कहलाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वह द्वार ही योनि है। आकर शरीर के जिस स्थान में यह उक्थरूप से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं अर्क रूप से जहाँ तक यह व्याप्त रहते हैं, वही व्याप्ति स्थान आगम्य है। प्रसंगात्त इन् का भी दिग्दर्शन करा देना आध्यात्मिक न होगा। सब से पहिले आध्यात्मिक पोटरी पुरुष पर ही दृष्टि डालिए। आध्यात्मिक

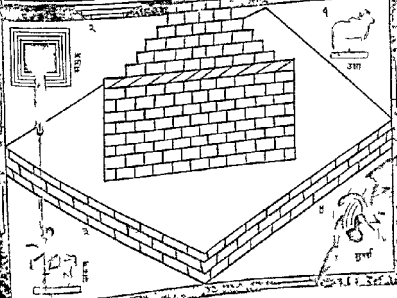
101
BH
S N.

विज्ञान एव हि ज्ञेयं भव्यं ज्ञाने ज्ञा पश्यिष्यत् सोऽहमी ज्ञानरिष्यत् ।
 म विद्यावी रमिष्यते प्रजावी रजाय पूर्वं चण्ड न ते जुषु ॥ १
 उहा रागुन्ने । चक्रम सुपर्णं पूर्वस्य केनि विष्णु राविसेश
 मन्दे विवेके विदिन नु विरचना विवकमे स्तस्यप्रायसनी । १४
 जज्ञे ज्ञा ज्ञानिके प्रजापति रातिविहि अल्ल ल म्पति । एव इतीभोऽप्यज्योदेश जगति
 स्थिते या जगत्त प्राप्ति जगदेव नु सोऽप्य न्नु । न अस्तिजगत्त एतेन एव प्रजापते ज्ञानराजान्
 पति म्पति ॥ १५ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥



सर्गधरुणम्

इदो दीपिणं चण्डे ज्ञा सूर्यं देव्यदिति । तत्र तेपि यद्वि सेत्वात् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥



सर्गधरुणम्

इन के आशय हैं । सातवां शरीर है । प्राणभौतिक शरीर के पांचों भूत प्रभव हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र-शोणित इन भूतों की योनि हैं । उत्पत्त्यनन्तर पञ्चभूतसमष्टिरूप पञ्चविध अन्न (अन्न-जल-गर्मी-वायु-शब्द) योनि हैं, इन्हीं के द्वारा भूतों का आगमन होता है । आशय सर्वाङ्गशरीर है । आठवां प्राणात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा है । इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कलाएं हैं । इन में वैश्वानर का प्रमथ त्रिवृत्स्तोमस्थानीय पार्थिव चित्ति-धेयादि है, योनि नाभि है, प्रतिष्ठा दक्षिणपार्श्व है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । भ्रान्तरि-क्षय पञ्चदशस्तोमस्थानीय वायु तैजसत्मा का प्रमथ है, हृदय से निकल कर कण्ठ तक व्याप्त रहने वाली तेजोनाड़ी योनि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । एक-विंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य चादित्प (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रमथ है, सुषुम्णानाड़ी योनि है, भ्रूसंधि प्रतिष्ठा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है । इन सब में प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न बतलाई गई है, परन्तु अन्न इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है-‘सर्वमन्ने पतिष्ठितम्’ । कारण इस का यही है कि जब तक धनाहनि होती रहती है, तभी तक यज्ञसत्ता है, यज्ञसत्ता पर अन्त्यामनस की सत्ता है—“अधियज्ञोऽह्मेशान देहे देहमृतां वर” (गीता = ४) ।

तद्विद्—सर्वम्		षोडशीपुरुषः—	पुरुषः—	षोडशी
१—	अन्यत्मात्मा—	अन्यत्मा—	स्वयम्भू-	
२—	महानात्मा—	महान्—	परमेष्ठी	
३—	विद्वानात्मा—	बुद्धिः—	सूर्यः	
४—	प्रज्ञानात्मा—	मनः—	चन्द्रमाः	
५—	कर्मात्मा—	भोक्तात्मा	—	पृथिवी
	इन्द्रियाणि—	भोगमाधनानि		
	शरीरम्—	भोग्यफलनम्		

इन्द्रियेभ्यः परार्था, क्रौंश्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरामा महान् परः ॥
महान् परमस्यकं, अन्यत्मात् पुरुषः परः ।
पुरुषात् परं क्रिन्वि त्सा काष्ठा सा परागतिः ॥
(कठोपनिषत् १ क. १ ३ व. १ २०-२१)

उक्त आत्मप्रपञ्चों में से प्रकृत में केवल विज्ञानारमा के ही प्रमवादि का विचार अपेक्षित है। सूर्य इस का उत्पत्ति स्थान है, उत्पन्न होकर यह केशान्तद्वार से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। अक्षरब्ध नाम से प्रसिद्ध केशान्तस्थान से सतत आते रहने वाले सौरदेवमय इसी विज्ञानप्राण को आसुरप्राणप्रधान लौहचुरिका से बचाने के लिए शिखा रखने का आदेश है। इस सुसूक्ष्मद्वार से विज्ञानशिव हृदयस्थ प्रज्ञानात्मा (मन) पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यहाँ उन्यरूप से प्रतिष्ठित होकर, अर्करूप से विज्ञानप्रकाश सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है। हृदयविन्दु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र तक एक नियत मार्ग बना हुआ है। हृदय से नीचे पार्थिव अपानप्राण का साम्राज्य है, हृदय से आरम्भ कर ऊपर तक सौरप्राण की प्रधानता है। यह दोनों प्राण (पार्थिव अपानप्राण, सौर प्राणप्राण) क्रमशः पृथिवी और सूर्य केन्द्र से बढ़ हैं। यही स्थान क्रमशः अधःस्वस्तिक एवं खस्वस्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। खगोलीय सौर स्वस्तिक खस्वस्तिक है, भूगोलीय पार्थिव स्वस्तिक अधःस्वस्तिक है। इन दोनों स्वस्तिकों से उभयतः परिच्छिन्न बना हुआ यह अमूलपुरुष इतस्ततः विचरण किया करता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

“अन्तरिक्षं वाऽमनु रक्षश्चरति—अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम् ।

यथायं पुरुषोऽमूल उभयतः परिच्छिन्नोऽन्तरिक्षमनुचरति” ॥

(शत० ब्रा० १।१।२।४।)

इस स्वस्तिक का दिग्दर्शन पुरुषारमाधिकरण में कराया जालुका है—(देखिए ई. वि-
भा. १४० पृ.) । प्रत्येक व्यक्ति के उक्त दोनों स्वस्तिक मिल भिन्न हैं। यही दोनों स्वस्तिक
हमारे जीवन की प्रतिष्ठा हैं। सौर-पार्थिव रस से ही हम उत्पन्न हुए हैं, एवं इन्हीं रसों से
जीवित हैं। जब तक वैयक्तिक स्वस्तिक शान्त रहता है, तभी तक उस व्यक्ति की स्वस्तिक
(शिव-कल्पाण) है। स्वस्तिकभाव की प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें ‘स्वस्तिक’ कहा जाता है।
यह स्वस्तिकवृत्त वृत्त के सम्बन्ध से चतुर्भुज बन जाता है। सुष्टिरहस्यवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक

प्राणी का खगोल एवं भूगोल नियत है। उन नियत भागों के रसों से ही तत्तद् प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वस्तिकामना के लिए भारतीय देशधर्म में स्वस्तिक का पूजन क्रिया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्श्वों में दोनों स्वस्तिक चित्र स्थापित किए जाते हैं। इनमें दक्षिण स्वस्तिक अधःस्वस्तिक वी, एवं उत्तर स्वस्तिक खस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहने वाला, ब्रह्मप्रणिय (मूलद्वार) से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव अपानप्राण अधःस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत भूकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहने वाला, ब्रह्मरन्ध्रसे प्रविष्ट होने वाला सौरप्राण (विज्ञानात्मा) खस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। जैसे नियत स्थान पर जानें के लिए नियत मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्य-केन्द्र तक खस्वस्तिकरूप स्वतन्त्र मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपने अपने खस्वस्तिकरूप नियत महापथों से प्रतिक्षण सूर्य में जाया करता है, एवं आया करता है। एक निमेष (पलक) में यह विद्युन्मय विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविधवर्णयुक्त सौर रश्मिर्ष व्याप्त रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मिर्ष ही है। व्यक्तिमेद से सर्वथा विभक्त इसी सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

“अणुः पण्या विततः पुराणो मां शृणो अनुविचो मयैव ।

तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित जर्ध्वं विमुक्ताः ॥ १ ॥

तस्मिन् शुभ्रमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।

एष पण्या ब्रह्मणा दानुवित्तन्तेति ब्रह्मविद् पुण्यकृद् तैजसश्च ॥ २ ॥

(शत. १४।७।२) ।

हृत्प्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को व्याध्यामिरु चन्द्रमा समन्विय, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समन्विय। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्य प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

प्रभव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परिलेखः

- १-प्रभवः-(उत्पत्तिस्थानम्)-ईश्वरात्मा,शुक्र-योगमायाच } "पुराण परं किञ्चित्,सा-
काष्ठा सा परा गतिः"
२-योनिः-(प्रवेशद्वारम्)-महानात्मा (महत्सोमः) }
३-प्रतिष्ठा-(स्थितिस्थानम्)-सर्वान्तरिमो दहराकाशः }
४-आशयः-(ध्याप्तिस्थानम्)-शरीरम् }
पोद्शीपुरुषः-→अमृतात्मा
(अव्यक्तात् पुरुषः परः)

- २
१-प्रभवः-स्वयम्भूः
२-योनिः-शिरोयुद्धा
३-प्रतिष्ठा-हृदयम्
४-आशयः-शरीरम्
अव्यक्तात्मा-(प्राकृतात्मा) १-अव्यक्तम् ब्रह्मसत्यात्मा
(महतः परं → → →)

- ३
१-प्रभवः-परमेष्ठी
२-योनिः-शुक्रम्
३-प्रतिष्ठा-हृदयम्
४-आशयः-शरीरम्
महानात्मा (प्राकृतात्मा) २-महान् ब्रह्मसत्यात्मा
(बुद्धेरात्मा (परः) → → →)

- ४
१-प्रभवः-सूर्यः
२-योनिः-नान्दनम्
३-प्रतिष्ठा-हृदयम्
४-आशयः-शरीरम्
विज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ३-बुद्धिः ब्रह्मसत्यात्मा
(मनसस्तु परा → → →)

- ५
१-प्रभवः-चन्द्रमाः (अलम्)
२-योनिः-शुक्रम्
३-प्रतिष्ठा-हृदयम्
४-आशयः-शरीरम्
ब्रह्मनात्मा (प्राकृतात्मा) ४-मनः ब्रह्मसत्यात्मा
(इन्द्रियेभ्यः परं → → →)

१-प्रभवः—भास्वरसोमः

६ २-योनिः—प्रज्ञानम्

३-प्रतिष्ठा—ब्रह्मरन्ध्रम्

४-आशयः—पञ्चेन्द्रियाणि

(इन्द्रियाणि (कर्मावच्छिन्न-
शरीरतः) पराण्याहुः)
संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रियं-

मनः-१

१-प्रभवः—दिक्सोमः

७ २-योनिः—प्रज्ञानम्

३-प्रतिष्ठा—श्रोत्रविकरे

४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)

श्रोत्रे २

१-प्रभवः—आदित्यः

८ २-योनिः—प्रज्ञानम्

३-प्रतिष्ठा—बलुविकरे

४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)

बलुपी ३

१-प्रभवः—वायु

२-योनिः—प्रज्ञानम्

९ ३-प्रतिष्ठा—नासाविकरे

४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)

नासिके (माणः) ४

१-प्रभवः—अग्निः

२-योनिः—प्रज्ञानम्

१० ३-प्रतिष्ठा—जिह्वा

४-आशयः—मनः (प्रज्ञानम्)

जाक् ५

णिः

या

दि

नि—३

का

स

वा

हे

ष

प

इन्द्रियाणि — पराण्याहुः

०३०

वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्तिः—

श्रित्तिकाश्चिन्द्रकृतत्मा प्राणात्मा क्वा

कर्मात्मा देवसत्यः—

- ११ (१)
- १—प्रमवः—एवमिंश आदित्यः
 - २—योनिः—सुषुम्णानाडी
 - ३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
 - ४—आशयः—शरीरम्

प्राणात्मा—आदित्येन्द्रः—देवसत्यः—१ प्राज्ञः



- १२ (२)
- १—प्रमवः—पञ्चदशो वायु
 - २—योनिः—तेजोनाडी
 - ३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
 - ४—आशयः—शरीरम्

तेजसात्मा—वायु—देवसत्यः—२ तेजसः



- १३ (३)
- १—प्रमवः—त्रिवृदतिश्चिन्नेतिथैवः
 - २—योनिः—नाभिः
 - ३—प्रतिष्ठा—जाठराग्निः
 - ४—आशयः—शरीरम्

वैश्वानरात्मा—अग्निः—देवसत्यः—३ वैश्वानरः



त्रिकलः—कर्मात्मा देवसत्यः

१-प्रभवः—पञ्चीकृता मृत्

२-योनिः—शुक्रशोषिते—अन्नश्च

३-प्रतिष्ठा—अग्निश्चिलः

४-आशयः—शरीरम्

अस्थिमांसादयो घनपदार्थाः १

१-प्रभवः—पार्थिवः पञ्चीकृताः

२-योनिः—शुक्रशोषिते—आपश्च

३-प्रतिष्ठा—आपः

४-आशयः—शरीरम्

असुप्तसादयन्तारत्नपदार्थाः २

१-प्रभवः—पञ्चीकृतो ऽग्निः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोषिते—तेजश्च

३-प्रतिष्ठा—तेजः

४-आशयः—शरीरम्

ऊष्मा ३

१-प्रभवः—पञ्चीकृतो वायुः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोषिते—वायुश्च

३-प्रतिष्ठा—वायुः

४-आशयः—शरीरम्

धमन्यो वायुवाहिन्यः ४

१-प्रभवः—पञ्चीकृतो आकाशः पार्थिवः

२-योनिः—शुक्रशोषिते—शब्दश्च

३-प्रतिष्ठा—आकाशः

४-आशयः—शरीरम्

सुरिरालि ५

“ १ मृत् २ मृत् ३ मृत् ४ मृत् ५ मृत् ”

शरीरं—मूलप्रतिष्ठा

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं इसी प्रकाश के तात्पर्य से जैसे वहां अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि भाव उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह यह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं प्रकृतिवत् अध्यात्मसंस्था में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय होता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिना) ३० दिन का होता है, एवं आध्यात्मिक मास एक अहोरात्र का है। अहःकाल शुक्लपक्ष है; रात्रिः काल कृष्णपक्ष है। प्रकृति में क्या होता है ! पहिले इस का विचार कीजिए। सूर्य विषयकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। जब चन्द्रमा परिक्रमा लगाते लगाते पृथिवी के इस ओर आजाता है तो सूर्य का पूर्ण प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है। घूमते घूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से वंचित होजाता है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा के संगम से दश (अमावास्या) का जन्म होता है—'दशः सूर्येन्दुसङ्गमः'। पृथिवी के केन्द्र से काटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा खेजाए। इन रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म होजाता है। शुक्लाष्टमी में सायंकाल आधा (चतुर्थ) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एवं कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ घंटे आधा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एवं न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा काला रहता। अर्थात् प्राकृतिक स्थिति के अनुसार आधा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में दृश्य आधा भाग प्रकाशित है, अदृश्य आधा-भाग अप्रकाशित है। अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है; पृथिवी की ओर का आधा भाग अप्रकाशित है, अतएव यह नहीं दीखता। इस स्थिति के अनुसार अष्टमी में चतुर्थ भाग को ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है। वस्तुतः सभी तिथियों में सदा ही आधा भाग प्रकाशित, एवं आधा भाग अप्रकाशित रहता है। दूसरी दृश्यस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार कलाविभाग मान लेते हैं। यह है आधिदैविक जगत की परिस्थिति।

वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूँघ सकता, न स्वाद लेसकता, परन्तु वाग्ज्यापार करता रहता है। चूँकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अन्तर्गत होती है 'सुप्तोऽहं किल विललाप' (उदयनाचार्य कृत बुभुक्षालि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखे जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसंगमलक्षणा अमावास्या है, यही 'सुप्तुम्निराल' है। यहा वाग्ज्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रियें (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तम्भ बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अध्यात्मजगत में भी दर्शादि का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक जगत् में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर-जाता है, उसकी बुद्धि भी मष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अना-इति से बनता है "अन्नमयं हि सौम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति मष्ट हो जाती है "बुभुक्षितं न प्रतिमानि किञ्चि-त्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रज्ञान दोनों सपरिष्कृत (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गर्भित विज्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान विद्वधन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रियं विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। वि-प्यजात (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित है। इस प्रकार आत्म-ज्योति का भूतपदार्थों तक बितान करना विज्ञानपञ्चाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति घटजाते हैं। विज्ञानात्मा को लक्ष्यरूप से जहा हमने स्थिर बतलाया है, वहां अर्करूप से उसे सर्वज्ञशरीर

अथ आध्यात्मिकमनसा का निवार कीजिए। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त त्रैलोक्य की सत्ता समझिए। इस त्रैलोक्य का अधिष्ठाता हृदयस्य विज्ञानसूर्य है। हृदय पर मनरूप चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। हृदय विन्दु से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सोमधरातल है। इसी को 'वाण' (स्थिर यष्टि) कहा जाता है—(देखिए परमोपनिषत् २। २।) मुखस्थान अग्निप्रधान पृथिवीलोक है। नासिकास्थान वायुप्रधान अन्तरिक्षलोक है। चक्षुस्थान आदिसम्प्रधान द्युलोक है। श्रोत्रस्थान दिक्सोमप्रधान शैया आपोलोक है। स्वयं ब्रह्मरन्ध्र मन की अन्तिम प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस सोमधरातल पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य, किंवा चारों लोक प्रतिष्ठित हैं। कण्ठस्थान में एक सांसपेशी अथवा छटकी रहती है, इसी के लिए—'स्वन इवापानमन्वे' यह कहा जाता है। यही गमलन लोकनाया में 'कागर्भी' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रियोनि' नाम से व्यवहृत हुई है। इस की स्थिति वाक् (मुख) इन्द्रिय के समधरातल पर है। यही वास्तविक मूलोक है। ब्रह्मरन्ध्र से एक प्रादेश पर यह कण्ठविन्दु है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदय-विन्दु है। यहां से मन ऊपर की ओर चसता है। चलने २ वागरूप पृथिवी लोक को पार कर जब यह अग्नी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्र पर पहुंच जाता है तो ऐसी अवस्था में इस पर हृदयस्य विज्ञानसूर्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। यही इस की पूर्णिमा है। इन्द्रिएं इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अतएव मन के प्रकाश से सारी इन्द्रिएं प्रकाशित हो पड़ती हैं। मानस प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रिएं अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। इसी पूर्णिमाकाल का नाम 'जाग्रदवस्था' है। वहां से मन क्रमशः नीचे उतरता है। जब वाक्स्थान पर आता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अन्धकार हो जाता है। श्रोत्र का अन्धश्रवण, चक्षु का रूपदर्शन, रसना का स्वादग्रहण सब अवरुद्ध हो जाते हैं। हां मुख (नासा)-आण इस समय भी, इस समय भी क्या 'प्राणाप्रय एवमस्मिन् पुरे जाग्रति' (परमोप० ४। ३।) के अनुसार सदा ही जाग्रता रहता है। नास-प्रवाह घोर सुषुप्तिकाल में भी यथावत् चलते रहते हैं। वाक् स्थितिस्थान है, यही अर्थ है—'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' (छत० १४। २। ४।) यही मन की संविद्यातीका 'स्वप्नावस्था' है। इस में और किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

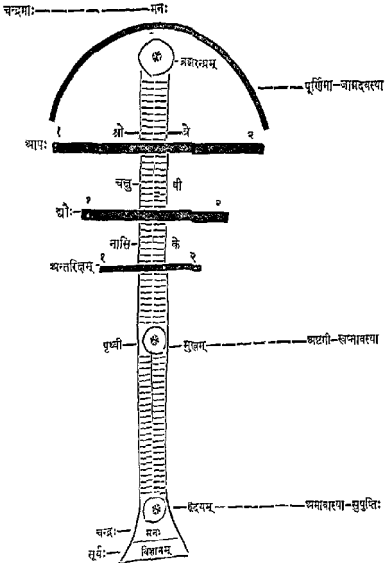
वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूँघ सकता, न स्नाद लेसकता, परन्तु वाग्ज्यापार करता रहता है। चूँकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अन्तर्गल होती है 'सुप्तोऽहं किल विललाप' (उदयनाचार्य कृत कुसुमाञ्जलि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ (देखा जाता है)। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयपर्यन्त विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसगमल-क्षण अमावास्या है, यही 'सुषुप्तिमाल' है। यहाँ वाग्ज्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रियें (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तब्ध बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अर्धव्यात्मगत में भी दर्शादि का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक अणु में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर-जाता है, उसकी बुद्धि भी नष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अज्ञा-हृति से बनता है "अन्नमयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चि-त्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रज्ञान दोनों सपरिच्छिन्न (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्त्व महद्गर्भित चिञ्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान चिद्धन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिय विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित है। नि-षण्णता (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित है। इस प्रकार आत्म-ज्योति का भूतपदार्थों तक वितान करना विज्ञानपद्माभिप्राता एक मात्र विज्ञान का ही कार्य है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को उक्तरूप से जहाँ हमने स्थिर बतलाया है, वहाँ अरुणरूप से उसे सर्वाङ्गशरीर

में व्याप्त बतलाया है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चक्षु (दहिनी आँख) में ही होता है, क्या यह कम आश्चर्य है। हृदय से वितत विज्ञान दक्षिण आँख पर आकर आँख से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रदेश तक ही इस की गति होती है। दृष्टि के अनूक्त और प्रतीक यह दो भेद हैं। सीधी दृष्टि अनूक्तदृष्टि कहलाती है, तिरछी दृष्टि प्रतीकदृष्टि कहलाती है। आप प्रतीकदृष्टि से इस चाक्षुष पुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सूर्य का अंश है, सूर्य स्वयं एकविंश है, अत एव तदंशभूत विज्ञानात्मा के २१ ही रूप होजाते हैं। इस पर आप दृष्टि नहीं ठहरा सकते। दक्षिण आँख के प्रतीकभाव से आप ज्यों ज्यों इसे देखते जायेंगे, त्यों त्यों यह इधर उधर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विज्ञानात्मा की सर्वोत्कृष्ट उपासना है। यह इन्द्रात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणाङ्ग पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचक्षु में ही इस का विकास होता है। वामचक्षु में भी प्रतीकदृष्टि से आपको एक विन्दु के दर्शन होंगे, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। वामाङ्ग की प्रधान है, अतः इन्द्रपत्नी का विकास वामचक्षु में ही होता है। उक्त विज्ञान को आप सर्प (सरसों) के आकार में देखेंगे। मक्षिका (मक्खी) के पर में जैसा विचित्र वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि आप इसे सूर्यप्रकाश (धूप) में न देख सकेंगे। यह जब भी देखेगा, पार्थिव तमोमय पूषामाण के गर्भ में (झाया में) ही देखेगा, जैसा कि आगे आने वाले 'हिरण्यमयेन पात्रेण'० इत्यादि मन्त्रनाम्य में स्पष्ट होने वाला है। इस का चक्षु से प्रदेश मात्र (१०॥ अङ्गुल) बाहर निकलना बतलाया गया है। वस्तुतः यह चक्षु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकला हुआ दिखाई देता है। आदर्श (काच—आत्मा) में आप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि आप आदर्श से दूर हटते जाते हैं तो आपको अपना प्रतिबिम्ब भी काच के भीतर पीछे हटता हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों आर काच के समीर आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होना है, मानों आपका प्रतिबिम्ब समीर आता जाता है। वस्तुतः काच एक घन पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे आने के लिए स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही घरातल पर प्रतिष्ठित है। केवल काच की

आध्यात्मिक-अवस्थात्रयी-परिलेख



वीजता ही आगति-गतिभाव उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। चन्द्र-पटल एक प्रकार का काच है। इस पर हृदयस्थ विज्ञान का तेजोनाड़ी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कण्ठस्थान में स्थित स्योनि (इन्द्रयोनि) पर आता है तो चन्द्र के बाहर एक प्रादेश हटा हुआ मालूम होता है, क्योंकि इन्द्रयोनि हृदय से एक प्रादेश पर है। स्व-स्थान पर लौट आने से केवल चन्द्र पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चन्द्र सम्बन्ध से—'चान्दुपपुर', दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिष्ठा) 'ग्रहः' (प्रकाशमण्डल) है, इस चान्दुपपुर की उपनिषत् 'अहम्' (चिद्गर्भित महान्) है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्वोक्ति महापथ में संयुक्त हो रहे हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

“तद्यत् तव सत्यमसौ स आदित्यः । य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः,
यश्चायं दक्षिणेऽचन्द्र पुरुषः, तवेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ।
रश्मिभिरपोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)” ।
(बृहदा० उप० ५।४।) इति ।

इस की प्रतिष्ठाभूमि हृदयस्थ है। जिस प्रकार एक दीपशिखा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है, एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपार्थिरूप विज्ञानप्रभु प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्त्वस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कर्तुरूपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १ ॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तोपां यो भिन्वा सूर्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ २ ॥

(याज्ञ. सू. प्रा. अ. यतिधर्मप्रकरण १६६-१६७ श्लो.) ।

यह चान्दुपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा चान्द्र होने से ससंग है। सौर अग्नि जहां तेजःमधान बनता हुआ असंगभाव का प्रवर्त्तक है, वहां चान्द्रसोम अनेह-मधान बनता हुआ ससंगभाव का प्रवर्त्तक है। चान्दुपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का अंश है, फलतः इसमें भी विद्या-अविद्या दोनों भागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि यह विज्ञानात्मा प्रज्ञान-मन की ओर झुक जाता है तो इस का अविद्याभाग विकसित हो जाता है। कारण इस का यही है कि भौतिक विषय आवरणरूप हैं, जड़ हैं। इन विषयों में इन्द्रियों के द्वारा मन आसक्त रहता है। मन स्वभावतः विषयों की ओर अनुधान करता रहता है—(दौड़ लगाता रहता है)। इस अनुधान का कारण यही है कि मन की जीवनीय संपत्ति चिदानन्द है। विज्ञान द्वारा आया हुआ चिदानन्द (अन्यथानन्द) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एवं विज्ञानधरा का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तन्त्र से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रभव के आगमन से ही जीवन धारण करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपनान्दादरु चूंकि आत्मानन्द है, अतः मन को स्वरूपसत्ता के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अपेक्षित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का स्वाभाविक धर्म है। मन की इसी सुखैरणा (सुखेन्द्रा) का नाम है—'असनाया', यही बुद्धि है। इसे ज्ञान करने के लिए मन बाहर निकलना है। इस के निकलने के द्वार इन्द्रिणं हैं। इन्द्रियों की गति पराक् (बाहर की ओर—विषयों की ओर) है। मजापति ने इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर किया है। जो वस्तु बाहर के रूपों को देखा करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, किन्तु हृदयस्थ आत्मा पर उम का गमन कैसे संभव है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिणं स्वरूप को देखने में असमर्थ होती हुईं, आत्मदर्शन में नितान्त असमर्थ बनती हुईं, केवल विषयभोग में लीन रहती हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति वचनों से स्पष्ट है—

“पगाधि गानि व्यवृणत्स्वयम्भुस्तस्मात् पराद् परयति नान्तरात्मन् ।
 कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैतद्वाट्टचचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषत् २।१।१)।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्यो, न विजानीमो,
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि" (केन० १।३।)।

विषयों में जो आनन्द है, वह इन्द्रियों से आया हुआ है। विषय आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु इन्द्रियं आनन्द का कारण हैं। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रियें स्वस्थ रहती हैं, सबल रहती हैं, तभी तक विषय आनन्दमय मातृम होते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण हो जाने पर, निर्बल होजाने पर, अथवा नष्ट होजाने पर वही विषय दुःखद बन जाते हैं। इन्द्रियों में जो चिदानन्द का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा यह आनन्द इन में आया है। फलतः इन्द्रियं भी आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु मन आनन्द का कारण है। जब तक मन स्वस्थ दशा में रहता है, तभी तक देखने, सुनने, खाने, पीने, बोलने में आनन्द आता है। यदि मन किसी कारण से व्याकुल होजाता है तो इन्द्रियं सर्वथा स्वस्थदशा में रहती हैं भी दुःख का कारण बन जाती हैं। उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता। मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रातिखिक संपत्ति नहीं है। विज्ञानात्मा से ही इस में चिदानन्द का आगमन हुआ है। अतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयजात से वास्तविक आनन्द उठा सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहां चन्दनगंध आनन्द का कारण है, एक गर्दभ के लिए वह चन्दन सामान्य काष्ठ से अधिक मूल्य नहीं रखता—'यथा खरो चन्दनभास्वाही, भास्य वेत्ता न तु सौरभस्य'। विज्ञान में ही आनन्द है। बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है। जिस की अक्षय (अवल) मारी गई, वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है। अपि तु सत्य नाम से प्रसिद्ध, अद्वैतप्रवर्तक महद्गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक 'अहं' (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है। जब अहंमा-नन्दमय (आत्मा) मूर्च्छित हो जाता है, अथवा शरीर से उत्क्रान्त होजाता है तो सारी अप्यात्म-संस्था उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार अन्ततो गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द मानना पड़ता है। बात है भी ठीक। जो धन उपार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आसक्तता। आनन्द तो दूर रहा, ऋणग्रस्त व्यक्ति तो उलटा चिन्ता में पड़ जाता है। आगन्तुक वस्तु यदि आई है तो—‘संयोगा विषयोगान्ताः’ इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी न कभी अवश्य वापस जायगी। विषय—इन्द्रियवर्ग—प्रज्ञान(मन)—विज्ञान (बुद्धि) इन सबमें हम जो आनन्द मात्रा देखते हैं, वह आगन्तुक है—‘तस्थैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति’। यह आगन्तुक आनन्द अस्थायी है, अतएव चिरशान्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। साथ ही में विषयबद्ध इन्द्रियानन्द, इन्द्रियबद्ध मन का आनन्द, मन से बद्ध बुद्धवानन्द सब हृदयस्थ आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव बुद्धिमान्, मनस्वी, शास्त्रों का पारंगत कोई भी वहां नहीं पहुंच सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिषद्-च्छ्रुति कहती है—

नायमात्मा भवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमवेप वसुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वितृणुते तनूं स्वाम् ॥

(कठोपनिषत् । १ । २ । २२ ।

‘सो जानें जेहि देहि जनार्ज’ महात्मा तुलसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस दिन आत्मा के ऊपर ध्याय हुआ आवरण हट जाता है, उस दिन आदित्यवत् स्वतः एव वह प्रकाश हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करता, केवल मेघावरण हटा देता है, पहिले से ही विद्यमान सौर प्रकाश अपने आप प्रकट हो जाना है, तथैव शास्त्रोपदेश-उपासना-ज्ञानयोगादि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आवरण मात्र हटा देते हैं। आत्मा तो स्वतःप्रकाशरूपा है, उस के लिए अन्यसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अतः इस में मन—इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो ‘तद्विज्ञानेन परिपरपन्नि धीराः’ यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्योंकि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रिये भौतिक विषयों की अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द आकल्प मात्रा में रह जाता है। उधर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है—सुनिर ! अपनी मात्रा से अधिक आनन्द मिलने पर ही आनन्द आता है—“यो वै भूमा तव सुखं, नात्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्व” के अनुसार भूमा (बहुत्व)—भाव में आनन्द है। यदि एक लक्षाधिपति को कहीं से १० रुपये मिल जाय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो लक्ष की प्राप्ति में ही वह आनन्द का अनुभव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ वर्ष का बच्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक मनुष्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहा होती है। मन महोदय आनन्द की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि विषयों में जितनी सी आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आई है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुझ से आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुझ में (मन में) अधिक आनन्द है। इस प्रकार त्रिवेक बुद्धि से वृद्धित मन धोके से विषयों पर पहुंच जाता है। वहां जाकर उसे पढ़ताना पड़ता है। किसी भी विषय पर मन चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता—‘अतिपरिचयादनज्ञा’। थोड़े दिन रहता है, अभिलषित भूमानन्द मिलता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहां भी आनन्द नहीं मिलता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार विविध विषयों में दौड़ लगाता रहता हुआ मन लुब्ध होजाता है। यही मन था चाञ्चल्य है, यही लोभ है, लोभ अशान्ति का कारण है—‘अशान्तस्य कुनः सुखम्’। “गए ये चौबेजी घनने, दुग्ने जी रहने में भी सन्देह होगया” ठीक यह लोकोक्ति विषयासक्त मन पर वाच्य तोला पाय रही चरितार्थ होती है। लेने गए थे आनन्द, मिला आरक्षरूप दुःख, अशान्ति, लोभ। आनन्द की व्यर्थ लालसा से विषयासक्त इस अत्रिवेकी मन को पुरस्कार में विषय संस्कार मिलते हैं। इन संस्कारों की कृपा से अज्ञान आनन्द के इसे मरकरूप महादुःखारण्य में निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार भूतप्रधान होते हुए अज्ञान हैं। अज्ञान ही है। अतएव इस संस्कार शक्ति को ‘अविद्या’ कहा गया है। इस अविद्यारूप कारण से अविद्यासक्त मन

के सेवक बने हुए विज्ञानात्मा का ज्योति भाग (विद्या भाग) आवृत होजाता है, तमोमय भाग (अविद्या भाग) प्रवक्ष वन जाता है। प्रबुद्ध अविद्याबुद्धि के योग से आत्मा का अविद्या भाग उपकृत होता हुआ आत्मा के विद्या भाग को आवृत कर लेता है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साम्राज्य हो जाता है। यही मोह का जनक है—“अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः” इस सिद्धान्त को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विषयासक्त मन से युक्त बुद्धि अपने अविद्या भाग की प्रबलता से मोह की जननी बन जाती है। इसी को 'मोहककिला' बुद्धि कहा जाता है। सारासाराविवेकता, अधिमृश्यकारिता का नाम ही मोह है। 'मनसो विषयाकाराकारित्वं वासनासंस्कारः' के अनुसार मन का विषयकाररूप में परिणत होजाना ही वासना संस्कार है। मन चान्द्र है, चान्द्रसोम स्नेहधर्मा है। इसीलिए चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। भचक्र (खगोल) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यवहार होता है—आज अश्विनी है, आज भरणी है। इस का तात्पर्य यही है कि आज अश्विनी का चन्द्रमा है, आज भरणी का चन्द्रमा है। इस से कहना यह है कि चन्द्रमा का यह स्वभाव है कि वह जिसके साथ मिलता है, तदाकाराकारित बन जाता है। इसी का अंश हमारा मन है, अतएव यह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का आकार धारण कर लेता है। विषयाकाराकारित मन वासनामय है। संस्काररूप आकार ही (यह आवरण ही) 'वासयति—आच्छादयति—आत्मानम्' के अनुसार 'वासना' है। यही संस्कार कालान्तर में उक्त बन जाता है। उक्त से तत्तद्वासनामय रश्मिसूत्र—(इन्द्रासूत्र) तत्तद्विषयों के लिए निकला करते हैं। दूसरे शब्दों में उक्तविनिर्गता इन अर्थों के द्वारा (कामनासूत्रों के द्वारा) मन बार २ उन विषयों की ओर दौड़ा करता है। 'स्वजनितसंस्कारद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः' के अनुसार इस विषयबन्धन का नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। आन मार्ग में चलते २ कोई सुन्दर दरय देख लेते हैं, तत्काल मन पर उस की छाप (संस्कार-वासना) छंग जाती है। यही छाप आप के मन को उस दरय को पुनः २ देखने के लिए आकर्षित

करती है, यही आसक्ति है। एक बात और। यदि उक्त संस्कार दृढ नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दृढमूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इन संस्कारों को दृढ करने वाला है—'चिरकाल का अनुभव'। 'मनसा-अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिर-कालिकत्वं हेतुः' के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर लक्ष्य रखा जाता है तो—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' (योगद० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार उक्त चिरकाल के अनुष्ठान से यह संस्कार दृढमूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अर्थात् अनुभव द्वारा दृढ बना-हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप 'संग' का कारण बनता है, जैसा कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते' (गीता २।६२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकालिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध हो जाता है। मन को हमने प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा-प्राण यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमताम्र है, प्राण इन्द्रतत्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही चिदंश का प्राहक बनकर ज्ञानमूर्ति बनता हुआ 'प्रज्ञा' नाम से व्यवहृत होने लगता है। मन में आप ज्ञान और क्रिया दोनों धर्म देखते हैं। साथ ही में यह मन रूप-रस-गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुप्राहक है। सोम-चिदंश-प्राण यही तीनों कमशः भूतमात्रा-प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा के अनुप्राहक है। सोम भूतों का प्रवर्तक है। चिदंश प्रज्ञाभाव का जनक है। प्राण इन्द्रियग्राम का उपकारक है। चिदंशयुक्त सोम प्रज्ञाभाग (ज्ञान) है, प्राण क्रिया भाग है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण भेद से मन उभयात्मक बन जाता है—'उभयात्मकं मनः'। प्रज्ञा-प्राण के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कौपीतिकि कहते हैं—

"या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोचिष्ठतः। प्राज्ञोऽस्मि वा प्राणात्मा। तं मामापुरमृतमित्युपास्व। x. x. x। तस्यैपेव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्" (कौपी० उप० ३।३)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा-प्राणरूप इन्द्र 'ओकःसारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मन जिस विषय पर जाता है, स्नेहगुणक सोम के प्रभाव से वह वहीं आसक्त हो जाता है। 'जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के हो गए' यही 'ओकःसार' है। ओक घर का वाचक है—“गृहा वा ओकः” (ऐ० २।२६)। मन रूप प्राज्ञ इन्द्र का स्वाभाविक धर्म (सार) श्लोक (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे श्लोकःसारी कहना न्याय संगत होता है। प्राज्ञ इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—
 'ओकःसारी वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्व गच्छति-एव तत्रापरं गच्छति' (ऐ. ब्रा. ६।१।७।२१)
 जहां एक बार मन किसी विषय पर आसक्त होनाता है, उस बार २ उसी विषय की ओर दौड़ा करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राज्ञ इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणमूर्ति इन्द्र अज्ञ है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से आक्रान्त हो जाना पड़ता है।

मन के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। “संकल्प विकल्पात्मक मन को हमने पूर्व में चञ्चल बतलाया है, जैसा कि 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिवल्लव-दृढदृम' इत्यादि स्मार्त वचनों से स्पष्ट है। ग्रहरण-परिर्त्याग यह मन का स्वाभाविक धर्म है। वह किसी एक विषय में चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (चिरकालिक बन्धन) अनुपपन्न होजाती है। संस्कारों की चिरकाल-वस्था ही आसक्ति का मूल है, एवं क्षणिक मन में चिरकालिकत्व का अभाव है। फिर मन को, किंवा प्रवेन्द्र को ओकःसारी (विषयासक्त) कैसे बतलाया गया ?”। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें चान्दोपपुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन वास्तव में क्षणभावपन्न है, अतएव चञ्चल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के चक्र में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसदृश मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिर है। तदसम्बन्ध से अस्थिर मन में स्थिरता का उदय होजाता है। सांस्कारिकत्व जहां मन का धर्म है, वहां चिरकालिकत्व बुद्धि का धर्म है। इसी दृढ़ता को लेकर मन विषयों में बंध होजाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है। सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतलाया गया है। मन और बुद्धि दोनों परस्पर में अविनाभूत हैं। मन कभी बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, एवं बुद्धि न मन से कभी पृथक् होती। दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

“कतम आत्मेति ? सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्वर्योतिः पुरुषः ।”
 (बृ. भा. उ. ४।१।७) । ‘तदा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम् ।
 वयथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न वार्धं किञ्चन वेद—नान्तरं, एवमेवायं
 पुरुषः (विज्ञानात्मा—चाक्षुषपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तः”
 (बृ. भा. उ. ४।३।२१) ।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि संस्कारभाहक मन, एवं दृढ़तोःवादिबुद्धि दोनों सदा ही सहजृत है। परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है। उन के स्मरणमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है। इस का क्या कारण ? आसक्तिभूता सामग्री के रहते हुए भी वही आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या उत्तर ? ‘बुद्धिद्वैविध्य’। बुद्धितत्त्व अपेक्षा, अपेक्षा मान से दो भावों से आक्रान्त रहता है। अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढ़ होजाता है, अपेक्षाबुद्धि से संस्कार स्थिर नहीं होने पाता। मन को हमने क्षणिक बतलाया है। यदि मन प्रबल है तो स्थिर बुद्धि निर्बल होजाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, अपेक्षाभाव का उदय होजाता है। यदि बुद्धि प्रबल है तो मन की क्षणिकता निर्बल बन जाती है, अपेक्षा द्वारा स्थिरमान उत्पन्न होजाता है। इसी को लोक में—‘गौर करना’ कहा जाता है। ‘गौर करो’ इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ। इससे संस्कार दृढ़ होगा, अन्यथा संस्कार निर्बल रहेगा। इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से संस्कार दृढ़मूल बन जाते हैं, यही आसक्ति का मूल है। ठीक इस के विपरीत अपेक्षाबुद्धि में संस्कारशेषिल्य है, यही अनासक्ति का मूल है। उदासीनभाव

ही उपेक्षामात्र है । 'मनसा गृहीतविषये बुद्धेश्चिरकालिकस्वमनु-ध्यानम्' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का संस्काररूप से ग्रहण करता है, यदि संस्काररूप से आगत विषयों में (अपेक्षाभाव की प्रधानता से) बुद्धि अधिक समय तक ठहर जाती है तो बड़ी वृत्ति 'अनुध्यान नाम से व्यवहृत होने लगती है । चिन्तन करना अनुध्यान है । इस ध्यानरूप बुद्धि के व्यापार से आगत विषय का मन के साथ चिरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है ।

'मनसः स्वगृहीतविषयस्य बहिर्धा परिजिघृक्षा कामः' के अनुसार संस्कारात्मक विषयवच्छिन्न मन का बहिःस्थित संस्कार जनक तत्तद् विषयों की ओर बार बार दौड़ना ही 'काम' है । सगरूपा आसक्ति ही काम की जमनी है । यही काम आगे जाकर क्रोध का जनक बन जाता है । 'अनुकूलसंयोगलक्षणः सुखानुशयी संस्कारो रागः', के अनुसार अभिलषित, अतएव सुख के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है । यह विषयपरिजिघृक्षा 'रागमूला' है । एव 'प्रतिकूलसंयोगलक्षणो दुःखानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने अमान्दित विषय के साथ (जो कि दुःख का प्रवर्धक है) कुम्भना द्वेष है । आसक्ति दोनों में है । राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहपाश में मन जितना बद्ध रहता है, उस से बड़ी अधिक शत्रु के साथ मन बद्ध रहता है । रावण-कंस आदि शत्रु इसी द्वेष बुद्धि से मुक्त हुए हैं । काम से ही राग का उदय है, काम से ही द्वेष का उदय है । कामसम्मानाधिकरण काम ही मोह का मूल है । एक वस्तु को आप भी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है । एक ही स्थान पर दो कामों का सम्बन्ध हो रहा है । दोनों का अस्विकारण एक है । इस समानाधिकरणस्य कामसे तत्काल क्रोध का उदय हो जाता है । 'अभीप्सितविषयेऽन्यात्रमगागद्ग्रापां तदप्राप्तिर्संभावनायां गारीराश्रातुःपद्मः लोभः क्रोधः' के अनुसार अपने अभिलषित पदार्थ को यदि अन्य व्यक्ति लेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उम की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है । इस से शरीर का अग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है । अग्नि का यह क्षोभ ही 'क्रोध' है । राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही क्रोध का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही क्रोध का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन द्वेष का मूल है। काम एक भिन्न संस्कार है, क्रोध एक भिन्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के संघर्ष से एक तीसरा अपूर्व-संस्कार उत्पन्न हो जाता है, यही 'संमोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुभवहितसंस्कारजन्यज्ञान स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान बल को बढ़ाती है। संमोह से (चित्तघ्नोम) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट होजाती है। बुद्धिघ्नंश ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी कामिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२) ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥३॥

(गी० २।६२-६३) ।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह लिखित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्मा मन की ओर झुका जाता है तो वह मन पर आए हुए अविद्यामय भौतिक विषयसंस्कारों को दृढ़ बनाता हुआ आत्मस्वरूप को आहृत कर देता है। बुद्धि में जो विद्या-(ज्ञान)भाग है, वह मन के सापर्युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुभवहितसंस्कार' कहते हैं, यही 'भावना' नाम से प्रसिद्ध है। एवं बुद्धि का अविद्या-(कर्म) भाग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित संस्कार 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान-(विद्या) संस्कार, एवं कर्म-(अविद्या) संस्कार ही मन की और मुकी हुई उसी बुद्धि की

• इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' में दखना चाहिए ।

कृपा से (अभिप्रेत से) दृढ़मूल बनते हुए दुःखमूला आसक्ति के जनक बन जाते हैं । अधि-
 पा कर्म है, जड़भाव है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है । इस की उपासना करने वाले अन्धतम में
 प्रविष्ट होते हैं । परन्तु निचा की ओर झुकने वाले उस से भी अधिक गहरे अंधकार में जाते
 हैं । कर्म उतना बुरा भ्रमर नहीं करता, जितना कि अर्धनिष्ठ 'समम्' से होता है । व्यर्थ की
 कल्पनाएं मनुष्य को पशु बना डालती हैं । निष्काम-बुद्धि से किया जायें वाला कर्म शुद्ध विचार-
 प में परिणत होजाता है, परन्तु सत्त्व-निचा धारक-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक भयङ्कर
 हो जाती है । क्योंकि कर्मजनित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित भावना संस्कार अधि-
 क दृढ़ होता है । चोर को उतना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि चोरी की इच्छा रखने वाले को
 मिलता है । कर्म (कर्मजनित वासना संस्कार) तो नष्ट होसकता है, परन्तु ज्ञान (ज्ञानज-
 नित भावना संस्कार) सहसा नष्ट नहीं होता । आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र रोक
 सकते हैं, परन्तु उस के बुरे निवार (भावना) सहसा नहीं बदले जासकते । स्थूल की विकि-
 त्ता सहज है, सूक्ष्म की विकित्ता कठिन है । इन्हीं सारे रहस्यों को लक्ष्य में रखता हुआ,
 विज्ञानात्मा का स्वरूप धर्म बनलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्माधिकरण पाठकों के सामने उपस्थित
 हुआ है ।

विज्ञानतत्त्वतःपादिक तीनों मन्त्रों में उपलब्ध होने वाली ईशोपनिषत् में आनन्दिन
 "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "अन्यदेवाहुर्विचया"० "विद्यां चाविद्यां च"० यह क्रम
 देखा जाना है । परन्तु हमारी दृष्टि से (विज्ञानदृष्टि से) इन तीनों मन्त्रों का "अन्यदेवाहुर्वि-
 चया"०- "अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "विद्यां चाविद्यां च"० यह क्रम होना चाहिए ।
 समय है संस्कारों की असावधानी से यह विज्ञानक्रम बदल गया हो । पहले न्यायतः विज्ञानात्मा
 का स्वरूप कतना आश्चर्यकर है । आत्मस्वरूप परिज्ञान के अनन्तर "जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप
 को नहीं जानते, उन की ऐसी गति होती है" यह कहने का अर्थ मिलता है । सर्वत-
 मे-ईसत्तिये आत्मदेवता की इस तरह उपासना करो' यह कहना न्यायसंगत होता है ।

यही क्रमवैज्ञानिक है। वैज्ञानिक क्रम का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है। 'अन्यं तमः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विशुद्ध जानेवालों की अधोगति बतलाता है, एवं सर्वान्त में—'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि मन्त्र प्रतिज्ञात आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण करता है। इसी क्रमका समादर करते हुए निम्न लिखित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ॥

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचत्तिरे ॥१॥

(ई. उ. १० मन्त्र)

"यह आत्मतत्त्व विद्या से भी पृथक् कहा जाता है, अविद्या से भी पृथक् कहा जाता है। जिन (पारोत्रयवित्) विद्वानों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं—यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि यह आत्मतत्त्व विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् तत्त्व है" यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ।

इस विषय में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एवं कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है। साथ ही मैं जहाँ ज्ञान है, वहाँ कर्म (विषय) अवश्य है। कर्मसंघातरूप विषय के बिना आप अपने ज्ञान को कमी नहीं देख सकते। प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयकाराकारित बन कर ही भासित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्म ज्ञानमय है। 'ज्ञायते' भी क्रिया ही है। आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है। आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान निह्य सम्बद्ध है। संसार में सतत प्रयास करने पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते। इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है। ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है; यही इस का अमृतभाव है। ज्ञान में आने वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

मृत्युभाव है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रत्यक्ष हो रहा है। इन दोनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित् यह दो भाग हैं। साथ ही में तीसरा सोमत्व भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी हममें सोम-चित्-प्राण—यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होने से चारों ओर से प्रकाशित रहता हुआ स्वज्योतिर्मयत्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होने से एक भाग से (जिस ओर विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है—उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्मयत्व है। साथ ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है, प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्र वृत्र सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में बड़ी अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चन्द्रमा में है। विज्ञान अद्रितत्वप्रधान है, प्रज्ञान सोमत्वप्रधान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। नवीन रचना में विज्ञानव्यापार की प्रधानता है, किसी की बनी हुई रचना की प्रतिलिपि करने में प्रज्ञानव्यापार प्रधान है। सोमम् दोनों के प्राण में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण आन्तरिचय है। विज्ञानेन्द्र 'मघवा' है, प्रज्ञानेन्द्र 'वृत्रहा' है। इसी प्रकार विज्ञान का चिदंश महत्सुक्त होने से प्रबल है, प्रज्ञान में जो चिदंश आया है, वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान-प्रज्ञान की सोम-चिदंश-प्राण तीनों कलाओं का पार्थक्य, एवं पृथग्धर्मत्व सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञ है, कारथिना है। प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है। इसी कर्त्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण), अर्थ (भूत) तीनों शक्तियों का संचालक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अपनी सोमकला से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को भूतमात्रा (शब्द-रूप-रसादि विषयों) के लिए, चित्कला को प्रज्ञामात्रा के लिए, एवं प्राणकला को प्राणमात्रा (इन्द्रियधर्म) के लिए प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक आध्यात्मिकसंस्था की स्वरूपस्थिति है। सोम-सुक्त चिदंश विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुप्रदीन प्राण्येन्द्र धर्मभाग है। इस प्रकार अमृतमृत्युमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय, तीसरे शब्दों में ज्ञान कर्ममय विज्ञानात्मा ही अस्यामसंस्था का उसी प्रकार प्रकाशक एवं स्वरूपसमर्पक बना हुआ है, जैसे कि सूर्य

ध्वने अमृतमृत्युभाग से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अह-राग्न है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्याग्न द्वारा प्रलय का साम्राज्य हो जायगा।

‘यद् विद्यां (ज्ञान) है, यद् अविद्या (कर्म) है’ इस प्रकार से हम संसार में समष्टि व्यष्टिरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानधन सूर्य की मूर्ध्नि है—‘अहं सूर्य इवाजनि’। इस प्रकार अविद्या-विद्यारूप से हम विज्ञानात्मा के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्मा का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) शिक्षित अशिक्षित सभी जानते हैं। ‘हम जानते हैं—हम करते हैं’ यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्मा का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मज्ञानी हैं? फिर तो शब्दोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलझाता हुआ—‘अन्यदेवाहुर्विद्यया०’ इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्याभाग का साक्षात्कार कर रहे हैं, क्या यह प्रत्यदानुभूत विद्या आत्मविद्या है?, ऋषि कहते हैं—‘अन्यद्-विद्यया’। जिस अविद्याभाग का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह ‘आत्मविद्या’ है?, ऋषि कहते हैं—‘अन्यद्-अविद्यया’।

वात अमल में यह है कि श्रुति को ‘विज्ञानात्मा’ में जो विशुद्ध आत्मपदार्थ है, उस का परि-क्षण करवाना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष दृष्ट विद्या-अविद्याभाग उसी का विवर्त है, परन्तु यह दोनों ही भाग भौतिक विश्व से संपरिष्कृत बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से च्युत हो रहे हैं। उधर विशुद्ध विद्या-अविद्यारूप आत्मतत्त्व केवल स्थानुभवैकगम्य है। वहां शब्द की गति नहीं है—‘विज्ञातारमरे। वा केन विज्ञानीयात्’। विश्व के प्रत्येक पर्व के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि डालते जाइए, सर्वत्र ‘इदं न—इदं न—इदमपि न—इदमपि न’ यही कहना पवेगा। इस प्रकार न-न करते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समान्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध-अगम्य तत्व

वच जाय वही आत्मा है । उसके लिए सियाय 'न'-के और हम क्या कह सकते हैं—'नेति-नेतीति होवाच' 'नेति-नेति क्वि वेद पुकारा' । यह 'न' अभाव का बोधक नहीं है, अपितु भौतिक विश्व से सर्वथा पृथक्, विशुद्ध, निरुपाधिक, सर्वव्यापक आत्मतत्त्व का परिचायक है । इसीलिए श्रुति ने—'नेति' न कह कर 'नेति नति' कहा है । श्रुति को तदभ्यलक्षण द्वारा विशुद्ध आत्मतत्त्व पर हमें लेजाना है, इसके लिए तो 'नकार' का आश्रय लेना पड़ा । जैसा तुम उसे (सोपाधिक) समझ रहे हो वह वैसा 'न' (नहीं) है । परन्तु वह नकार भी नकार है, यह समझना भी न भूलना । 'न' इति न' ति- (नेति नेति) अवगतव्यम्' । वह नातिरूप है (अभावरूप है), यह बात नहीं है" यह समझे नेतिनेति का यही तात्पर्य है । अर्थात् वह नकार नकाररूप है ।

अथवा प्रकारान्तरसे 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए । प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए । दूसरे नकार को भी अभावपरक मानिए । 'न' इसका जो 'न' है—वह ऐसा है, अर्थात् आत्मतत्त्व अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा । घटानावाभाव जैसे घटसत्ता का कारण बन जाता है, एवमेव विघ्नरूप आत्मा के अभाव का अभाव आत्मसत्ता का कारण बन जाता है । ऐसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होता है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति मुक्तोऽन्यत्र कुतस्तादुपलभ्यते) । इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है । मिलेगा आत्मतत्त्व यही, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रखो तो तब-निश्च को विद्या अविद्या मत समझे, विश्व में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझो । सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, यही आत्मा आत्मा है । सोपाधिक भाग तो उसी का विश्वरूप है । जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (निष्कभाव) भाव को प्रधान समझते हैं, वहां धीर लोग निरुपाधिक को ही पारमार्थिक आत्मतत्त्व कहते हैं । यही उक्त मन्त्र का पहिला अर्थ है । १।

विज्ञान को विद्या-अविद्यात्मक बतलाया गया है । यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है । अविद्याचतुष्टयी अविद्याबुद्धि है विद्याचतुष्टयी, विद्याबुद्धि है । यह सौर विद्या-अविद्या-

वच जाय वही आत्मा है । उसके लिए सिवाय 'न'—के और हम क्या कह सकते हैं—'नेति-नेतीति होवाच' 'नेति-नेति इति वेद-पुष्कारा' । यह 'न' अभाव का बोधक नहीं है, अपितु भौतिक विद्य से सर्वथा पृथक्, विशुद्ध, निरुपाधिक, सर्वव्यापक आत्मतत्त्व का परिचायक है । इसीलिए श्रुति ने—'नेति' न कह कर 'नेति नति' कहा है । श्रुति को तटस्थतक्षण द्वारा विशुद्ध आत्मतत्त्व पर हमें लेजाना है, इसके लिए तो 'नकार' का आश्रय लेना पड़ा । वैसे तुम उसे (सोपाधिक) समझ रहे हो वह वैसे 'न' (नहीं) है । परन्तु वह नकार भी नकार है, यह समझना भी न भूलना । 'न' इति न' ति-नेति नेति) अवगतव्यम्' । वह नास्तिक्य है (अभावरूप है), यह बात नहीं है' यह समझे नेतिनेति का यही तात्पर्य है । अर्थात् वह नकार नकाररूप है ।

अथवा प्रसारान्तरसे 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए । प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए । दूसरे नकार को भी अभावपरक मानिए । 'न' इसका जो 'न' है—वह ऐसा है, अर्थात् आत्मतत्त्व अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा । घटाभावभाव जैसे घटसत्ता का कारण बन जाता है, एवमेव विश्वरूप आत्मा के अभाव का अभाव आन-सत्ता का कारण बन जाता है । ऐसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होता है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति नुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते) । इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है । मिलेगा आत्मतत्त्व यही, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रखोगे तब-। विद्य को विद्या अविद्या मत समझे, विद्य में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझे । सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, वही आत्मा आत्मा है । सोपाधिक भाग तो उसी का विद्यरूप है । जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (विद्यभाव) भाग को प्रधान समझते हैं, वहां धीरे लोग निरुपाधिक को ही वास्तविक आत्मतरंग कहते हैं । यही उक्त मन्त्र का पहिला अर्थ है । १।

विज्ञान को विद्या-अविद्यात्मक बतलाया गया है । यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है । अविद्याबुद्धि अविद्याबुद्धि है विद्याबुद्धि, विद्याबुद्धि है । यह सौर विद्या-अविद्या-

- | | |
|--|-----------------|
| १-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म.....सत्कर्म— कर्मकारी | }—ज्ञानमूलककर्म |
| २-विद्या (ज्ञान)-निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म.....सत्कर्म— साधुकारी | |
| ३-विद्या (ज्ञान)-सापेक्ष निवृत्तिकर्मनिराकामकर्म-कर्मयोगी | |
| ४-विद्यानिरपेक्ष निरद्वैकर्म.....विकर्म—-लौकिकव्यतिकर]-विज्ञानमूलककर्म | |
| ५-विद्यानिरपेक्ष निरर्थककर्म.....अकर्म—-यथेच्छाचारी]-अज्ञानमूलककर्म | |



इस प्रकार सम्पूर्ण विद्य में ज्ञान और कर्म का साम्राज्य हो रहा है । त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एक त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म प्राद्य है, शेष विज्ञान-अज्ञान, एवं विकर्म-अकर्म द्वेष हैं, यह रहस्यपेक्षाओं का सिद्धान्त है । इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में विरचाल से भिन्न भिन्न दो मत चले आ रहे हैं । कर्मनन्द को ही प्रधानता देने वाले कर्मठों का कहना है कि आत्मा का अम्बुदय कर्म से ही हो सकता है । कर्म करने में ही कृतपात्र है । सम्पूर्ण विद्य प्रजापति का कर्म है । उसने कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है । कर्म करते जाओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जायगा—'तत्र स्वयं योगसंसिद्धः कानेनात्मनि विन्दति' । ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोरें आवश्यकता नहीं है । हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए । यही विद्वान् कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं ।

दूराग दम कहना है कि कर्म से कभी अम्बुदय नहीं हो सकता । तद्वारा यह कहना कि प्रजापति ने कर्म से यह विद्यविभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है । प्रजापति विमुक्त ज्ञानमूर्ति है । वही कर्म की सम्भवता ही नहीं है । यह तो निवृत्त-सुद-मुक्त है । तब जो कर्म प्रपद्य (विद्य) दिगन्तर्द देगा है, यह 'रज्जुगर्पान्' 'म्याणुपुत्रान्' 'शुद्धिजननान्' संशय भक्त है, अशमनात्र है । मारा विद्य एक भाषा का निष्पायास है । हम मानते हैं कि विद्यामुक्ति कर्म केतु है, सर्वज्ञ देने वाला है । परन्तु यह भी आगे जाकर कृति है ।

पिक) सुख कोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य-
लोके वसन्ति' 'प्लवा होते अदृढा यज्ञरूपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, धावरक है। इस से
ज्ञानमूर्ति आत्मा का निःश्रेयसभाव कथमपि संभव नहीं है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयो-
गरूप सन्यास से ही मुक्ति हो सकती है। यही ज्ञानैकवादी 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी'
'सांख्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं कर्म श्रेष्ठ है। एक कहते हैं साय कर्म छोड़
छाड़कर जङ्गल में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म) करते रहो। लोक
में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओं का निरूपण करते हुए भगवन् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गीता)

उपनिषत् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पतन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं,
अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं! संभव नहीं। कर्मठ 'कर्म में प्रवृत्त होते हुए
वासना संस्कार से आत्मा को आहृत कर रहे हैं। ज्ञानी कहलाने वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए
भावना से आत्मा को आहृत कर रहे हैं। सकाम ज्ञानयोग, सकाम कर्मयोग दोनों ही भाव-
ना-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सांख्ययोग
बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का अर्द्ध (भाग) है, जैसा कि पूर्व में बत-
साया गया है। उधर कर्म भी बिना ज्ञान के अपूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ
दिनों के लिए उन का सांसारिक वैभव अवरय बढ़ता है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक संस्कार से आ-
त्मा आहृत होजाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अन्धतरुण पापायादि स्वारयोनिर्घो
का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धतरुण से आहृत कर लेता है—(देखिए ई.
वि.मा. १ खण्ड आवरणतन्त्र १६१से१८३पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि जो केवल अवि-
द्यारूप कर्म की उपासना करते हैं, वे शोर तम में प्रविष्ट होते हैं—“अन्ध तमः प्रविशन्ति
येऽविद्यामुपासते” ।

सम्पत्ति से युक्त भिक्षुगा । अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्भरति (दरिद्रा) देवता की विशेष कृपा भिक्षुगी । क्या इसी का नाम अभ्युदय है ? क्या धर्म से यही फल मिलता है ? क्या इसी आधार पर—‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः’ यह कहा जाता है ? आवश्यकता है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की । विद्वान् उन कर्मों से कर्म करना सीखें, कर्मठ इन विद्वानों से विद्याग्रहण करें, तभी राष्ट्र का अभ्युत्थान सम्भव है । केवल ब्रह्मचर्य (विद्यावल) भी कुछ नहीं करसकता, केवल क्षत्र-धर्म (कर्मवल) भी व्यर्थ है । ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय में राष्ट्र का कल्याण है । सिविल (Civil) और मिलिट्री (Military) के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय है । विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रवल के समन्वय से ही ईश्वर प्रजापति विश्वसाम्राज्य का उपभोक्ता बन रहा है । इसी मकृतिसिद्ध विज्ञान का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

“ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः । ते हैतेऽब्रह्मे नानेवासतुऽब्रह्म च क्षत्रं च । ततः शशकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात् स्यातुम्, न क्षत्रं वरुणः—ऋते ब्रह्मणो मित्रात् । यद्ध किञ्च वरुणः कर्म चकेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हेवासमै तत्-समानृधे । स क्षत्रं वरुणः—ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-उप मावर्त्तस्व, संसृजावहे, पुरस्त्वा करवे, त्वदप्रसूतः कर्म करवा इति । तयेति । तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् । ×+++ । तत्तद्वक्त्रामेव-यद्-
 ॥ ३ ॥ ब्रह्मणोऽराजन्यः स्यात्, यद्यु राजनं लभेत समृद्धं तत् ।

एतद्ध त्वेवानवकल्लसं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति । य-
द्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसृतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै
तत् समृध्यते । तस्माद् क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो-
पसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मे तद् ब्रह्म प्रसृतं
कर्मऽर्ध्यते” इति — (शत० ब्रा० ४ क० । १. अ० । ४ ब्रा०) ।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुणा है । आगे आगे चलने वाला ही (अनुमति प्रदान करने वाला ही) ब्रह्म है, फर्ता क्षत्रिय है । यह दोनों (ब्रह्म-क्षत्र) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, अर्थात् सृष्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, ग्रन्थिवन्धनभाव न था । उस समय (सृष्टि से पहिले) ब्रह्म मित्र तो क्षत्र वरुण के बिना (स्वस्वरूप से) प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ न हो सका । उस (एकाकी दशा में) ब्रह्म-मित्र की अनुज्ञा के(सहयोग के)बिना वरुणनें जो कुछ कर्म किया,वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि-का कारण न बना । (अपने कर्म को व्यर्थ होता देख कर) क्षत्र वरुण ने ब्रह्ममित्र से मार्यना की कि (हे ब्रह्म !) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास लौट आँ । अपने दोनों मित्र नांय, मैं सदा आप को आगे रखूंगा, आप जैसी आज्ञा देंगे, तदनुकूल ही कर्म करूंगा । ब्रह्मनें 'तथास्तु' कह दिया, दोनों मित्र गए । (इन दोनों के सन्वय से)—(सुमसिद्ध अहोरात्ररूप) यह मैत्रावरुणाग्रह संपन्न होगया । + + × + + । यह बात तो फिर भी धनसकनी है कि ब्राह्मण बिना राजा क रह जाय । यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह-उस ब्राह्मण-की समृद्धि होगी । परन्तु-यह बात तो किसी भी अर-था में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण क (क्षणमात्र भी) रह जाय । बिना ब्राह्मण की आज्ञा क क्षत्रिय जो भी

कर्म करता है, का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता। इस लिए कर्म करने की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय को अवश्य ब्राह्मण का सहारा लेना चाहिए। ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस क्षत्रिय के लिए अवश्य ही समृद्ध बन जाता है'।

ब्रह्म ज्ञान है, क्षत्र कर्म है। ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है। प्राण आपोमय है, बुद्धि सूयमयी है। आपोमय पारमेष्ठ्य वरुणप्राण क्षत्र है, विज्ञान-पय सूर्य मित्र है। दोनों के समन्वय से 'मैत्रावरुण' रूप अहोरात्रग्रह उत्पन्न हुआ है। रात्रि के १२ वजे से मध्याह्न के १२ वजे तक अर्द्धखगोल (पूर्वकपाल) मित्र है। इस में सूर्य की प्रधानता रहती है—'मैत्रमहः'। दिन के १२ वजे से रात्रि के १२ वजे तक का अर्द्धखगोल (पश्चिमकपाल) वरुण है। इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है—'रात्रिर्वारुणी'। अहोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह विश्व तीसरा वाग्बल है। इस प्रकार मन (ब्रह्म), प्राण (क्षत्र), वाक् (विद्) की समष्टि 'इदं सर्वम्' है। यदि ब्रह्म-क्षत्र का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है तो विद्वरूप अर्थमूर्ति विश्व लयावस्था में परिणत हो जाता है। यद्यपि ज्ञान-कर्म दोनों को दोनों को अनेका है। परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है। कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है। जब छष्टिरूप समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विनयन हो जाता है, परन्तु ज्ञान स्वरूप से ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित रहता है। हां यदि ज्ञान का कर्म के साथ समन्वय हो जाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसी रहस्य को घतनामों के लिए श्रुति में—क्षत्रवरुण द्वारा ब्रह्म मित्र की

मार्थना करवाई है। ब्रह्म ही ज्ञान की योनि है—(देखिए ई. वि. भा. १खण्ड कर्त-
तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान पहिले है, कर्म अनन्तरभावी है। तत्त्वकर्मा का ज्ञान ही
तत्त्व कर्मों की मष्टि का कारण बनता है।

इसी ज्ञानमूल के उपासक को ब्राह्मण कहा जाता है, ज्ञानमूल के उपासक को
क्षत्रिय कहा जाता है, एवं अर्थशक्तिरूप वाक्यत्व के उपासक को (विद्विषीर्य के उ-
पासक को) वैश्य कहा जाता है। प्रकृतिसिद्ध निम्न ब्रह्म-क्षत्र-विद्विषीर्य के
आधारपर ही भारतीयवर्णव्यवस्थासूत्र सञ्चालित है। प्रकृतिवत् प्रत्येक राजा एक एक
ब्राह्मण पुरोध। अवश्य रखना चाहिए, एवं इसी के आदेशानुसार ऐसे कर्म में प्रवृत्त होना
चाहिए। चाणक्य पुरोधाने चन्द्रगुप्त को उन्नति के किस शिखर पर पहुँचा दिया
था, यह सर्वत्रिदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण अ-
पनी विद्या का विकास न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी।
उपर मदीनमत राजा यदि ब्राह्मण को पुरोध न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट हो-
जायगा, एवं विद्विषीर्यरूप राष्ट्र की अर्थशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी दशा में हमारे देशवासियों का क्या कर्तव्य होजाता है? उस का विचार वे
स्वयं करें। पंजाप क्षत्र है, बंगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, संना-
तनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है। आज
आवश्यकता है दोनों के समन्वय की। जय तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी
कर्म की सिद्धि न होगी। एक घात और ध्यानमें रखनी चाहिए। यद्यपि गनवी दोनों की है
परन्तु प्रधानता विप्रोपासको की ही है। यदि कर्मठ गलती करता है तो विद्वान् का दो-
ष है। सब से पहिले देश का ब्राह्मणवर्ग अपनं कर्तव्य से च्युत हुआ है। पहली भू-

त विद्योपासकों की है। इसी भूलनें वर्गीकृत्यवस्था का महत्व नष्ट किया है। मूर्ख का अपराध क्षम्य है, परन्तु विद्वान् यदि गलती करता है, वह यदि कर्षण्यकर्म से विमुक्त होता है तो उसका अपराध भयङ्कर है—‘ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः’। अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं हीं, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्ममार्ग से वञ्चित हैं। इस प्रकार आत्मा के अङ्गों की उपासना करनें वाले दोनों ही दल लक्ष्यव्युत्त हो रहे हैं।

बड़ी जटिल समस्या है। केवल कर्म भी बुरा, केवल ज्ञान उस से भी बुरा। एवं ज्ञान कर्म मार्ग से अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई अगे जाकर श्रुति कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥३॥

(ई. उ. ११ म.)

रानर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्मयोगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ हीं में ‘नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०’ (भगवद्गीता) हत्यादि रूप से अज्ञान को बुद्धियोग नाम समझाया। भगवत्प्रतिपादित बुद्धियोग का अभिप्राय अज्ञान ने यह समझ कि भगवान् कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। ‘बुद्धि विज्ञान है, विज्ञान ज्ञान है’ इस सार्वजनीन प्रत्यय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ लिया गया। उधर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा-कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर प्रवर्णन का उपसंहार किया था, बुद्धियोग को हीं श्रेष्ठ बतलाया था, साथ हीं में ‘कुरु

कर्म त्वं०' इत्यादि रूप से अर्जुन को यथोचित कर्म करने के लिए बाध्य किया था। कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय था। भगवान् कृष्ण अभिगन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्त्ता क्षत्रिय था। ज्ञान-कर्म का एकीकरण था। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था। परन्तु इन उन्मुग्ध अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझता हुआ अर्जुन प्रश्न कर बैठा—

ज्यायसी चेत् कर्मणोस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता३।१) ।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उन्मुग्ध अर्थ को स्पष्ट किया। भगवान् ने बतलाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं। बुद्धि का ज्ञानमाग विद्या है, कर्ममाग श्रविद्या है। जिन दो निष्ठाओं का हमने उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से वे दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है। जो सांख्य है, वही योग है। जो योग है, वही सांख्य है—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'। इस पर यदि व प्रश्न करे कि भगवान् ! कर्म कर्म है, आवरक है। वह आवरक किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुझे कर्ममार्ग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं ! इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। कितने ही कर्म (आत्मीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते। वैसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का ढोंग करना अपने आपको धोका देना है। हम मानते हैं कि कितने ही कर्म अवश्य ऐसे हैं जो बंधन में डाल देते हैं, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं जो बंधन के स्थान में बंधनमुक्ति का कारण बनते हैं। क्या इन बंधन कर्मों को छोड़ने में बुद्धिमानी है ! नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, बंधन कर्मों को छोड़ना बुरा है, फलतः सर्वकर्मपरिस्रागलक्षणासंन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता। कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्मानिवार्यता के सात कारण हैं।

१— अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि सचमुच कम आचरक हैं। अच्छा इन्हें छोड़दीजिए। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवरण बंद होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सञ्चित (संस्काररूप) कर्मों को हटाने का आपके पास क्या साधन है ? ज्ञान निष्क्रिय तत्व है, भवतः वह आवरण को हटाने में असमर्थ है। इस के लिए आप को बाध्य होकर नैष्कर्म्यकर्म का आश्रय लेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि कर्मात्मके बिना सर्वथा असम्भव है। कर्मावरणनिवृत्त्यर्थं नैष्कर्म्यकर्मानुष्ठानं अत्यावश्यकं है। कर्मकी नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — 'न कर्मणामनारम्भान्नेष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' यह कहा है।

२— उद्यम कर्मसंन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए (आवरण के आसन्निक निरावरण के लिए) कर्मसंन्यास लिया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म और छोड़ दिया, आनसी और बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से तुमने अपना क्या हित समझ रक्खा है ? कर्मसंन्यासवैयर्थ्यरूपा यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' यह कहा है।

३— मन-मूत्रपरित्याग, गमन, भोजन आदि नियत शारीरिक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जासकता। तुम्हें परवश होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मत्याग असम्भव है तो फिर कर्म परित्याग कसा ? यही कर्मपरित्यागाशयरूपा तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' यह कहा है।

४— साथ ही में छिक्का (छींक), जम्भा (जंभाई-जवासी), आसनिश्वास, बुभुक्षा आदि कितने ही महत्सिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करलो कि आज से हम न छिक्का लेंगे, न जंभाई लेंगे, न भूख लगेगी। परन्तु तुझारे इस निश्चय से होगा क्या। तुझारी इच्छा यहां अवरुद्ध है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में प्रवृत्त कर देगी। अपने समय पर तुझारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह प्राकृतिक कर्म हो ही पड़ेगे। यही प्रकृतिसिद्धलक्षण चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— 'कार्यते ह्यवशः कर्मसर्वः प्रकृतिर्जैर्गुणैः' यह कहा है।

५— आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बलात्कार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का संयम किया, परन्तु मन वश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होने पर भी मन अन्तर्जगत् मधुर उधर विषयलोलुप बनता हुआ भटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्मा करने दो, मन को वश में रखो। कर्म करो, आसक्ति मत रखो। कर्म का परित्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जायगीं। यही तो इस अनासक्त कर्मयोग की विशेषता है। कर्म की यही पांचवीं अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ, इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए— 'अस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः सविशिष्यते' यह कहा है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियाणान् विमुक्तात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गीता ३।६)

६— नियतकर्मारम्भ से आवरण हटता है, अनारम्भ से आवरण बना रहता है। इसलिए नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार कर्मारम्भ-एवं कर्मसत्यास दोनों में नियतकर्म का आरम्भ ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यही कर्म की दृष्टी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—
‘नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः’ यह कहा है।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्ममार्ग की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविभूति की रक्षा है। ‘मूढ मुढाय भये सन्यासी’ के अनुसार सभी कर्म छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही उच्छिन्न हो जाय। फिर तो शास्त्रोपदेश के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निर्वाह ही असम्भव हो जाय—
‘न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः’। जब कर्म से जीवनयात्रा का सुगमता से निर्वाह होता है, एवं बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक्त होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उचम कहेगा। कर्म की यही सांख्यी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—
‘शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः’ कहा है। इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है।

सप्तधा विभक्ता-कर्मनिवार्यता^{३३}

- | | | | | |
|-----------------------------------|---|---|---|---|
| १-नैष्कर्म्योपायशब्दनिर्वायम् | → | → | → | “न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते” |
| २-कर्मसत्यासवैषम्यादनिर्वायम् | → | → | → | “न च सन्वसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति” |
| ३-कर्मपरित्यागाशब्दवादादनिर्वायम् | → | → | → | “न हि कश्चित् क्षणमपि जानुतिष्ठसकर्मकृत्” |
| ४-प्रवृत्तिसिद्धशब्दनिर्वायम् | → | → | → | “कार्यते हावशः कर्म सर्वः प्रकृतिर्नैगुणैः” |

- १-अनासक्तकर्मयोगवैशेष्यादनि० → "कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते"
- २-कर्मारम्भ-कर्मसंन्यासयोः कर्मार्मा-
रम्भश्चैष्टयादनिवार्यत्वम् } → "नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकमणः"
- ३-जीवनयात्रानिर्वाहकत्वादनि० → "शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धेयदकर्मणः"

यह तो हुआ कर्म की अनिश्चयता का विचार। अब कर्म के अवंधनभाव पर इष्टि उल्लेख। गीताशास्त्र में अवंधन कर्मों को १-यज्ञार्थकर्म, २-लोकस्थितिनिर्वाहककर्म, ३-उपेक्षाकृतकर्म, ४-स्वभावसिद्धसहनकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। विषय आवरण-कता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन करा के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।

यज्ञार्थकर्म (अवन्धेन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-पशुबंध-सोम-याग-चयन आदि मनुष्यकृत यज्ञों के साथ ही सम्बन्ध समझा जाता है। यज्ञकर्म से केवल वेदविहित यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है। किसी अंश में ऐसा समझना ठीक भी है। परन्तु इन्हीं को यज्ञ समझना सर्वथा भूल है। यह प्राकृत-विधेयमेद से दो भागों में विभक्त हैं। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत इन तीन भागों में विभक्त है। विधेययज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यह प्रकृति में हो रहे हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अधिदैवतयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत् का निर्माण हुआ है। एवं उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिप्रकृति पर ऋषियों ने वैध श्रौत यज्ञों का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, यह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी आधार पर 'देवाननुविधा वै मनुष्याः'-'यद्रे देवा अकुर्वन्तव कुरुवाणि' इत्यादि निगम

१ इन विषयों का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के 'अवन्धनकर्मत्यागानौचित्योपनिषत्' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

प्रचलित है। प्रकृतिपञ्च में जेसा हो रहा है, यदि तत्प्रतिकृतिभूत मनुष्यपञ्च में उससे जरा भी विरुद्ध किया जाता है तो इसका स्वरूप विगड़ जाता है। प्राकृत-विधेय भेद से द्वेषा विमक्त इन यज्ञों में से प्रकृत में सृष्टिप्रवर्तक प्राकृत यज्ञ का ही ग्रहण है। 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यज्ञ है। जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है। आहुत होने वाली वस्तु सोम है। सप्त में सप्त आहुत हो रहे हैं। सब अनाद है, सप्त अक्ष हैं। इसी अग्नीषो-मात्मक यज्ञ से विश्व स्वरूप में प्रणिष्ठित हो रहा है। परात्पर-अव्यय-अनुर-क्षरसमष्टि को हमने षोडशी-प्रजापति कहा है। इस षोडशी प्रजापति का अक्षर भाग ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाच बलाओं में विभक्त है। इनमें ब्रह्मा का जो वीर्य है, वही त्रयी-वेदरूप में परिष्कृत होता है। इस वेदोपत्ति में इन्द्रविष्णु की स्वर्द्धा ही मुख्य कारण है। इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण वह षोडशी वेदमूर्ति बन जाता है। इसी आधार पर पूर्व के प्रकारों में हमने ईश्वर को वेदमूर्ति कहा है। वेदत्रयी का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है। ब्रह्माग्निरूप षोडशी पुरुष में प्राण, वायु, वाक्, अन्न, अनाद इन पाचों प्रवृत्तियों की आहुति होती है। यह पाचों आहुति ब्र य हैं। अतएव इन पाचों की समष्टि को हम अक्षर्य ढी—'सोम' कहने के लिए तथ्यार हैं। उस ब्रह्माग्निमय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्वयम्भू प्रकट होता है। आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है। वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य उत्पन्न होता है। अनादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है, एव अन्नसोम की आहुति होने से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। स्वयम्भू प्राणयज्ञ है। परमेष्ठी आपोयज्ञ है। सूर्य वाग्यज्ञ है। पृथिवी अन्नादयज्ञ है। चन्द्रमा अन्नयज्ञ है। इस प्रकार पञ्चा विभक्त सोमरूपा प्रवृत्ति का पुरपात्रि के साथ समन्वय होने से पञ्चायन विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर—'पादक्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। यह अनुगम श्रुति है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं, जिनका कि आगे के उपनि-षदों में समय समय पर निरूपण होता रहेगा। अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रवृत्ति एव पुरुष के समन्वय से पञ्चायन विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है। पाचों में प्राणादि पाच

देवता अविष्टिन हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है कि—“प्रजापति ने यज्ञ द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रश्न किया कि हे प्रजापति ! हम आपके यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज्ञा होती है ? उचर में प्रजापति ने कहा कि जो कर्म मैंने किया है वही तुम करो। मैं यज्ञ द्वारा तुम्हें उत्पन्न किया है, तुम भी यज्ञ द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। वस उसी आदेश के अनुसार देवताओं ने उस प्रजापत्य विश्वयज्ञ से पुनः यज्ञ किया, एवं उसके द्वारा पांचों लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहने वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजापति में समर्थ होने हैं”। तादर्थ्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर परस्पर संगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः’—इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रही हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होती रहती हैं। इसी प्राकृतिक निष्पत्ति यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सप्त्या पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेप वोऽस्त्वित्त्वष्टकामधुक् ॥ (गीता २।१०) ।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यजन है। इसी गेल से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चाहें जो कामना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जब वेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो यज्ञ न करता हो। जिस पदार्थ का यज्ञ बंद हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि सृष्ट्युपात्त प्रजा शब्द वातुमात्र का वाचक है। अब जरा व्याख्याताओं की लीला देखिए। उनकी दृष्टि में “ब्रा० सू० वैश्य तीन ही प्रजा हैं। प्रजापति ने यज्ञ द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया” यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो बुद्ध उत्पन्न करते हैं, उस का मूल यज्ञ ही है। यह यज्ञसृष्टि चार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ही यह वर्ण विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्य का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से वर्णसृष्टि का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कचारपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ (गीता)

भगवान् कहते हैं—मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इधर टीकाकार “तीन वर्णों को (सो भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों को) ही उत्पन्न किया” यह अर्थ करते हैं। कितनी भूल है। इस भूल का कारण यज्ञ का स्वरूप न समझना ही है। उन्होंने यज्ञ को दृवनादि प्रसिद्ध यज्ञ समझ रक्खा है। किसी विशेष कारण से यह वैध यज्ञ मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को ही अधिकार है। शूद्र अपञ्चिय होने से यज्ञ में अनधिकृत है। उन्होंने समझा कि इस यज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है। चूंकि यज्ञ करने का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञों का प्रजा शब्द तीन वर्णों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु पराधिकार चर्चा का हमें कोई अधिकार नहीं। यहां हमें केवल अपना मन्तव्य प्रकाशित करने का अधिकार है। हम यज्ञ को सृष्टि का प्रवर्तक समझते हैं। एवं प्रजा से सारे विश्व का ग्रहण करते हैं, साथ ही मैं उस विश्वप्रजा की सत्ता इसी यज्ञ-कर्मपरक समझते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलने पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही यज्ञसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध—‘याग’ कहलाता है। यागस्वरूप-संपादन यह यजन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन, देवदान भेद से तीन भागों में विभक्त है। यज्ञ घात के तीनों अर्थ हैं। भूतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है, देवसम्बन्ध से संगमनयज्ञ होता है, एवं आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैधयज्ञ को लीजिए। वैध-यज्ञ (मनुष्यहृत् श्रौत यज्ञ) में उन नित्य प्राणदेवताओं के लिए पुरोदार की आहुति दी जाती है। इस पुरोदार में भूत-प्राण दो भाग हैं। दस्य भाग भौतिक है, एवं जिस तत्व के आधार पर पुरोदार द्रव्य सस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह प्राण है, यही देवता है। भूत पंचावयव

है। प्राण ३३ अयय है। पुरोडाश में ३३ देस्ता हैं, ५ भूत हैं। इनमें यजमान जिस देस्ता की भावना करके पुरोडाश की आहुति देता है, पुरोडाश का वही देस्ता उल्लेख होकर उस नित्य प्राकृतिक प्राणदेस्ता के साथ मिल जाता है। 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में रहता है। पुरोडाश द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेस्ताओं के साथ मिल रहा है। वही उन देस्ताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है। दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोक में, देस्ताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना ही, अपने आपको उनकी आरधना के लिए भेंट चढ़ाना ही देवपूजा है। पर जो देव भाग है वह उन देस्ताओं से मिल जाता है। यह सगतिररण्य है। वाणी वचता है भूतभाग। उसे देस्ता ले लेते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से। "न वै देवा अरन्ति न पिरन्ति, एतदेवामृत दृष्ट्वा तृणन्ति" के अनुसार देस्ता पितरप्राण की तरह अन्तर्याम सम्बन्ध से इस पुरोडाश में प्रविष्ट नहीं होते, अपितु बाहर व्याप्त होते हैं। अतएव "स्व-अन्वोति-व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवज्ञ 'स्वाहा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाहा बोलकर ही देस्ताओं के लिए आहुति दी जाती है। इस प्रकार एक यज्ञमें तीन विभाग होजाते हैं। सर्वत्र तीनों हैं। आत्मा कारखशरीर है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है। आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है। भूत गडमय है। सारी वस्तुएँ (प्रजामान) मनप्राणगडमय हैं। तीनों भाग अथके तीनों में जाया करते हैं, अथके तीनों भाग इसमें व्याप्य करते हैं। इसी त्रिनिगणालोक आदान विसर्ग से सत्र प्रजाएँ अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं।

- १—भूतसम्बन्धात्—दानयज्ञ — —स्थूलशरीरसम्बन्धी—गडमय
 २—देवतासम्बन्धात्—सङ्गतिररण्ययज्ञ—सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी—प्राणमय
 ३—आत्मसम्बन्धात्—पूजायज्ञ — —कारखशरीरसम्बन्धी—मनोमय

स एष मनःप्राणवा-
 टमयः, आदानविस-
 र्गात्मकः स्थितियज्ञः

हमारे अध्यात्मिक प्राण निरन्तर आदिदेविक प्राणदेस्ताओं में आहुत होते रहते हैं, साथ ही में वे प्राणदेस्ता हमारे में आहुत होते रहते हैं। प्रवृत्तिपटल अपने पदार्थ निरन्तर ह-

में देता रहता है, साथ ही में लेता भी रहता है । मैं उससे उत्पन्न हुआ हूँ । उत्पन्न होने वाले मुझ अन्न को वह खाता है, एवं अन्नरूप मुझे खाने वाले उसे मैं भी खाता रहता हूँ । इसी विषयज्ञ का निरूपण करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

“अहमस्मि मथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावत, अहमन्नमन्नमदन्तमदूमी”

(एतरेयशारण्यक.....) ।

इस देवभाव के पारस्परिक संयोग को 'महितां संयोगे' कहा जाता है । वे देवता यहां आते हैं, यहां के वहां जाते हैं, यह चक्र निरन्तर चलता रहता है । वस इस चक्र की सत्ता के लिए जो कर्म अपेक्षित है, वही—'यज्ञार्थ' कर्म कहे जाते हैं । हम उस का उच्छिद्य खाते हैं, वह हमारा उच्छिद्य खाता है । 'उच्छिद्यत्वात् जज्ञिरे सर्वम्' (अथर्व११।६।११) यह पुत्र सिद्धांत है । उच्छिद्य को प्रवर्ग्य कहते हैं । इस प्रवर्ग्यविद्या का विशद निरूपण पूर्व के—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है । यह यज्ञ आगे जाकर भूते-देव भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है । विस्तार भय से इस का निरूपण नहीं किया जासकता । यहां सारे प्रपञ्च से हमें केवल यही बतलाना है कि यज्ञरूप आत्मा की स्थितिरक्षा के लिए विशान सहकृत जो नाप्राप्त कर्म है, यह बंधन का कारण नहीं बनता । उसके न मारने से उलटी हानि होती है । व्यक्तिस्थिति एवं समाजस्थिति जिन कर्मों से होती है, वही यशार्पकर्म हैं । उन के प्रवर्तक आप नहीं हैं, प्रकृति है । अतएव उन से संस्कार नहीं होता, सारूपरक्षामात्र होती है । अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए । इसी यशार्पकर्म की अवगमना बनलाते हुए भगवान् कहते हैं—

१ इस विषय का विशद विवेचन किराविसप्तमोपनिषत् के—'यज्ञकर्मोपनिषत्' नाम के प्रकरण में देवता आदि ।

यशार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकेऽयं कर्मवन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता. १।१।) ।

मन की प्रधानता हटाने के लिए ही भगवान् ने 'मुक्तसंगः' कहा है। मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यशार्थ नहीं है। अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही—यशार्थकर्म हैं, एवं वे अवन्धन हैं।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरित्याग सर्वथा असंभव है। साथ ही में यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म अवरय ही बंधन का कारण है। कर्मपरित्याग-लक्षण ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः' यही बुद्धियोग है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। मनुष्य तत्त्व कर्मों में तत्त्व फलाशा को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह भूल कर भी उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उस के लिए—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' यह असंभन आज्ञा कैसे दी गई ? इस के उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मनुष्य की आध्यात्मिकसंस्था एक सीमित संस्था है। उस में ज्ञान—कर्मशक्तिएं परिमित हैं। कर्मारम्भदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञानकर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान—कर्मशक्ति बट जायगी। आधा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आधा ज्ञानकर्म साध्य कर्म पर रह जायगा। परिणाम इस का यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए जितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, उतना (फलांश में विनक्त हो जाने के कारण) न रहेगा, कर्म अधूरा रह जायगा। इसलिए कर्म-काल में फल की चर्चणा (अनुभन) में कर्म को खर्व न कर सर्वात्मना कर्म में ही लीन होजा-ना चाहिए। ऐसा होने से फलाशा रखने की दशा में जो कर्मसिद्धि विरकाल से सम्बन्ध रखती थी, अथवा जिस की सिद्धि में सन्देह था, फलाशापरित्याग से वह कर्म शीघ्र एवं अवरय ही सकल बन जायगा। कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि अग्नि पर पानी रक्खा जायगा तो पानी अवरय

गरम हो जायगा । आप अनन्यभाय से कर्म करें, और फल न हो यह सर्वथा असमय है । परन्तु फल उपन्न करना आप का काम नहीं है । आप कर्म को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार मित्र कर्म स्वयं फल का जनक बन जायगा । फल पर दृष्टि रखना अनधिकार चेष्टा है । जो बल कर्मसिद्धि को सगादन करने वाला है, उसे निरर्थक खर्च करना है । आप की आशा से फल उपन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है । इसी अग्नि-प्राय से महर्षि चरक ने—'हेतावीर्षुः फले नेर्षुः' (चरक स. सूत्रस्थान—इन्द्रियोप. अ. सद्रतो-देश) । यह कहा है । अमुरु मनुष्य विद्वान् है, उस की इस निद्वत्ता से ईर्ष्या करना बुरा है । अपितु जिस कर्म से उसे विद्याफल मिला है, उस हेतुभूत कर्म के साथ ईर्ष्या कानी चाहिए । अमुरु व्यक्ति धनवान् है, इस फलेर्ष्या से आमपतन होता है । जिस कर्म से वह धनिक बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अम्युदय होता है । यही उन्नति का अत्यन्त एवं सर्वोत्कृष्ट मार्ग है । फल को कर्म सिद्धि का हेतु मन बनाओ, अपितु कर्म को कर्म सिद्धि का हेतु समझो, यही बहना है । इस फलाशाल्याग से एक तो कर्म अवरय सिद्ध हो जायगा, फल मिलेगा, उस के आप भोग्य बनेंगे । दुसरा जो बड़ा भारी लाभ होगा उस का तो कहना ही क्या है । उक्त प्रकार से फलाशाल्यागपूर्वक यदि कर्म किया जायगा तो वह कर्म, एवं तज्जनितफल आत्मिक के कारण न बनें—'कुर्वन्नपि न लिप्यते' । फल मिला, उस का आपमें भोग निया, परन्तु आसक्ति की जननी आशा के परित्याग से सब कुछ करते हुए भी आप अथर्षी बहदार, यही तो निष्कामकर्म की विशेषता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है । जब फल तुम्हारे अधिकार में ही नहीं तो फिर आशा ही क्यों करो दो । भगवान् की इस उक्ति का बोध यह अर्थ न समझते कि जब फल की ही आशा नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? इस लिए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—'मा कर्मफल-हेतुर्भूः—माते संगोऽस्तरश्मति' । कर्मफल को हेतु मन बनाओ, कर्म को आप सिद्धि का हेतु समझो । कभी अर्थ से निरता न बगो, फल भी तो अर्थ ही है । उस में ही बरग कर्मिभूति से अन्वित रहना है ।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निराकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई ।
 सुनिश्चि ! फलाशा आसक्ति की जननी है, इसलिए भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति-
 विभाग से वह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी छोड़ने योग्य है । साथ ही
 में फलाशा अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परि-
 स्थिति ठीक ठीक हो गई । परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश
 कैसे समझें ? कामना (इच्छा) के बिना यत्न नहीं हो सकता, फलतः परम्परया कामना का
 कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध होजाता है । उधर फलाशावत् कामना को आसक्ति
 की जननी बताया जाता है । ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना
 के संपन्न हो जायें । सभी कर्म सकाम हैं, अतएव कर्ममात्र (सकाम बनते हुए) आसक्ति के
 प्रवर्धक बनते हुए आवरणरूप बंधन के कारण हैं । फलतः सन्यास का 'सर्वकर्मपरित्याग-
 लक्षणरूप सन्यास' इस किन्दन्ती पर ही विश्राम मानना पड़ता है । ऐसी दशा में 'कामना
 रहित हो कर कर्म करो' इस आदेश का कोई मूल्य नहीं है । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण
 के लिए बुद्धि से काम लीजिए, विज्ञानात्मा की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा । बुद्धि
 और मन की प्रधानता अप्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं । मन की प्रधानता से
 बुद्धि की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है । मन चान्द्र सोममय होने से
 स्नेहगुणक है । फलतः ऐसे मन की कामना अवरण ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी
 है । उधर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है । ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना
 स्नेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है । तेजतन्त्र असंग है, अतएव तन्मयी
 कामना असंगमात्रमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती । यही तो बुद्धियोग है ।
 कामना है; परन्तु कामना का जो आसक्तिमान है, वह बुद्धि की कृपा से मृतप्राय है । ऐसी

अवस्था में इस कामना का रहना न रहने के समान है, यही निष्कामकर्म है ।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार कीजिए । दार्शनिकों ने इच्छा के उत्थाप्याकांक्षा, चरिथताकांक्षा भेद से दो रूप माने हैं । अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिकांक्षा है । प्रयास से उठाई गई इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है । इन दोनों इच्छाओं का प्रथमखण्ड में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहां पिछपेयण की आवश्यकता नहीं है । बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है । मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना अकामना है । यदि मन विषयों की ओर ही मुका रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होता हुआ, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ कामनय बन जाता है । यही कामना बंधन का कारण है । निष्कामकर्म में इसी कामना के परिभाग का आदेश है ।

ब्रह्म-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूप हैं । कर्म करो—ब्रह्मार्थ, कभी बंधन न होगा । निवृत्ति-कर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्पुरुष कर्मसंस्कार हट जायगा, अमृततामा का साक्षात्कार हो जायगा । मृत्पुरुष कर्म—(संस्काररूप कर्म)—समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूप अविद्या से ही हो सकता है—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्वागेनैकेऽमृतत्वमानुशुः' इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है । त्याग शब्द से कामना का परित्याग ही अभिप्रेत है । कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है । कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परित्याग नहीं प्रदण्य है । निष्कर्म यही हुआ कि मध्यस्थ विज्ञानात्मा में विद्या—अविद्या (कर्म) दोनों हैं । दोनों स्वतन्त्र होकर चुरे हैं । मिलकर बंधन को हटाने में समर्थ हैं । इन दोनों के समन्वाय से अव्यय के दोनों भाग समता को प्राप्त हो जाते हैं । यह समत्व ही सच्चा बुद्धियोग है, समत्व ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है ।

इस प्रकार हमारा यह तृतीय अधिकरण (नियन्त्रकानुसार चतुर्थ अधिकरण) विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का, एवं तदंशभूत विद्या अविद्यात्मिका बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उपदेश देता है । श्रुति को अध्यात्म-अधिदैवत दोनों संस्थाओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के (सूर्य और बुद्धि के) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले 'विद्या-अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है । विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त संभूति-असंभूत्यात्मक मज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

इति-विज्ञानात्माधिकरणात्-

— ५३०६ —

प्राकृतात्माधिकरणे-
विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



पूर्णमदः →————→

पूर्णमिदम्

४-चन्द्रमाः →————→

प्रज्ञानवैभव ४-प्रज्ञानात्मा

अधिदैवतम् →————→

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः

प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमाः ←————←—~~अन्नम्~~————→————→ प्रज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणां चतुर्थम्)

ब्रह्मस्वेदवेदावच्छिन्नः—सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यज्ञसञ्चालकः

१-अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां स्ताः ॥

२-अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥

३-सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषत् १.२-१३-१४-मं०)



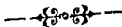


प्रज्ञानात्मस्वरूपनिर्दर्शनम्

- १- यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदु मुप्तस्य तथैवेति ॥
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु. ३४।१) ।
- २- यद् प्रज्ञानमुत् चेतो पृथिश्च यज्जोतिरन्तरमृतम्मजासु ॥
यस्माञ्च ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३४।२) ।
- ३- येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३५।३) ।
- ४- अमीय ऋदा निदितास उच्चा नक्तं ददशे कुह चिदिवयुः ।
अदब्धानि बरुणस्य व्रतानि विचाकञ्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (ऋ. १।२४।२०) ।
- ५- चन्द्रमा अप्पन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ॥
न वो हिरण्यनेमयः पदं बिन्दन्नि विगुतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०५।१) ।
- ६- नवो नवो भवति जायमानोऽद्वां केतुरुपसामिषग्रः ॥
भागं देवेभ्यो विद्वासायद् प्र चन्द्रमा स्तिरते दीर्घमायुः ॥ (ऋ. १।०।८५।१२) ।
- ७- चन्द्रमा मनसो जातः (यजुः ३१।१२)
- ८- चन्द्रमा मे मनसि स्थितः" (तै. ब्रा. ३।१।०।८५) ।
- ९- तयत्तन्मनश्चन्द्रमास्तः (जै० उ० १।२८।५) ॥
- १०- मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे. पुनः सम्भृतिमं तन्मेत्वयि (चन्द्रपति) ॥
(जै. उ. ३।२७।१.४) ।
- ११- यत्तन्मन आसीत्, स चन्द्रमा अभवत् । (जै० उ० २।२।२।) ।

॥ श्रीः ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत् ॥१॥
आकाशमण्डलं वृत्तं देवताभ्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥२॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवणमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षेत्सधोमुखः ॥३॥
चिचे चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्व्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥४॥
चित्तं कारणमर्थांनां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् स्त्रीणे जगत् स्त्रीणं तच्चिकित्स्यं प्रववतः ॥५॥
मनोऽहं गङ्गाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥६॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयात् पुण्यं न च पातकम् ॥७॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥८॥
मन एव हि विन्दुश्च उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते विन्दुर्यथा स्त्रीरं घृतात्मकम् ॥९॥



मैदा के सभी कण्डेर नर्मदेश्वर शङ्कर, शालग्राम के सभी कङ्कर शालग्राम । इसी प्रकार ईश्वर प्रजापति के सभी पर्व ईश्वरप्रजापति । समष्टिरूप से भी वही सर्वता, व्यष्टिरूप से भी वही सर्वता । अंग-अंगी दोनों समानधर्मा । 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' । ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्व (सूर्य) जहाँ लिखा-अविद्यात्मक है, वहाँ यह चौथा पर्व (चन्द्रमा) सम्भूति (उत्पत्ति) और असम्भूति का

अभिधाता है । प्रकृत अधिकरण तीन मन्त्रों से इसी का निरूपण करता है ।

सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, सर्वान्त में चन्द्रमा है। परन्तु अन्त्यात्मसंस्था की दृष्टि से चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता चन्द्रमा का ही अनुपम होता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर आजाता है तो ऐसी अवस्था में चान्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होजाता है। शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में सारा चान्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में हुत रहता है। इस शुक्लपक्षावच्छिन्न चान्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होना। पृथिवी के चारों ओर घूमने वाला चन्द्रमा जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आजाता है तो चन्द्रमा का दूर्य भाग पृथिवी की ओर अनुगत रहता है। फलतः वहां सौर रश्मिएं नहीं पहुंचने पाती। इस काल में (कृष्णपक्ष में), विशेषतः अमावास्या में चान्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आकर ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही चान्द्रसोम पृथिवी पर आता रहता है, परन्तु जब चन्द्रमा ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है तो सोम सर्वात्मना पृथिवी पर आजाता है। यही सूर्येन्दुसंगमकाल 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन चान्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निवास करता है, अतएव यह तिथि 'अग्निना-ममा (सह) वसति (सोमः)' इस व्युत्पत्ति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानसूत्रपर्वचक्र पितरप्राण प्रबुद्ध रहता है, अतएव अमावास्या भितृतिथि कहलती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होजाता है। ओषधिएं ही पुरुषाग्नि में हुत होकर शुक्ररूप में परिणत होती हैं। पितरप्राणावच्छिन्न शुक्र की योषिद्धि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। शुरुगत इसी पितरप्राण के समिन्धन के लिए अमावास्या में दर्शेष्टि की जाती है। कहना यही है कि जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में आता है, तभी वह अन्त्यात्मसंस्था का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आदानकाल है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर याजिश्रुति कहती है—

“इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं पञ्जहार-सो ऽवलीयान् मन्वमानो नास्तुपीतीव विभ्यन्निलयाक्वके । स पराः परावतो जगाम । तमन्वेष्टुं दधिरे । अग्निं-

वतानां, हिरण्यस्तूप ऋषीणां, बृहती छन्दसाम् । तमग्निरनुविवेद । तेनैतां रात्रिं सहाजगाम । ते देवा अग्न्यवन्-ममा वै नोऽद्य वसुर्वसति । + + × + । ते देवा अग्न्यवन्-न वा इममन्यत् सोमाद्दिनुयात् । सोमभेवास्मै सम्भरोमेति । तस्मै सोमं समभरन् । एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः । स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरास्तान्न पश्चाद्देश, तदिमं लोकमागच्छति । स इहे-चापश्रौपथीश्च मविशति । स वै देवानां वसु, अन्नं होषाम् । तच्चदेप एतां रात्रिमिहामावसति-तस्माद्मावास्या नाम” ।

(शत० ब्रा० १।६।१।१-५) ।

“जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के लिए (वृत्रासुर पर) वज्र फेंका—(उस समय) इन्द्र अपने आप को (वृत्रवध में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने ध्यान मीच कर वृत्रासुर पर वज्र फेंकने को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि मेरे वज्र से वृत्र नारा ही जायगा । फलतः वज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करने के भय से इन्द्र बड़ी दूर निकल गए । (चूंकि इन्द्र देवता, ऋषि, छन्द आदि के अप्यत् थे, अतः उनके गुण होजाने पर) इन्हें (देवताओंने) हूँदना आरम्भ किया । (हूँदने के लिए) देव-ताओं की ओर से अग्नि गए, ऋषियों की ओर से हिरण्यस्तूप गए, एवं छन्दों में बृहती गया । अन्ततः अग्निने इन्द्र को हूँद निकाला । इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अमावास्या) रात्रि में लौट आए । (अग्नि के साथ इन्द्र को लौट आया देखकर) देवता आपस में कहने लगे कि आज अपना यह (वसु बहुपुण्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है । + + + । [चूंकि वृत्रवधकर्म में इन्द्र की शक्ति क्षीण होगई थी, इसलिये देवताओंने बल-प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को तृप्त नहीं कर सकता । अतः इन्द्र के लिए सोम का ही सम्भरण करें । फलतः देवताओंने इन्द्र के लिए सोम प्रदान किया । यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रलम्ब दृष्ट यह चन्द्रमा है । यह जिस रात न पूर्व दिखलाई देता, न परिचय, उस रात्रि में वह इस लोक

गायत्रपुराण का पहिला पर्व रस-बलरूप है, यही मूलपर्व है । रस-सत् है, बल अस्त है । असत्बलयुक्त सद्रस की समष्टि ही पहिला पर्व है । इसी प्रथमपर्व को परात्पर कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं. २५५५) । आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास है । परात्पर का रसभाग मायाकृत अन्तश्चित्ति से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत' नाम से, एवं बलभाग मायाकृत वहिश्चित्ति से मनप्राणवाङ्मय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । रस का प्रथम विकास अमृत है, बल का प्रथम विकास मृत्यु है । रस-बलशब्द जहाँ परात्परत्व के लिए नियत हैं, वहाँ अमृत-मृत्युशब्द मायोपार्थिक पुरुषविवर्त के लिए नियत हैं । जैसे परात्पर की रस-बल वला सत्-अस्त नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष की उक्त दोनों कलाओं के लिए क्रमशः विद्या-कर्म शब्द नियत हैं । अमृत-मृत्युरूप विद्या-कर्म की समष्टि यह पुरुष (षोडशीपुरुष) उस गायत्रपुराण का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अक्षर है । पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत-भाग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान कर्ममय मृत्युभाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है । स्थिति-गति उस रस-बल का द्वितीय विकास है । यही विद्यासाधस्या 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही 'अव्यम्भू' कहा जाता है । यही गायत्रपुराण का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अक्षर है । रसप्रधाना स्थिति, बलप्रधाना गति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द नियत हैं । अव्यक्त स्रव्यम्भू का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिभाग ही आगे जाकर स्नेहरूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान निरुक्त गतिभाग ही आगे जाकर तेजरूप में परिणत होता है । यह स्नेह-तेज उस रस-बल का तृतीय विकास है । यही विकासावस्था 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहन होना है । गायत्रपुराण का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अक्षर है । रसप्रधान स्नेह, बलप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रधि-प्राण शब्द नियत हैं । व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी का रसप्रधान रधिरूप स्नेहभाग ही आगे जाकर (वेदात्मि के सम्बन्ध से) विद्यारूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान प्राणरूप तेजभाग ही आगे जाकर अविद्यारूप में परिणत होता है । यह विद्या-अविद्या उस रस-बल का चतुर्थ विकास है । यही-

विकासावस्था 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सूर्य कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही पांचवां पर्व, किंवा पांचवा अक्षर है। रसप्रधाना विद्या, बलप्रधाना अविद्या इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः ज्योति-तम शब्द नियत हैं। व्यक्त सूर्य का रसप्रधान ज्योतिर्मय विद्याभाग ही आगे जाकर सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान तमोमय अविद्याभाग ही आगे जाकर असम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है। यह संभूति एवं असम्भूति उस रस-बल का पांचवां विकास है। यही विकासावस्था 'विचज्जुण' नाम से प्रसिद्ध है, इसी को 'चन्द्रमा' कहा जाता है। गायत्रपुरुष का यही षष्ठ पर्व, किंवा षष्ठा अक्षर है। रसप्रधाना संभूति, बलप्रधाना असम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः उत्पत्ति-जय यह दो शब्द नियत हैं। मय्ये चन्द्रमा का रसप्रधान उत्पत्तिमय संभूतिभाग ही आगे जाकर ज्ञानरूप में परिणत होता हुआ सर्वज्ञ नाम से व्यवहृत होता है, एवं बलप्रधान लयरूप असम्भूतिभाव ही आगे जाकर अर्थरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है। इन दोनों के मध्य में एक तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्व का विकास और होता है। ज्ञानमूर्ति सर्वज्ञ, क्रियामूर्ति हिरण्यगर्भ, अर्थमूर्ति विराट् की सगष्टि ही 'देवसत्त्व' नाम से प्रसिद्ध है। इस की प्रतिष्ठा अमृता पृथिवी है। यह उस रसबल का षष्ठा विकास है। गायत्रपुरुष का यही ७वां पर्व, किंवा ७ वां अक्षर है। अग्निमूर्ति देवसत्त्व के रसप्रधान ज्ञानभाग से आगे जाकर देवता का विकास होता है, एवं बलप्रधान अर्थभाग से भूत का विकास होता है। यह 'देवता' (प्राण) 'भूत' उस रस-बल का सातवां विकास है। यही विकासावस्था 'भूपिण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। गायत्र पुरुष का यही ८ वां पर्व, किंवा ८ वां अक्षर है। रसप्रधान देवता, बल प्रधान भूत इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अमूर्त्त-मूर्त्त-शब्द नियत हैं। यही आठवां पर्व जीवपुरुष में है। केवल सयम्भू आदि के नामों में अन्तर है। इस प्रकार एक ही रस-बल चितितारतम्य से उक्त आठ रूपों में परिणत होनाता है। यही तो उस मन्त्र का महापर्व, महामन्त्र है।

उक्त गायत्रपुरुष-तालिका से पाठकों को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहले सूर्य, सूर्य से पहिले परमेष्ठी की सम्भूति (उत्पत्ति) हो-
जाती है। भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। सर्वान्त में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अत-
एव पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृ-
थिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक धामच्छुद्ध प्राण 'अग्नि' नाम से
प्रसिद्ध है। यह प्राण वाक्प्रधान है, एवं वाक्त्व भावरण का जनक है। फलतः वाङ्-
मय अग्निप्राण का भी आवरकरव सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अज्ञ पर घूमता हुआ इस
स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का (अहोरात्र का) स्वरूप संपादन करता हुआ, सूर्य के
चारों ओर अपने नियत क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संवत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठा-
ता बन रहा है। प्रबलवेग से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांशु सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध
होता रहता है। इस सौर अग्नि के ताप से पार्थिव वाङ्मय अग्निप्राण (पार्थिववाङ्मय अग्निरस)
द्रुत होता रहता है। पिचला हुआ यह अग्निप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संलग्न
रहता हुआ घूमता रहता है। ऐसी तीन परिक्रमाओं के अनन्तर वह द्रुत अग्निप्राण
(अग्निरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परित्यक्त यह सोमभाग अग्नि-
नेत्र से बह कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

वात यह है कि अग्निशरीर का जितना अंश सोमरूप में परिणत होजाता है, वह उस
पार्थिव वाङ्मय, अतएव घन अग्नि की अपेक्षा हलका बन जाता है। हलका बनते ही वह प-
थिव्य अग्नि से पृथक् होकर चारों ओर दिशाओं में ऋतरूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की
ओर ही अनुगत होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकला
धरातल पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एककोलावच्छेदेन समेट कर
उन्हें पुञ्जीभूत बना डालता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ प-
रिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु क्रमशः घन
होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर दरपमान चन्द्रपिण्ड रूप में परि-

गत होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर घुमतातल में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्थिव पानी वाष्परूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष घरातल में व्याप्त होजाते हैं, वही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई०द्वि०खं०अव्य-क्षात्माधिकरण०४४पृ०)वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगृहीत होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुञ्जः क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परिणत हुए हैं—(देखिए ई०द्वि०खं० २३३पृ०), एतमेव इतस्ततः फैले हुए पार्थिव सोम खूब ही क्रमशः पिण्डीभूत होकर चन्द्ररूप में परिणत हुए हैं। इसी चन्द्रोत्पत्ति रहस्य को सद्य में खोल कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै त्रिषा जज्ञेऽग्निर्भगवानृषिः ।

काष्ठकुण्डव्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥

सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं मदत् पुरा ।

त्रीणी वर्षसहस्राणि दिव्यानीति इ नः श्रुतम् ॥२॥

तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिपस्य हि ।

सोमत्त्वं तनुरोपेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥

ऊर्ध्वमात्रक्रमे तस्य सोमत्त्वं भावितात्मनः ।

नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥

यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।

ततः सहाभिः शितांशुर्निपपात् वसुन्धराम् ॥५॥

पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।

रयमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥६॥

गायत्रपुरुषपरितेख

अष्टाक्षरा वै गायत्री-ईश्वरपुरुषो गायत्रः-जीवपुरुषो गायत्रः



१-	१-रसः (सत्) २-वक्तुम् (असत्)	}	→ परात्परः	→ परात्परः
	—०—			
२-	१-अमृतम् (विद्या) २-मृत्युः (कर्म)	}	→ षोडशीपुरुषः	→ षोडशीपुरुषः
	—०—			
३-	१-स्थितिः (अनिरुक्तः) २-गतिः (निरुक्तः)	}	→ स्वयम्भूः	→ अन्वयकात्मा
	—०—			
४-	१-स्नेहः (रयिः) २-तेजः (प्राणः)	}	→ परमेष्ठी	→ महानात्मा
	—०—			
५-	१-विद्या (ज्योतिः) २-अविद्या (तमः)	}	→ सूर्य्यः	→ विज्ञानात्मा
	—०—			
६-	१-संभूतिः (उत्पत्तिः) २-विनाशः (लयः)	}	→ चन्द्रमाः	→ प्रज्ञानात्मा
	—०—			
७-	१-ज्ञानम् (ब्रह्म) २-अर्थः (कर्म)	}	→ साक्षीसुपर्णः	→ भोक्तासुपर्णः
	—०—			
८-	१-देयताः (अमूर्त्तम्) २-भूतानि (मूर्त्तम्)	}	→ भूपिण्डम्	→ शरीरम्
	—०—			

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।

त्रिःसप्तकृत्वो ऽतिशयशाश्वकाराभिषदक्षिणात् ॥७॥

वस्य यद्द्रवितं तेजः पृथिवीमन्वपश्यत ।

ओषध्यस्ताः समुद्रभूनास्तेजसा ज्वलयंत्युत् ॥८॥

ताभिः पुष्पात्पर्यं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।

पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमाः ॥९॥

ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।

वीजौपधीनां विप्राणामपां च द्विजसत्तमाः ॥१०॥

[ब्रह्माण्डोपोद्घात]

‘हे ब्राह्मणो । एक बार सोम के पिता भगवान् अग्नि ऋषिने यह किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुराण में (चन्द्रसृष्टि के आरम्भकाल में) महातेजस्वी अग्नि महर्षिने अपने हाथों को ऊंचाकर, शरीर से स्पर्श पापाण की प्रतिमा समान बनकर ‘सुदुश्चर’ नाम का बड़ा उम तप किया । हमने सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त लो अग्निने यह उम तप किया । सर्वथा निरश्लेष एकप्र रूप से स्थित ऊर्ध्वरेता उन अग्नि महर्षि का शरीर महाबुद्धिराली ब्राह्मण सोमरूप में परिणत होगया । सोम की भावना करने वाले अग्नि महर्षि का यह सोम ऊपर की ओर उठा, नेत्रों से सोमरस बह निकला, उसने दसों दिशाओं को प्रकाशित का दिया । जब दिशाएं उस गर्भमूल सोम को धारण करने में समर्थ न होसकी तो वह शीतानु सोम पृथिवी की ओर गिरने लगा । सोम को पृथिवी कीओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्मने उसे लोककल्पण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्मने २१ बार उसे भूषिण्ड की परि-
क्रम करवाई । गिरते हुए सोम का जो प्रवृद्ध भाग पृथिवी में गिर गया, उससे ओषधिरें उत्पन्न हुईं । इन्हीं ओषधियों से चन्द्रमा चतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजश्रेष्ठो । भगवान् सोम जगत् के पोष्टा हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्मने चन्द्रमा को राज्य का अधिकारी बनाया, ओषधि और आदणों का अधिपति बनाया—‘सोमोऽस्माकं ब्राह्मणां राजा’ ।

वस्तु आख्यान समानरूप से आधिदैविक (प्राकृतिक) एवं आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का निरूपण करता है। भौम ब्रह्माने अत्रि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्याधिकार कर इन्हें उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया था, एवं सोम और ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया था। आगे जाकर गुरुपत्नी तारा के अपहरण से अष्टमति चन्द्रमा की उदासीनता से असुरों द्वारा यहसाधक सोमवृक्ष [सोमवल्ली] का समूल विनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वनगराधिष्ठिता चन्द्रमा की कृपा से भौमदेववर्ग सदा के लिए उन्मिन्न होगया। इसीलिए असुरसम्प्रदाय वाले आज भी अपने धार्मिक कृत्यों में चन्द्रमा को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिलख अत्रि द्वारा ही अन्धकार की निवृत्ति मानी गई है, जैसा कि बादरायण कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्त्वृष्णीमभृद्वायुस्तमब्रवीत् ।

शृणु मे हृदयश्रेष्ठ ! कर्म्मत्रिः सुमहात्मनः ॥ १ ॥

घोरे तमस्ययुध्यन्त संहिता देवदानवाः ।

अविध्यत गर्गस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ ॥ २ ॥

अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्तेऽथ दानवैः ।

देवा नृपतिगार्दूल ! सर्वथ यन्निभिस्तदा ॥ ३ ॥

असुरैर्विध्यमानास्ते चीणमाणा दिवोकसः ।

अपरयन्त तपस्यन्तर्मन्त्रिं विभं तपोधनम् ॥ ४ ॥

अप्यनमद्युवन् देवाः शान्तमनोऽथ नितेन्द्रियम् ।

असुरैरिषुमिर्विद्धौ चन्द्रादित्याभिमायुभौ ॥ ५ ॥

वयं वक्ष्यामहे चापि गद्युभिस्तमसाद्यते ।

नापिगच्छाम शान्तिं च भयात्प्राप्यस्व तः ममोः ॥ ६ ॥

अत्रिरुवाच

कथं रक्षामि भवतस्तेऽद्युपश्चन्द्रमा भव ।
 तिमिरघ्नश्च सविता द्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥
 एमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ॥
 अपश्यत् सौम्यभावाच्च सोमवत् मियदर्शनः ॥ ८ ॥
 दृष्ट्वा नातिप्रमं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
 प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन सयुगे ॥ ९ ॥
 जगद्विभिरं चापि मदीप्तमकरोत्तदा ॥ १० ॥

[महाभारत अनु. पर्व. १५७ अ.] ।

“यह सुनकर अर्जुन चुप होगया। वासु ने (पुन) कहा कि हे हैहयधरा में श्रेष्ठ ! तूम (अथ) मशाम्नाओं में सुप्रसिद्ध अत्रि का कर्म (चरित्र) सुनो। (एकबार) घोर अन्धकार में देव-दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिलित होकर युद्ध करने लगे। (उस युद्ध में) स्वर्भानु नाम के राहु ने सैरुडों तीरों से चन्द्रमा और सूर्य का शरीर चलनी बना डाला। हे राजाओं में श्रेष्ठ ! इस प्रकार उन महा बलवान् दानवों से पीड़ित वे देवता उस घोर अन्धकार से राजाओं में श्रेष्ठ ! इस प्रकार उन महा बलवान् दानवों से पीड़ित वे देवता उस घोर अन्धकार से घिर गए। उस समय असुरों से संव्रत वे देवता सर्वथा लज्जित होगए। (उसी अन्धकार में) उन क्षीणकाम देवताओं ने (एक स्थान पर) तपस्वी अत्रि को तप करते हुए देखा। सर्वथा शांतमूर्ति एवं जितेन्द्रिय अत्रि से देवता (विनय पूर्वक) कहने लगे कि (हे महर्षे !) इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से बीच डाले गए हैं। (अपन हम सचमुच) इस घोर अन्धकार में इन शत्रुओं से मारे जायगे। हमें इस समय जरा भी शान्ति नहीं है। हे प्रभो ! आप (ही) इस समय इस भय से हमारी रक्षा कीजिए। (देवताओं की यह वातर प्रार्थना सुन करे) अत्रि कहने लगे—हे देवताओं ! तुम्हीं बलवान्, मैं किस उपाय से तुम्हारी रक्षा करूँ ? देवता कहने लगे, हे महर्षे ! आप चन्द्रमा उन जाइए, एवं अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य

वन जाइए। इउ प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दस्युओं के नाश का कारण बनिए। देवताओं से यह सुनकर अत्रि (तत्काल) अन्धकार दूर करने वाले चन्द्रमा बन गए। एक सोम्य-भाववत् सुन्दर बच्चे की तरह दीखने में सुन्दर उस चन्द्रमा को अत्रिने देखा। हे राजन्! उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तपोबल से अत्रिने उन दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया। इस प्रकार अत्रिने अपने तपोबल से संसार को अन्धकार शून्य कर दिया, सर्वत्र उजाला कर दिया”।

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है, जिसका कि निरूपण विस्तार भय से प्रकृत में नहीं किया जासकता। इन पौराणिक आख्यानों के मूल श्रौत आख्यान ही हैं। प्रायः इसी से मिलता जुलता आख्यान ख्यं संहिता में, एवं ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है। देखिए—

१-यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।

अत्रेव विषया मुग्धो भुवनान्यदीपयुः ॥

२-स्वर्भानोरथयदिन्द्र माया अथो दिवो वर्त्तमाना भवाहन्।

गृहं सूर्य तमसापत्रेतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दतत्रिः ॥

३-शान्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन्त कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।

अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराथाव स्वर्भानोरपमाया अमुत्तव ॥

४-यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः

अत्रयस्तमन्विन्दन् नह्नान्ये अशक्नुवन् ॥

(श्रुक् सं० ५०।४०।५-६-८१)।

१-“स्वर्भानुर्हवाऽआसुरः सूर्यं तमसा विध्याथ। स तमसा विद्वो न व्य-
रोचत, तस्य से मारुद्भौ-एवैतत्तमोऽपाहताम्। स एषोऽपहतपाप्मा तपति”।

(शत० ५।३।२।१-२)।

इस प्रकार धार्मसाहित्य में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एवं चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—“किसी समय चन्द्रमा धीरे उष्ण था, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्भ में अग्नि रह गया, इसी अवस्था का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का वह भाग जो सर्वथा अद्रिशुन्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, वही चन्द्रमा कहलाया”। अतः इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वात्मना सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिक्रम में सब के अन्त में उत्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्भूति, एवं विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है? हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी यथा कथंचित् चन्द्रमा माना जासकता है, परन्तु एकहेलवा चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परायण मान बैठना, कैसे संगत हुआ? उक्त प्रश्न का समाधान करें, इस से पहिले संक्षेप से सम्भूति, एवं विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकरण के आरम्भ में ही यह बतलाया गया है कि रस-बल के अवस्थातारतम्य से विश्व में विविध भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रस और बल इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असंग रहता है, एवं बल रस की व्यापक अवस्था में असंग, एवं रस की परिच्छिन्न दशा में संगत बन जाता है। रस की व्यापक एवं परिच्छिन्न दशाभेद से बल की चार अवस्थाएं हो जाती हैं। वे ही चारों अवस्थाएं आविर्भाव, तिरोभाव, सम्भूति, विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असंगत बल उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन संगतधर्मी बलों को परस्पर में ग्रन्थिबंधन करने का अवसर नहीं मिलता। अग्नि तु त्रिस प्रकार एक असीम समुद्र में चहरे उठती रहती है, एवं

बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चावचभाषापत्र बल उस रसधरातल में सदैवर सम्बन्ध से-ठीक लहरों के समान उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। बलों का यह सम्बन्ध असंगत-सम्बन्ध है। आविर्भाव-तिरोभाव, उदय-अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। बलों का ऐसा सम्बन्ध संघटितक्षण-हृदयग्रन्थिमूलक सृष्टिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे जाकर माया की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। हृदयबल से सर्वप्रथम 'सत्चारस' का उदय होता है। पुरुषात्माधिकरण की पुरुष-निरुक्ति में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि बल की चिति से एक ही रसतरंग आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् मेद से पञ्चकोशरूप में परिणत हो जाता है—(देखिए—ई. भा. द्वि. खं. २६५ से २८५ पृ.)। इनमें मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही सत्चारस है। इसी सत्चारस का नाम 'अस्तित्व' है। यही सत्चारस सम्भूति का कारण है। यदि बल हृदयग्रन्थिसम्बन्ध से सत्चारस के उदर में आजाते हैं तो उस सत्तायुक्त बलसमुच्चय में अर्पण नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। वस सत्चारस के ग्रन्थिवंधन सम्बन्ध में बलों का अपूर्ण नाम-रूप धारण कर लेना ही बल की 'सम्भूति' है। एवं ग्रन्थिवंधन के टूट जाने से उस बलसंघात का सत्चारस से पृथक् होते हुए नाम रूप का परित्याग कर देना ही 'विनाश' है।

सत्चार्यक भू पातु से सम्भूति शब्द निष्पन्न हुआ है। 'अयं घटोऽस्ति' घट पदार्थ का यह सत्तालक्षण निर्वचन है। मिट्टी में जो मनप्राणवाङ्मय सत्चारस था, उसे लेकर आब घट सम्भूति का अधिष्ठाता बन रहा है। जिस दिन घट में से मिट्टी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन घट अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही घट का विनाशकाल होगा। बलों पर सत्चारस का अनुग्रह भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की शुनिलक्षणा सत्ता में आपको पकड़ रक्खा है। यदि क्षणमात्र के लिए भी इस पार्थिव सत्ता से आपका वियोग हो जाता है तो आपका अभाव हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। बिन्दु बिन्दु पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुप्रादिका बन रही है। चलते चलते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर दृश्य पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में आने वाले गर्त (गड्ढे) का ध्यान नहीं रहता। अस्मात् परे फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल क्षणमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठारूपा सत्ता का वियोग है। यदि जानबूझ कर सावधानी से आप तीन फिट-के गड्ढे गर्त में भी पांव रख देते हैं तो भय नहीं होता, कारण इस समय आप का लक्ष्य उस सत्ता पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपका पैर फुटपाथ से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि यह आपकी दृष्टि सत्ता पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सत्ता का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव-सत्ता के गर्भ में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के डेले को आप कितना ही ऊंचा फेंकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्काल नीचे आ जायगा। इस प्रकार तत्कालों की तत्त्वप्रजाओं पर तत्कालों की प्रतिष्ठालिका सत्ता का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सत्तारस का हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध नहीं है, अपितु विभूतिसम्बन्ध है। इस सत्ता से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल स्वरूपरचा होती है, अतएव इस सत्तारस के अनुग्रह को हम सम्भूति न कहकर 'विभूति' ही कहेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सत्ता ही ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से अपूर्व नाम-रूपोदय की जननी बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्भूति का कारण बनी है। हृदय एक नियत बिन्दु है। इस एकमात्रालिका हृदयबिन्दु के साथ पार्थिव सत्ता का जब ग्रन्थिबन्धन हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्ववस्था को 'सम्भूति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'भूति' सत्ताभाव का चोतक है। ऐसी भूति (सत्ता) जो ग्रन्थिबन्धन द्वारा बलसप्तति के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाय, वही 'सम्भूति' है। भूति का एकीभाव से पृथक् हो जाना ही बल का विनाश है। बल नष्ट नहीं होता, ग्रन्थिबन्धन से बल की उत्पत्ति मान ली जाती है, एवं ग्रन्थिविभोकारण ही बल का विनाश मान

लिया जाता है। जो बलसंघात ग्रन्थिवन्धन से युक्त सत्तारस से अपूर्व नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ था, वही ग्रन्थिवन्धन के टूट जाने से आज उसी सत्ता के गर्भ में विलीन हो रहा है। सत्तारस को अपने केंद्र में रख लेना, दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने उदर में रख लेना बल की सम्भूति है, एवं बल का सत्ता के गर्भ में चला जाना बल का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, बल ऊंचा है, बल का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत्-अयन हट गया, बल सत्ता के उदर में लीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझने के लिए उत्पत्तिलक्षणा सम्भूति के लिए जहां ऋषियों ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहां विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। बलों का लयभाव ही इन का विनाश है, उदयभाव ही इनकी उत्पत्ति है। सम्भूति में बलप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता बल की अनुगामिनी बन रही है। विनाश में बल सत्ता का अनुगामी बन रहा है। बंधन सम्भूति है, बंधनविमोक्त विनाश है। एक ही तत्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है, न विनाश है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एवं विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अब उक्त प्रश्न का विवेचन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विश्व चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एवं चन्द्रमा ही विश्वविनाश का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष यह हुआ था कि शिखरवर्षों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे माना जासकता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए थोड़ी देर के लिए हमें यज्ञपुरुष की शरण में चलना होगा। पूर्व के विश्वानामाधिकरण में यज्ञविकल्प का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञपदार्थ का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए ई० वि० २ ख० २१३-३०२)। अग्नि में सोम की आहुति होने से अग्निस्त्रोम के समन्वय से जो एक अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विश्व में रहने वाली प्रजा

उत्पन्न होती है। इधर हम सत्त्वारस से युक्त बलसंघात को सम्भूति का कारण बतला रहे हैं। दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कीजिए। मनप्राणवाङ्मूर्धिरस सत्त्वा है, यह विज्ञानरूप चिद, एवं आनन्द से अविनाभूत है। रसमूर्ति पञ्चकल, किंवा त्रिकल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अन्वय है। अक्षर एवं आत्मक्षर नाम से प्रसिद्ध इस अव्यय की 'दो अन्तरंग प्रकृतिएं' हैं। यह उस पुरुष की स्वभावभूता हैं, अतएव उस से अविनाभूत हैं। रसप्रधान, अतएव रसमूर्ति अन्तरंगप्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही 'पोडशीप्रजापति' है। यद्यपि सम्भूति का कारण-सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, तथापि सत्ताभाग को ही प्रधान माना गया है। आनन्द और विज्ञान (चित) भी सम्भूति के कारण हैं, किन्तु गौणरूप से। आनन्द विज्ञान उस अव्यय ब्रह्म का मुक्तिसाक्षी भाग है। मन-प्राण-वाङ्मय सत्ताभाग सृष्टिसाक्षी है। मुक्ति में यह गौण है, वह प्रधान है। सृष्टि में यह प्रधान है, वह गौण है। इसी अभिप्राय से मन-प्राण-वाक् की समष्टिरूप सत्त्वारस के समन्वय-असमावय को ही संभूति एवं विनाश का कारण बतलाया गया है। मन से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उस का तप है, वाङ्मयापार श्रम है। काम-तप-श्रम ही सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं—(ई० भा० २ ख० ३१० पृ०)। वह सत्तावन प्रजापति अक्षर-मय है, अक्षर वेदमूर्ति है, वेद का यजुर्भाग ब्रह्माग्नि है। ऐसी दशा में सत्त्वारसरूप वेद-मूर्ति पोडशी प्रजापति को अवश्य ही 'अग्नि' (वेदाग्निमूर्ति) कहा जासकता है। पुरुष सालाव 'अग्नि' है—“पुरुषो वा अग्निः” (शत० ११।८।१।१६)—“ब्रह्म वा अग्निः” (कौ० ६।५)। 'आत्मा वा अग्निः’ (शत० ७।३।१।२)।

इस पुरुषोक्ति में बलप्रधाना पञ्चग विभक्त प्रकृति की आहुति होती है। यह आहुयमाना प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो भवति' 'सूयतेऽग्नौ' 'अभिपुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार अग्नि में आहुत होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ, स्वयमपि रश्मिप्रसार करता हुआ प्रदीप्त होजाता है, अतएव 'सोम' को 'चन्द्रमा' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। आप अन्तरिक्ष में चन्द्रकामय जो पिण्ड देखते हैं उसी का नाम चन्द्रमा नहीं है। अपितु चन्द्रमा सोमतप्य है, चन्द्रमा शब्द सोमताप्य का

वाचक है, सोमत्व आहुतिद्रव्य का वाचक है। इस सामान्य परिमाणा के अनुसार आहुत होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एवं जिन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की आहुति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद्' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण-आप-वाग्नि पाचों प्रकृतियों में क्ल की प्रधानता है। वह रस है, यह क्ल है। वह भोक्ता (अन्नाद्) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह भोग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। इस की उत्पत्ति आहुति होती है, रसबलात्मक अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी यज्ञ से विश्व सम्भूत हुआ है। सारा विश्व सोमरूप प्रकृति की पुरुष में आहुति होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में 'पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आप्रेय बतलाया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में बलत्व की प्रधानता रहती है, अतएव खी को सौम्या कहा जाता है। पुरुष-प्रकृति, रस-बल, अग्नि-सोम सब अभिन्नार्थक हैं। प्रकृति-पुरुष का समन्वय, रस-बल का समन्वय, अग्नि-सोम का समन्वय, एवं असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि चन्द्रमा (सोम-प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अधिष्ठाता है।

अपेक्षया सभी सोम हैं, सभी अग्नि हैं। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रत्यंशों को लेकर उन्हें अपने शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद् (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस सूर्य ले रहा है, सूर्य का रस हम से रहे हैं। हम सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। उस के पदार्थों को जहां हम खा रहे हैं, वह हमारे धातुओं का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्रत्यंशों को लेती देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गात्मक अन्नान्नादयज्ञ व्याप्त है। सभी अन्न हैं, सभी सोम हैं। सभी अग्नि हैं, सभी अन्नाद् हैं—“अन्नाद्-एवाग्निरभवद्भ्रं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च” (शत० ११।१।६।१२)। इसी व्यापक अन्न-अन्नादनाय का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽपृतस्य नाम ।

यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ॥

यह तो हुई शास्त्रदृष्टि । अब प्रयत्नदृष्टि से सोम की सम्भूति विनाश का विचार कीजिए । संभूति (सृष्टि) आत्मा-प्रकृति-विकृति इन तीन भागों में विभक्त है । आत्मसृष्टि-प्रकृतिसृष्टि-विकृतिसृष्टि भेद से सम्भूतिरूपा सृष्टि के तीन विध हैं । इन तीनों ही सृष्टियों का अधिष्ठाता सोमत्व है । महदात्माधिकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि सोमसूर्ति महान् में ही षोडशी आत्मा गर्भ धारण करता है—'मम योनिर्महद्ब्रह्म' । आत्मविकासभूमि एकमात्र महत्सोम (परमेष्ठ्य सोम) ही है । प्रकृति ब्रह्म से विश्व का निर्माण हुआ है, परन्तु अप्तत्व की आहुति से । अप्तत्व साक्षात् सोम है । इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतिस्वरूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है । इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठी का विकास हुआ है, यही सोम अव्यक्त पुराटीर स्वयम्भू का जनक है । इसी सोमाहुति से भूपिराड निष्पन्न हुआ है । इसी सोम का प्रवृत्त अंग चन्द्रमा है । इस प्रकार आगे जाकर चन्द्रमा नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बन जाता है । सोम की इसी सम्भूतिवद्वया निभूति का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

१- महत्त सोमो महिपश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवात् ।

अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्येज्योतिरिन्दुः ॥ [श्रुक्. ९ । ९७ । ४१] ।

२- अत्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयत् प्रजा भुवनस्य राजा ।

वृषा पवित्र अधि स्नानो अव्ये बृहत्सोमो वाटपे सुवान इन्दुः ॥ [श्रु. ९।९७।४०] ।

३- पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुतं मर्त्यानाम् ।

द्विता सुवद्रयिपती रयीणामृतं भरत सुभृतं चार्विन्दुः ॥ [श्रु. ९ । ९७ । २४] ।

४- एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा ।

द्रप्साँ ईरयन् विदधेऽधिन्दुर्वि वारमव्य समयाति याति ॥ (ऋ. ६।६७।५६) ।

५- या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोपग्रीष्वप्सु ।

तभिर्नो विश्वैः सुमना ब्रह्मन्नाजन्त्सोम प्रति हव्या यथाय (ऋ. १।६।१४) ।

६- त्वमिमा ओपग्रीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गा ।

त्वमा ततन्धोर्वन्तरिन्नं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ (ऋ. १।६।१२२) ।

- १- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करने के कारण)-महिष-(महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम ने यह महद् कर्म (बड़ा भारी कर्म) किया है, जोकि पानी के गर्भ बने हुए देवताओं का (सौर देवताओं का) वरण कर लिया है । (आपोमय परमेष्ठी मण्डल में प्रतिष्ठित अप्सुत्व की विरलान्स्वरूप सोम की आहुति से ही ज्योतिर्मय सौर देवताओं का विकास हुआ है, इसी अभिप्राय से "अपां यद्गर्भोऽष्टणीत देवान्" यह कहा है) । (दूषित भाग को निकालने के कारण) पवमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम] ने इन्द्र (सौर अमृतप्राण) में ओज (बलप्रद वीर्य) स्थापित किया है-[तभी तो "या च का च चलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्" यह कहा जाता है] । इसी इन्द्र (सोम) ने सूर्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है । "त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इस ऋक्सिद्धान्त के अनुसार दाह्य पारमेष्ठ्य सोम की दाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है । इसी सोमाहुति से सौर मण्डल में प्रकाश हो रहा है । "आ कृष्णेन रजसा वर्चमानः" इस यजु श्रुति के अनुसार सूर्य, किंवा सौर अग्नि भी लक्षरूप से घोर कृष्ण [माला] है, एव "ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु-चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णः" इस मन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी घोर कृष्ण है । न अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है । प्रकाश उत्पन्न होना है दोनों के समन्वय से । इस समन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वरूपान पर प्रतिष्ठित रहना है । इस में रेतः

'स्पानीय' सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही 'प्योति' का प्रवर्तक माना जाता है। यही नित्वाग्निहोत्र है, यही 'जरामर्यसत्र' है—“सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्” (शत. २ का. १२ अ. १५ भा. १ फं.) ॥१॥

२- पानी की बर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विशाल अन्त-रिक्ष में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिक्रमण कर रहा है। तात्पर्य यही है कि छान्दोग्य उपनिषत् की 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार श्रद्धात्मक सोम ही क्रमशः श्रद्धा-सोम-दृष्टि (पानी)-अन्न-रेत रूप में परिवर्तित होता हुआ क्रमशः द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषित्व इन् पाँचों अक्षियों में आहुत होता हुआ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजोपत्ति का कारण बनता है। अभिषूयनाय वर्षाशील वह प्रदीप्त सोम विशेषरूप से प्रवृद्ध होता है ॥२॥

३- सूर्य की परित्र रश्मियों से पवित्रतम बना हुआ, देवता मनुष्यादि प्रजाओं का अभिपति, सम्पूर्ण सम्पत्तियों का अधिपतिता वह सोम भलीभाँति संगृहीत होता हुआ बल्ल्याणप्रद स्वस्वार्ण को धारणाकारता है ॥३॥

४- सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यही कर्मों में अपनी शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेष्टन करता हुआ, कर्म सञ्चासन करता हुआ योगे चलता है ॥४॥ (शेष दोनों का अर्थ स्पष्ट है)।



इं निरूपण में यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि वास्तव में सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए ए सुप्रसिद्ध सोम (चन्द्रपिण्ड) पर दृष्टि डालिए। उपनिषत् श्रुति को सामान्यरूप से सम्भूति और विनाश का स्वरूप बतलाना है, साथ ही में मङ्गलार्था का भी निरूपण करना है, इधर प्रज्ञानांन का सम्बन्ध अतएव किसी विशेषमान का उल्लेख न करे सो-
प्रसिद्ध दृष्ट चन्द्रपिण्ड के साथ ही है,

मान्य रूप से "सम्भूति च विनाशं च" इत्यादि कह दिया गया है । सोम सारे विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे है ? इस का समाधान होगया । अब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे बनता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रत्यंशभूत सृष्टि के अन्तिम परंरूप, पृथिवी के उपग्रहभूत सुप्रसिद्ध चन्द्रपिण्ड को ही सामने रखना पड़ेगा । इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली सम्भूति सम्भृति एवं पुनःसम्भृति भेद से दो भागों में विभक्त है । हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उत्तरोत्तर होने वाली जन्मचक्ररूपा सम्भूति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है । प्रकृत अधिकरण प्रधानरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है । आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण कैसे बनता है ? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए ।

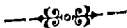
"अग्नीषोमात्मकं जगत्" (जावालोपनिषत्) इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् (रोदसी त्रैलोक्य) अग्नीषोमात्मक है । सौरत्रिलोकी जंगम प्राणियों के सम्बन्ध से 'जगत्' नाम से प्रसिद्ध है । विश्व और जगत् शब्द परस्पर में पर्याय नहीं है । संयती-क्रन्दसी-रोदसी इन तीनों त्रैलोक्यों की समष्टि विश्व है, एवं एकमात्र रोदसी त्रिलोकी जगत् है । यह जगत् सचमुच अग्नीषोममय है । जगद्यज्ञरूपसपादक अग्नि और सोम दोनों ही अनेक भागों में विभक्त हैं । परन्तु इतना ध्यान रखिए कि तेजन अग्नि का सामान्य लक्षण है, एवं स्नेहन सोम का सामान्य लक्षण है । एक की प्रतिष्ठा हृदय है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है । अग्नितत्व केन्द्र में लक्ष्यरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ अर्करूप से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है, एवं सोमतत्व परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर आण करता है । अग्नि अपने तेजनधाम से उत्तरोत्तर विगकन्वित होता जाता है । इसी मिश्रकलन से इस की अग्नि-यम-आदित्य यह तीन प्रधान अरथाएं हो जाती हैं । ठीक इसके विररीत सोमतत्व अपने स्नेहनरामाव से उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है । इसी संकोच से इस की आप-वायु-सोम यह तीन अरथाएं हो जाती हैं । अग्निप्रथी अद्विरा है । अद्विरा पिण्ड से निरन्तर निरन्तर ऊपर की ओर

जाय करता है, विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंचने से इसकी विकास क्रिया बंद हो जाती है । विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुंचते ही अंगिरा की गति पलट जाती है । विरुद्धगतिभावनापन अंगिरा ही भृगुरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है । केन्द्र की ओर आते आते जब भृगुअधी (आप-धायु-सोम) ठीक केन्द्रबिन्दु पर आ जाती है तो स्नेहलक्षण क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तत्काल तीनों में संघर्ष हो जाता है । इस संघर्ष से अंगिरा का जन्म हो जाता है । दूसरे शब्दों में केन्द्र में आकर भृगु ही अंगिरा रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार एक ही मजापतित्व गति-आगति भेद से अग्नि (अङ्गिरा), सोम (भृगु) यह दो रूप धारण कर लेता है । जो अग्नि है, वही सोम है । जो सोम है, वही अग्नि है । अग्नि अग्नि है, धारण कर लेता है । जो अग्नि है, वही सोम है । जो सोम है, वही अग्नि है । अग्नि अग्नि है, सोम पानी है । अग्नि पराकाष्ठा पर पहुंचकर पानी बन जाता है, पानी उद्ग्राभ की चरमावस्था पहुंचकर अग्नि बन जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज-स्नेहलक्षण अग्नि-सोम का साम्राज्य है । इनमें तेजोरूप अग्नित्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्वपाजुप, देव, ऋतु, सत्य, वैश्वानर, आहृत, प्रहृत, उद्धृत, धिष्य आदि अमान्तर अनेक भेद हैं । सोम के भी अमान्तर अनेक भेद हैं । उन सब अमान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्भाव माना जा सकता है । अग्नि-सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपलब्ध होता है । सोम की ये १० जातिएं निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं ।

- १-अरमा—(१-ध्रुवः, २-धर्वः, ३-धरुणः, ४-धर्मः)
- २-असुरः—(१-वृत्रः, २-तमुचिः, ३-बलघ, ४-जन्मः)
- ३-अक्षय—(१-राजा, २-वाजः, ३-प्रहः, ४-हविः)
- ४-आपः—(भृगवः-अंगिरसः) ।
- ५-सहः—(अग्निप्रभवः) ।
- ६-ओषधीः—(अग्निगर्भितः) ।
- ७-अन्तुः—(अंशुः)
- ८-पवित्रम्—(ब्रह्मणस्पतिः) ।
- ९-दिक्—(सर्वव्यापकः) ।
- १०-आत्मा—(महान्) ।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है । इस आहुतिक्रम का ही नाम यज्ञ है । अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्भूति का कारण यज्ञ ही है । 'पाङ्को वै पञ्च' के अनुसार यह पुरुषस्वरूप सर्पक यज्ञ पञ्चाशयज्ञ है । पुरुषपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पांच ही पर्व हैं; एवं सोम के भी पांच ही पर्व हैं । दोनों की समष्टि दशाक्षर विराट् यज्ञ है । उस महाविराट् से इस क्षुद्रविराट् का जन्म होता है—“अद्धेन नारी तस्यां स विराटमसृजत् मधुः” । अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री है । दोनों पतिपत्नियों के मिथुन से उस महाविराट् की सम्भूति हुई है, एवं उसी से क्षुद्रविराट् सम्भूत हुआ है । पुरुषरूप अग्नि के पाँचों पर्व क्रमशः धु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित्व इन नामों से प्रसिद्ध हैं । एवं सोम-त-र के पाँचों पर्व क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं । दिव्यनोरु का अग्नि पहिला अग्नि है, आन्तरिक अग्नि दूसरा अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीसरा अग्नि है, पुरुषाग्नि चौथा अग्नि है, योषिदग्नि पाँचवां अग्नि है । पार्थिव अग्नि प्रनाग्नि है, आन्तरिक अग्नि तरन्माग्नि है, यही वायु है । 'वायु वै वृष्टया इमे' इस वृष्टिभिषास्य के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक तरन्मायु ही वृष्टि का अभिप्राय है । दिव्य अग्नि विरनास्था-पन्न है, यही आदित्याग्नि है । अग्निपत्रवी ही अग्नि-वायु-आदित्य है । यही पृथिवी-पर्जन्य-यु है । पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुच्चय है । अग्निरय के संयोग से नया तावर्मा अग्नि उत्पन्न हो जाता है; यही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है । पुरुष साहाय्य वैश्वानर अग्नि की प्रतीका है । यह चारों अग्नि (धु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुषरूप आदित्य-यम-अग्निरय-वैश्वानर) सं-ख्याग्नि है । पाँचवां योषित्व अग्नि अमृतस्वरूप है । अमृत वा स्वल्प रमी ऋताग्नि से उत्पन्न होता है । रमी ऋताग्नि से थी वा अग्ना यमता है । रमी ऋताग्नि यही है । रमी समयों में इनमें अग्नाग्नि वा अग्निर्भाव नहीं होना, अर्थात् गु अग्नाग्नि में ही ऋताग्नि का विद्यमान होना है । अमृतमयी ही वे ऋताग्नि में तब गोमाहृति होती है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है ।

१-धु—	दिव्यविरलाग्निः	→	आदित्यः	} — अद्विराप्रयी } — सत्याग्नि
२-पर्जन्यः—	आन्तरिच्यतरलाग्नि	→	वायुः	
३-पृथिवी—	पार्थिवघनाग्निः	→	अग्निः	
४-पुरुषः—	अग्नित्रयसंयोगजन्मा	→	वैश्वानरः	
५-योषित्—	ऋतुकाले व्याप्तो ऋताग्निः	→	ऋताग्निः	



इसी प्रकार अद्वात्स्य सोम की विरलावस्था है, सोम तरलावस्था है, वर्षा (पानी) घनावस्था है। तीनों की समष्टि 'धुगु' है। इन तीनों के समन्वय से अन्न का विकास होता है, अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाचों अग्नियों में क्रमशः इन पाचों सोमों की आहुति होती है। पाचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेयता यज्ञ के संचालक है, आहुति देने वाले है। दिव्याग्नि में अद्वा सोम की आहुति होती है। चान्द्ररस का नाम ही अद्वा है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीयपिण्ड है, अद्वा का पिण्ड है। आप्येक पानी में यह चान्द्ररस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसमाग के लिए 'यो वः शिवतमो रसः' यह कहा जाता है। आपिच इसी आधार पर— 'आपो वै अद्वा संनमन्ते' "अद्वा वा मेध्या-वा आपः" इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रशुद्धरस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में परिणत हो जाता है। अद्वा पहिली अवस्था है, सोम दूसरी अवस्था है। इस सोम की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप 'स्थूल पानी' उत्पन्न होता है। यह स्थूलपानी उरस अद्वा नाम के सूक्ष्मपानी की तीसरी अवस्था है। इस वर्षा की तीसरे पार्थिव्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवस्था है। आभ्यात्मिक प्राणदेवतार्थोद्धार (इन्द्रियों द्वारा) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीराग्नि में आहुत अन्नसोम रस-मज के वागिक मिश्रण से क्रमशः रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा रूप में परिणत होता हुआ सर्वान्त में रेतोरूप में परिणत हो जाता है। यह रेत अमर्चि उस रूप में परिणत होता है। ऋतुकाल में स्त्री के ऋताग्नि में (अर्चव में) इस रेत-सोम अद्वासोम की पाचवीं अवस्था है। ऋतुकाल में स्त्री के ऋताग्नि में (अर्चव में) इस रेत-सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह अद्रारूप अप्तत्व श्रद्धा-सोम-वर्षा-अन्न-रेतोरूप में परिणत होता हुआ पांचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

“इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति”

(छं० उ० ५।११)।

वक्त यज्ञादस्य से यह सिद्ध होजाता है कि वह अद्रारूप चान्द्रसोम ही परम्परया पुरुष की प्रथमसम्भूति का कारण बनता है। पुरुष वस्तुमात्र का उपलक्षण है। रोदसी त्रैलोक्य में जिनमें भी पदार्थ हैं, सब की सम्भूति का कारण चन्द्रमा ही है। त्रैलोक्यव्यापक स्वयं साक्षि-देवसस्य (साक्षीसुपर्ण) भी देवसस्यत्वक चन्द्रमा से ही सम्भूत है। इतर सारे जड़ चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य करयप प्रजापति है, चन्द्रमा दक्षप्रजापति है, चन्द्रमा जिस चक्र पर पृथिवी की परिक्रमा लगाता है, यह वृत्त 'दक्षवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्ष चान्द्रसोम से व्याप्त रहता है। दक्षवृत्तावच्छिन्न इस चान्द्र सोम के सूर्यसम्बन्ध से १२ विभाग होजाते हैं। १२ मास ही १२ विभाग हैं। चान्द्रसोमावच्छिन्न ३० राशिरूप खगोल का एक एक प्रदेश एक एक मास है। एक संवत्सरचक्र में ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दक्षायणियों के साथ सौर-करयपप्रजापति का भोग होता है। दिति के साथ भोग होने से दैत्य, अदिति से आदित्य, कद्रू से सर्प, विनता से गरुड़, आदि प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। संसार की सारी प्रजाएं करयप प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दक्षायणियों से उत्पन्न हुई हैं। पर्व-अरिष्टनेमि-गिव-कृशाश्व-स्वयं चन्द्रमा-करयप आदि मेद से वह सोम-प्रयातल ६० मार्गों में विभक्त होजाता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कन्याओं से ही सृष्टि का संचालन होना है। इन्हीं सब कारणों से हम सोमयज्ञ चन्द्रमा को अकरय ही 'सम्भूति' का कारण मानने के लिए तथ्यार हैं।

प्रत्येक घट्ट अपने अपने नियत समय पर उत्पन्न होती है। यह नियत समय ही लोकभाषा

ध्यम् । तेन सस्येन तेन तपसा-ऋतुरस्मिं, आर्चवोऽस्मि, कोऽस्मि, त्वमस्मीवि,
तमति सृजते । ÷ ÷ ÷ ÷ । तं त्रह्णा पृच्छति-कोऽसीति ? तं प्रतिवृथाव-ऋतु
रस्मि, आर्चवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः संभूतो, भार्यायै रेतः संवत्सरस्य तेजो-
भूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा त्वमात्मासि । यस्त्वमसि-सोऽमस्मि-इति" ।

(कौ० उ० १. अ० ६. ख०) ।

चन्द्रमा ही विचक्षण है । यही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार ऋतु द्वारा रेत बनकर सब की
सम्भूति का कारण बनता हुआ सर्वरूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर
निम्न लिखित श्रौत्र वचन हमारे सामने आते हैं—

१-“असौ वै सोमो सजा विचक्षणश्चन्द्रमाः” (कौ० उ० ७।७।४।१०) ।

२-“चन्द्रमा वै जायते पुनः” (तै० ब्रा० ३।६।५।४) ।

३-“एष वै (चन्द्रमाः) रेतः” (शत० ६।१।२।४) ।

४-“चन्द्रमा एव सर्वम्” (गो० ब्रा० ५०० ५।१५) ।

जो चन्द्रमा सम्भूति का कारण है, पूर्वकथनानुसार वही विनाश का भी अधिष्ठाता है ।
सोम शिवतत्त्व है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्भूतिरूप शिवभाव
है, तभी तक यज्ञ है । यम वायु के आते ही सोमसंतान टूट जाती है, यज्ञ बंद होजाता है ।
बलप्रतिपद टूट जाती है, रस से बल (अग्निप्रसव्ध की अपेक्षा से) पृथक् होकर असद्रूप
में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विनाश है । जिस क्रम से संचर है, उसी क्रम से
प्रतिसंचर है । यही कारण है कि सम्भूत आत्मा शरीर छोड़ते ही पहिले सींग च द्रलोक
में जाता है, चाहे वह पापात्मा हो, अथवा पुण्यात्मा । चन्द्रमा से दक्षिण-उत्तर भेद से
आत्मगति के लिए दो मार्ग निम्न होते हैं । यज्ञ-तप-दान करने वाले विद्यानिष्ठ पुरुषों का
आत्मा चन्द्रमा में पहुच कर उत्तरमार्ग में जाता है, एवं उष्ट्रा-पूर्त-दक्षानुयायियों का आत्मा
चन्द्रमा में जाकर दक्षिणमार्ग में जाता है । शरीर की छाया (तमोभाग), रात्रि, कृष्णपर्व,

दक्षिणापन यह सब चान्द्रभाग हैं । शरीरज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर यह सब सौरभाग हैं । चन्द्रमा में जाने के लिए प्रेतात्मा को १३ मास (चान्द्रमास) लगते हैं । यह आत्मा चिरकाल तक पृथिवी पर रहा है, अतएव इस का चान्द्र आत्मा (महानात्मा) पार्थिव आकर्षण से बद्ध रहता है । शरीरत्यागानन्तर इधर से इसे पृथिवी खिंचती है, ऊपर से चन्द्रमा खिंचता है । दुर्भाग्य से यदि (पार्थिवसंपर्त में अधिक आसक्ति रहने से) पार्थिव आकर्षण प्रबल होता है तो इसे ऊपर (चन्द्रलोक में) जाने में महा कष्ट होता है । यही कष्टवशा 'अश्रुमुखपितर' नाम से प्रसिद्ध है । इस समय पार्थिव आकर्षण को निर्बल बनाने के लिए चान्द्रबल बढ़ाना अत्यावश्यक है, इस का एक मात्र उपाय है—'पिण्डदानलक्षण श्राद्ध' । प्रेतात्मा के श्राद्धामृत से युक्त पुत्र द्वारा प्रदत्त रोममय तरण्डुनपिण्ड इसे चान्द्रस से युक्त कर सबल बना देते हैं । पिण्डभोग से सबल बनता हुआ प्रेतात्मा बिना कष्ट के स्वलोक में जाने में समर्थ होनाता है । अस्तु श्राद्धविषय अप्राकृत है, यहाँ यही कहना है कि जो चन्द्रमा उत्पादक है, वही संहारक है ।

प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि हमारे प्रथम संभूति का कारण चन्द्रमा है, एवं पुनःसंभूति का कारण चन्द्रप्रत्यंशयूत प्रदान मन है । इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का समाधान हो गया, अब क्रमप्राप्त पुनःसंभूति के अधिष्ठाता आध्यात्मिक चन्द्रमा का स्वरूप उपदिष्ट किया जाता है । अध्यात्मसंस्था में दो प्रकार से चान्द्र सोम का भोग होता है । चान्द्रसोम ही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार 'रेत' बनता है । उस रेत की आहुति से दम उत्पन्न होते हैं, यह पहिला भोग है । हम सायं प्रातः प्रतिदिन जो अन्न खाते हैं, उस में पार्थिव-मान्तरिक्ष्य-दिव्य तीनों लोकों के रस प्रतिष्ठित हैं । पार्थिव घनरस से अन्न का घन भाग (दाना) बनता है, आन्तरिक्ष्य तरलरस से अन्न में रहने वाले घृतभाग (बिकनाई-स्नेहन) का उदय होता है । इसी स्नेहरस से चूर्ण (आटे) को गौंरने से एक प्रकार का सुश्राव आजाता है । दिव्य विरलरस के आगमन से अन्न में मिठास उत्पन्न होता है । यह

१. इन सब विषयों का विस्तृत निरूपण 'श्राद्धविधान' में देखा जाय ।

मधुभाग सूर्य का रस है। चौथा रस चान्द्रस्रोम है। इस का दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (जायका) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चौथे लोक का रस भी माना जाता है। पृथिवी-मन्तरिक्ष-धौ-दिक्-यह चार लोक हैं। इन चारों लोकों के कणशः अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा यह चार देवता अधिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (शिल) रस आता है। एवं चन्द्रमा से अमृतरस आता है। मुक्त अन्न में जो पार्थिव दधिभाग (घनभाग) है, वह रस, अष्टक, पांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक इन सात भागों में विभक्त है। शुक पर्यन्त पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिक्ष वायु, एवं दिव्य सौर-चान्द्ररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही 'ओज' है। ओज वायुप्रधान वायव्य धातु है। आगे जाकर आन्तरिक्ष रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विशुद्ध सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार लोकरसों के तारतम्य से एक ही मुक्तानरस शुक-ओज-मन इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। पार्थिव सत्त्वगुण शुक वाक्त्व है, आन्तरिक्ष वायुमय ओज प्राणत्व है, दिव्य आदित्यमय चान्द्ररस मनस्त्व है। मन-प्राण-वाक् की समष्टि ही 'इम' (आत्मा) है।

- | | | |
|--|-----------------------|---------|
| १-पार्थिवरसः—(पृथिवी—अग्निः—दधि) | सत्त्वगतवः-शुकम्-वाक् | } आत्मा |
| २-आन्तरिक्षतरलरसः(मन्तरिक्षम्-वायुः—घृतम्) | ओजः—प्राणः | |
| ३-दिव्यविरलरसः—(धौः—आदित्यः-मधु) | } मनः—मनः | |
| ४-दिव्यामृतरसः—(दिग्ः—चन्द्रमाः—अमृतम्) | | |

—:—

शुक भी चान्द्र है, मन भी चान्द्र है। शुकावृत्ति से हन उत्पन्न होते हैं। इस शुक में सनातीव आरुण्य सिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस आया करता है, साथ ही में अन्नद्राग भी

चान्द्रस आया करता है । जो चान्द्रस खतन्त्ररूप से शुक्र में आता है वह—‘सदांसि’ नाम से प्रसिद्ध है । नक्षत्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सशोषण २८ भागों में विभक्त होजाते हैं । यही आध्यात्मिक संतानप्रवर्तक पितर हैं । इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । एवं अन्नद्वारा जो चान्द्रस हमारे में आता है, यही पूर्वोक्त विशकलन प्रक्रिया के अनुसार ‘मन’ बनता है—‘अन्नमयं हि सौम्य मनः’ । ‘पोडशकनो वै चन्द्रमाः’ (पद्मविंश ब्रा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा पोडशकल है । एक एक चान्द्र संज्ञा में एक एक मनःकला का विकास होता है । इस क्रम से मन की सर्वोत्कृष्टता में आयु के १६ वर्ष लग जाते हैं । मन-सिद्धि १६ वें वर्ष में साध होती है । यही चान्द्रसोम का दूसरा भोग है । हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अन्न द्वारा संपन्न हुआ है, अन्नद्वारा ही अन्धकारसंस्था में स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१—“तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सः” (जै० उ० १।२।५) ।

२—“मनश्चन्द्रमाः” (जै० उ० ३।२।६) ।

३—“चन्द्रमा मे मनसि श्रितः” (तै० ब्रा० ३।१०।५) ।

४—“यत्तन्मन एष स चन्द्रमाः” (शत० १०।३।३।७) ।

चन्द्रमा से (अन्नद्वारा) उत्पन्न मन में स्नेहत्वप्रधान वही श्रद्धारस प्रतिष्ठित है । इसी अक्षररूप स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होना हुआ उनके साथ बद्ध होजाता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से कतलाया जाचुका है । यही विषयसंस्कार है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से कतलाया जाचुका है । यही विषयसंस्कार है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से कतलाया जाचुका है । जब पुञ्ज ‘वासना’ है । यही वासनापुञ्ज हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है । जब तक संस्काररूप अविद्याशुक्र मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अवश्य ही पुनः-सम्भूति के चक्र में फंसा रहता है । कामनामय अविद्याशुक्र मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महदात्माधिकरण में काम-अविद्या को शुक्र बतलाया गया है । अन्धविमोह विनाश है, अन्धविमोह सम्भूति है । आत्मा के अन्धविमोह

का कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है । पुनःसम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही-मन है । जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ॥

शुक्र हमारा वास्तविक रेत (उपादान) नहीं है, अपितु सम्भूति का प्रधान रेत तो काम-मय हमारा मन ही है । यही पुनःसम्भूति का कारण है । इसी अभिप्राय से उपनिष-सृष्टि कहती है—

• “मनो मे, रेतो मे, मजा मे, पुनःसम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)” ।

(जै० उ० ३२७।१४) ।

हमारा चन्द्रमा आश्वत्थिनकसंस्था की सम्भूति — विनाश का कारण है, उधर आकाश विहारी ईश्वर का मन आधिदैविक संस्था की सम्भूति-विनाश का कारण है । पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोमपरक मानते हुए हमने सोमदृष्टया चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बतलाया था, आज हम प्रत्यक्ष दृष्ट इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं । हिरण्यगर्भ विद्या के अनुसार विश्वेन्द्रस्य सूर्य ही विश्व का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है । सूर्य से ऊपर के स्वयम्भू-परमेष्ठी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतभाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के मर्त्यलोक सूर्य के मर्त्यभाग से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकार सूर्य ही व्यक्तविश्व का मूलरूढम (स्तम्भ) बन रहा है । इस सूर्य को जीवित रखने वाला है, यही प्रत्यक्ष दृष्ट चन्द्रमा । सूर्य स्वरश्मियों से पार्थिव रसों का निरन्तर आदान करता रहता है । इसी आदान से सूर्यप्रजापति का विसृष्ट भाग पूरा होता रहता है । इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाड़ी पर निर्भर है । भूपिण्ड से संलग्न चान्द्रनाड़ी द्वारा ही पार्थिव रस सूर्य में आहुत होने रहते हैं । जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाड़ी है, जब तक चान्द्रनाड़ी है, तभी तक सौरपशुधिति है, जब तक यह है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

या यह लक्षण है। सभी इन्द्रिय अपने अपने रूप-रस-गंधादि नियत विषयो को ही भोगने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। भोग ज्ञानसापेक्ष है। अरथ ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान रश्मियों को लेकर इन्द्रिय स्वस्वविषयभोग में समर्थ बनती हैं। उसी ज्ञानयन्त्र का नाम प्रज्ञान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। चूंकि यह सब इन्द्रियों में अनुभूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इस का विषय नियत नहीं है, यह सब में है, अतएव नियतविषय लक्षण इन्द्रिय भयादा से घृण्य रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका सोम भाग विदरा से युक्त रहता है, अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी न्यायप्राप्त होता है। एक तीसरा मन और है। उसका काम है—अच्छे बुरे का अनुभव करना। मनुकृम वेदना, प्रतिकृम वेदना इस का नियत विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मनः पष्ठानीन्द्रियाणि' (अर्थात्) यह कहा जाता है। अतएव इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रज्ञान निरूपणामिका अध्यायी केनोपनिषत् में होने वाला है। अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही बताना चाहते हैं कि प्राचोन्द्र प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रज्ञानब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अत्रमय मन ही मन्व्यक्त-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शारीरदेवता-भूत-शारीरमोक्ष आदि सब की सम्भूति का कारण है। प्रज्ञानब्रह्म की इसी सर्वात्मा का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय बतते हैं—

कोऽपमात्मेति तयमुपाभवे, कतर स आत्मा ? इति । येन वा पश्यति, यन वा शृणोति, येन वा गन्थानाभिधाति, येन वा वाच व्याकरोति, येन वा स्वादु वा स्वादु च विजानाति, यदंतव-दृश्य, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतव स-ज्ञानमाज्ञान, विज्ञान, महान, मेधा, दृष्टि, धृति, र्मति, र्मनीपा, जूति, सवल्पः, क्रतु, रसुः कामो, वग इति । सर्वाण्येयैतानि महानम्य नामेयानि भवन्ति ।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रजापति, रेते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्चमहाभूतानि
 पृथिवी-वायु-सकाश-आपो-ज्योतीषीत्यतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीष वी-
 जानीतराणि, चेतसणि चाण्डजानि च, जारुजानि च, भेदजानि च, उद्भि-
 जानि च, अग्धा, गावः, पुरुषा, इस्तिनो, यवकिंचेदं प्राणि, जङ्गमच पतत्रि च,
 यच्च स्थावरं, तव प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः । प्रज्ञा
 मतिष्ठ्या । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽऽस्मात्त्रयोकादुत्क्रम्य असुध्मिन्स्वर्गं लोके
 सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्, समभवत्” ॥

(ऐतरेय अरण्यक २। ६। १)।

संभृति-एवं विनाश का क्या स्वरूप है ! अधिदैवत, एवं अध्यात्म में चःदमा और मन
 ही संभृति-विनाश के अविश्रान्त कैंते हैं ! इत्यादि बहिरंग प्ररनों का समाधान होचुका । अब
 ग्लान्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषत् में प्रकृत अचिकरण के तीन मन्त्रों का 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः
 सम्भवात्' 'संभृतिं च विनाशं च' यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के
 विज्ञानात्मिकाधिकरण की तरह यहाँ भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'अन्धं तमः प्रविशन्ति'
 'संभृतिं च विनाशं च' वही क्रम समझना चाहिए । 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञा-
 नात्मा का स्वरूप बतलाना है, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से
 विरुद्ध जाने वालों की अधोगति बतलाता है, एवं 'संभृतिं च विनाशं च' इत्यादि मन्त्र प्रति-
 पादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मानते हुए, संभृति-विना-
 शात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुःसम्भवात् ।
 इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचिन्तरे ॥१॥

(ई० उ० (३ मं०) ।

“विद्वान् योग उत (प्रज्ञानात्मनत्व) को सम्भव से भी पृथक् कहते हैं, असंभव से भी पृथक् कहते हैं । जिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतनाया है, उन धीरे विद्वानों के द्वाग द्वय यही सुनते आए हैं—(कि वह आमतत्व संभूति और असंभूति दोनों से पृथक् है” यह है मन्त्र का अन्वयार्थ । सम्भूति अस्तित्व है, असंभूति नास्तित्व है । सत्तास से अनुगृहीत पदार्थ सम्भूति है, सत्तास से विरुद्ध पदार्थ असंभूति है । तपति और विनाश दोनों भाव प्रत्यक्ष दृष्ट हैं । यह उत्पत्तिरूपा सम्भूति, विनाशरूपा असंभूति आत्मा के धर्म नहीं हैं । प्रज्ञानात्मा में जो आत्म अंश (चिदंश) है, न वह उत्पन्न होता, न उसका कभी विनाश होता । बलों की ही रसरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्भूति होती है, रमरित्वाग्रयणायाम्या में बलों की ही असंभूति होती है । सम्भूति-असंभूति दोनों बल के धर्म हैं । यह इन दोनों का अलम्बन बनता हुआ दोनों से पृथक् है । सम्भूति और असंभूति विभक्ते आधार पर होती है, उसे आत्मा (प्रज्ञानात्मा) समझना चाहिए ।

अपे च रम-बलसमष्टिरूप यह आत्मा न केवल सम्भूति का अधिष्ठाता है , न केवल असंभूति का अधिष्ठाता है । अस्तित्व दोनों उसी के निरति हैं । यह असंभूतिरूप है, इतिरिक्त तो उसे सम्भूति नहीं कहा जासकता । सम्भूतिरूप है, अतः उसे असंभूति भी नहीं कहा जासकता । सम्भूति एवं असंभूति का पारस्परिक विरोध है , अतः उसे उभयपक्षक भी नहीं कहा जासकता । ऐंगी स्थिति में यदि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जासकता है तो यही कि यह सम्भूति-असंभूति दोनों से पृथक् है ।

अपे च आत्मा का रममाग सम्भूति का अधिष्ठाता है, बलमाग असंभूति का अधिष्ठाता है । यह न रुद गगन्त है, न रुद बनरूप ही है । उत का गरूप दोनों से मिलरूप है । अन्तर् दोनों की गन्धि आत्मा है । ‘सतो बन्धुममति निरवन्दिन्’ ‘अन्तरं मृगोरमृतं मृगारमृगारिव’ ‘अर्धं परं मृगुम गदगधारमनुन’ ‘नागदागीश्रो सदागीशदानीप’ इत्यादि श्रौत-स्मार्ग वेदों के अनुग्रह कोररर गमर एवं अज्ञानर दोनों से अन्तर् होता हुआ यह दोनों की गन्धि ही है । ऐंगी अज्ञानर में —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां स्ताः ॥२॥

(ई० उ० १२ मं.) ।

जो व्यक्ति केवल असंभूति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्भूति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकादि केवल दृष्टिक बल को ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्यं शून्यं समझते हैं, वे तो शून्यरूप अन्धकार में हैं ही, परन्तु आस्तिक बनने का गर्व करने वाले जो महानुभाव दृष्टिक बल का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तिरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं । जो यह नहीं समझते कि जिन की हमने सम्भूति समझ रखी है, कालांतर में उन सब का नाश होने वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरण में हैं ।

अपिच 'समित्येकीभावे' के अनुसार सत् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्व सुभरिचिन रस-बल ही हैं । रस से सत्ता, किञ्च असत्त्व अभिप्रेत है, बल से असत्त्व अभिप्रेत है । इस असत्त्व बल में जो सत्त्व रस का सम्बन्ध है, यही बल की सम्भूति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है । सत्तारस स्वस्वरूप से सर्वपा एक है । असत्त्व-बल-मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नात्रैव पर्यनि' के अनुसार नाश है । जब तक यह बल सत्त्वरूप एकरस से पृथक् रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता है । यद्यपि यह नाशभावपन्न है । यही रस से अनुभूति होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्भूतिरूप में परिणत हो जाता है । बल-रस-बलयोः-सदसतोः-एकीभावः' ही सम्भूति है । सम्भूति सत्तारस है, शून्य बल असम्भूति है । बल आवरण स्वरूप होने से 'तम' - है । ऐसी अवस्था में जो असम्भूतिरूप केवल इस बल भाग की ही उपासना करते हैं, वे सचमुच आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । बल असत्त्व (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । बल असत्त्व (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । 'असत्त्वे स भवति असत्त्व प्रकृति वेद चत' के अनुसार केवल असत्त्व के

उपासक स्वयं अस्तु बन जाते हैं । परन्तु वे और भी अधिक गहरे अंधकार में हैं, जो कि केवल रसरूप सम्भूति की ही उपासना करते हैं । रस बललक्षण है । विना बल के विशुद्ध (सतत्व—

आसीदिदं तपोभूतमप्रज्ञातमनक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रमृप्तमिव सर्वतः ॥

के अनुसार सर्वथा अप्रज्ञात—अलक्षण—अप्रतर्क्य—अनिर्देश्य—प्रमृप्त तम है । जब तक बल का आश्रय नहीं लिया जाता, तब तक स्वरूप से रस अनुपाक्यतम है । यह तम बलतम से भी गहरा है । बल संसार का स्वरूप है, अतः इस की उपासना करने वाला, आवरणरूपा सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त करलेता है । परन्तु विशुद्ध रसरूप सम्भूति का अनुयायी न इधर का रहता, न उधर का । यही इस का भूयान्धकार है । ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिए—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥३॥

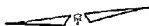
(ई० ल० १४ मं०) ।

जो धीर विद्वान् सम्भूति और विनाश दोनों को एक बिन्दु पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तरण कर सम्भूति से अप्रमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है । मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष बहन्व्य नहीं है । मृत्यु ही अमृतप्राप्ति का साधन है । अतः दोनों के समुच्चिनरूप की ही उपासना करनी चाहिए । निष्कामभाव से मृत्युलक्षण संसार की उपासना करते हुए अमृत पर दृष्टि रखिए ! यही आदेश है, यही उपदेश है, यही संपत् है, यही ब्राह्मी उपनिषत् है ।

उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य आत्मा है । अत एव प्रत्येक प्रकारण में अन्तिम लक्ष्य अमृतमृग्युपलक्षण आत्मा ही बन जाता है । आत्मस्वरूपपरिहान के लिए आत्मसृष्टि का स्वरूप

जानना भी आवश्यक होजाता है। अतएव अगत्या उपनिषत् को इस का भी स्वरूप बतलाना पड़ता है। यही कारण है कि उपनिषत् आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषभाव का निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषत् ऐसे अक्षर बोलती है, जिन से आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप गतार्थ होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों से जहा रसबलात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति-विनाशमयी यज्ञरूपा चान्द्रसृष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। न केवल अधिदेवतचरित्र का ही, किन्तु अप्यात्मस्तिपति का भी उन्ही अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत प्रकरण से ब्रह्मसत्त्वाक्षररूप अक्षमय - सम्भूति-विनाश के कारणभूत 'चन्द्रमा' का स्वरूपज्ञान होता है। एवं अध्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता प्रज्ञा-नात्मा का स्वरूप परिचय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आलम्बनभूत सदसदात्म सम्भूति-विनाशरूप अनृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे भ्रमज्ञानवैभव का प्रतिपादन करता हुआ प्रज्ञानात्माधिकरण समाप्त होता है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम् ।



माकृतात्माधिकरणे-
प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

४

— ४० —

पूर्णमदः → → →

पूर्णमिदम्

साक्षी-देवसत्यः → → →

प्राणावैभव भोक्ता-देवसत्यः

अधिदेवतम् → → →

अध्यात्मम्

देवसत्याक्षरः—

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी

प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्यः ← ← ← अमृतान्नादः ← ← ← भोक्तादेवसत्यः

(प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरणां पञ्चमम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्नः-ज्ञान-क्रिया-अर्थमयात्मा
भूतान्तम्

- १- हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वम्भूपन्नपावृणा सत्यधर्माय दृष्टये ॥
- २- भूपलेकपे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥
- ३- वायुरानिलममृतम् ।
..... ॥



देवसत्यात्मस्वरूपनिदर्शन

- १- अग्निर्गैथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
- २- वायुयथको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
- ३- सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्येत चाक्षुर्वाद्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन यावत् ॥
- ४- एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपरयन्ति धीरास्तेषां मुखं शारवतं नेत्रेरेषाम् ॥
(कठोपनिषद् २ अ० ५ व० १-१०-११-१२ मं०) ।
- ५- अहुष्टमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभन्वस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्दे तद । (कठ० २-४-१२) ।
- ६- अहुष्टमात्रः पुरुषोऽन्वरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
ते त्वाच्छरीरात् प्रहेदेत् मुञ्जादिवेपीकां धैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७) ।
- ७- हा घुपर्णा सयुजा सस्वाया समानं वृत्तं परिपस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वक्षन्मन्त्रन्वोऽभिचाकरीति ॥ (मुण्डक० ३।१।१) ।
- ८- समाने वृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पर्यल्पन्यनीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मुण्डक० ३।१।२) ।

- ६- यदा परयः पश्यते रुक्मवर्णं कर्णारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुरायपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)
- १०- प्राणो ह्येष यः सर्वमृतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्परतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (सु० ३।१।४) ।
- ११- युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्राय सविता धियः ।
अप्रेज्योतिर्निचार्य पृथिव्या अभ्याभरत् ॥ (स्वे० २।१) ।
- १२- सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्रान्तः सहस्रपाद् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्राऽलतिष्ठदशाहुजम् ॥ (स्वे० ३।१।४) ।



॥ श्रीः ॥

यो देवो ध्रुवो यो अशु यो विरं भुवनमाविशे ।

य ओषधीषु यो धनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापरतव प्रजापतिः ॥ २ ॥

शुचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि निरवे निपेदुः ।

यस्तं न वेद किमुचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत ॥ ३ ॥

गुणान्वपो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।

स विश्वरूपस्त्रिगुणास्त्रिद्वर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुङ्गरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः ।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आरात्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु पृथः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरान्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिपः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेः पादुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

—:0:—

ह्यसन्त्य से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्यात्माओं का, एवं इन्हीं के अंशभूत अव्यक्त, महान्, विद्वान्, महान् इन चार आध्यात्मिक सत्यात्माओं का पूर्व के—
१-अव्यक्तात्माधिकरण, २-महदात्म्याधिकरण, ३-विज्ञानात्माधि-
करण, ४-प्रज्ञानात्माधिकरण इन चार अधिदिव्यों में निरूपण किया

जा चुका है। हमारी स्थिति के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह क्रम

है। यह पांचो पिण्ड क्रमशः प्राणब्रह्म, आपोब्रह्म, वाग्ब्रह्म, अन्नब्रह्म, अन्नाद्ब्रह्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों में आत्मा-पद-पुनःपद यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पांचों पिण्ड सद्ब्रह्म-सशरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पांचों ब्रह्मों को हमने 'सत्पात्मा' 'ब्रह्मसत्पात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्त्वों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पांचवां ब्रह्मसत्य शेष रहा है। उचित यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर ही उपनिषद् पांचवें पार्थिव ब्रह्मसत्य का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्थिव ब्रह्मसत्य से पहिले, एवं चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर श्रुतिने पार्थिव देव-सत्यात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्त्वरूप पृथिवी के भूत-प्राण भेद से दो विश्व हैं। इन दोनों में भूतप्रधाना पृथिवी (भूपिण्ड) ब्रह्मसत्य है। ब्रह्मसत्यात्मक इस भूपिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (पृथिव्या-पृथिवी) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्यात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्यप्रतिष्ठामयी प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्त्वरूप चन्द्रमा, एवं ब्रह्मसत्त्वरूप भूपिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् में चान्द्रब्रह्मसत्य निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए भूपिण्डात्मक पांचवें ब्रह्मसत्यात्मा का निरूपण होगा।

ओपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे शोदशी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव बिना ब्रह्मसत्य-देवसत्य के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषदर्थ का समन्वय करना कठिन है। आगे आने वाली कठोपनिषद् में इस कठिनता का विस्तार के साथ निराकरण किया गया है। अतः प्रकृत में प्रकरणसङ्गति के लिए दो चार शब्दों में इन दोनों का परिचयमात्र करा दिया जाता है। ब्रह्मसत्य—देवसत्य के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित श्रौतवचन पर दृष्टि डालिए—

द्वौ सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अन्नश्चन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डको० ३।१।१) ।

“एक वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर दो सुनहरी रंग के पक्षी बैठे हैं । दोनों सयुक्त (जोड़ने) हैं । दोनों में घनिष्ठ मित्रता है । इन दोनों में से एक पक्षी फल को चख रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खाने वाले की चौकसी कर रहा है ।” यह है मन्त्र का फलितार्थ ।

यह वृक्ष वही श्याम का सुपरिचित महानापाञ्चिन प्रमृत्त-अन्न-शुनमूर्त्ति महेश्वररूप ‘अधत्ववृक्ष’ है । इस अधत्ववृक्ष में सहस्रवल्ग्या (एक हजार टहनिए) हैं । प्रत्येक टहनियों में स्वप्नभू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पाच पर्व (प्रणिए) हैं , यही सहस्रवल्ग्या श्लाघ्य है । पक्षी वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहनियों पर बैठता है । टहनियों के भी थोर किसी भाग में न बैठकर टहनियों के आगे के छोर पर बैठता है । यही परिदृष्टि यहाँ समझिए । अधत्ववृक्ष की एक टहनियों में स्वप्नभू मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पक्षी बटे हुए हैं । इन दोनों में एक पक्षी फल खाता हुआ ‘भोक्ता’ बन रहा है । इसी को कठोपनिषत् में ‘मध्वद्’ नाम से व्यवहृत किया है । दूसरा फल न खाता हुआ ‘सात्वी’ बन रहा है । भोक्ता एवं सात्वी दोनों पक्षियों का स्वरूप देवताओं से सन्न होता है, अतएव यह दोनों ‘देवमत्स्य’ नाम से प्रसिद्ध है ।

जीवात्मा-और परमात्मा का युग्म माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है । जीव और ईश्वर के मूल देवसत्त्व का नाम है । स्वप्नभू आदि उपेश्वर हैं, अधत्य महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । स्वप्नभू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भूषिण्ड यह ईश्वर के उपकरण हैं,

• इस अनुपम मन्त्र के ६ अर्थ होते हैं । इन पक्षियों का हिरण्यगर्भप्रियाप्रतिपादक मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

अव्यक्त-महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-शरीर यह जीव के उपकरण हैं। कर्म भोगने वाला, योन्यन्तर में जन्म लेने वाला जीवात्मा केवल भोक्ता देवसत्व है। महान्-विज्ञान अव्यक्तादि का कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आत्मपृथक्करण से ही आत्मविषयक सन्देह निवृत्त होते हैं। 'जब जीवात्मा कर्म भोगने के लिए लोकान्तर में, किंवा योन्यन्तर में चला गया तो फिर श्राद्ध किसके लिए किया जाता है ? जब आत्मा अजन्मा है तो उस की उत्पत्ति कैसे बतलाई जाती है ? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मूल्य नहीं रहता, जब कि सर्वथा विभक्त आत्मसंस्थाओं का स्वरूपज्ञान हो जाता है। श्राद्ध महानात्मा के लिए ही किया जाता है। कर्मभोक्ता उक्त देवसत्व ही है। षोडशी पुरुष सर्वथा अजन्मा ही है। अस्तु आगे आने वाली उपनिषदों में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण होता रहेगा। प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विजिज्ञाप्य है।

पञ्चब्रह्मों में सबसे अन्त का ब्रह्म 'अन्नाद्' है। अन्नितरत्र को ही अन्नाद् कहा जाता है। 'अग्निः सर्वा देवताः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अन्नाद् अग्नि ही ३३ देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है। अग्नि ही देवताओं का मुख है। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यामासीदर्द्धममृतम्' इस निगम के अनुसार यह प्रजापति अग्नि अमृत-मृग्यु भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृताग्नि वाष्पान्नि नाम से, मर्त्याग्नि भूतान्नि नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञरिमाणुसंसार अमृताग्नि को 'चित्तेनिधेयाग्नि' एवं मर्त्याग्नि को 'चित्साग्नि' कहा जाता है। भूतरूप मर्त्याग्नि से भूषिण्ड का निर्माण हुआ है। आप-फेन-मृद-सिकता-शर्करा-अरमा-अय-हिरण्य इन आठ वस्तुओं में परिणत होकर यह मर्त्याग्नि भूषिण्डरूप में परिणत हुआ है, अतएव इसे 'चित्साग्नि' कहना स्थाय संगत होता है। दूसरा अमृताग्नि, किंवा वाष्पान्नि भूकेन्द्र में ज्वल्यरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ, अर्द्ध- (रश्मि)-रूप से भूषिण्ड से बाहर निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहाँतक यह अमृताग्नि व्याप्त रहता है, वहाँतक का अमृताग्नि मण्डल 'महिषापृथिवी' नाम से प्रसिद्ध है। यत्नान्निरिमाणु के अनुसार चित्साग्निमय भूषिण्ड 'कृष्णाग्नि' यद्-

जाता है, एवं चित्तेनिर्देशाग्निमय भूमण्डल 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिमानण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः घन-तरल-विरल-यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले प्राणाग्नि के तीन विभाग कर लिए। इन तीनों में भी अवस्थातारतम्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारतम्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वस्तु हैं। मध्य के तरलस्तर की (तरलता के तारतम्य से) ११ अवस्थाएं हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरलस्तर की (विरलता के तारतम्य से) १२ अवस्थाएं हैं, यही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओं में दो सान्ध्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निज्येष्ठ आठ वसु, वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, इंद्रज्येष्ठ १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण, संभूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पहिले अग्नि-वायु-आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अचान्त अवस्थाओं से आगे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—'अग्निः सर्वा देवताः'।

अदिसां जज्ञिरे देवाश्चयद्विंशदरिन्दम।

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप ॥ (बा० प०)।

पृथिवी में वायु-गौ-घों यह तीन मनोता है। माप्य के प्रथम खण्ड में शुक्लनिरुक्ति में वाक्-आप-अग्नि नाम के तीन शुक्ल बतलाए गए हैं—(देखिए ई० वि० १ खं० पृ० ३३७)। वाक्-यम्भुव वाक्स्तर गौ है, पारमेष्ठ्य आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। दौ-(वाक्-शुक्ल)-भाग भूमिखण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४० वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ-भाग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्ल) पृथिवी के २१ अर्हर्गण तक व्याप्त है। 'तस्य वा एतस्यामेवाग्निपोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ३३ वें अर्हर्गण तक (जो कि अर्हर्गणों की समष्टि त्रिष्टवस्तोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थापन अग्नि प्रसिद्धि है। यहां से पञ्चदशअर्हर्गण पर्यन्त तरलावस्थापन अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एवं यहां से २१ पर्यन्त विरल अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्तस्तोम इस महिमा पृथिवी का पृथिवीलोक है, इस का अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम महिमा पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है, इस का अतिष्ठावा वायु है। एकविंशस्तोम महिमापृथिवी का शुलोक है, इस का अतिष्ठावा इन्द्र है। इस प्रकार केवल महिमा पृथिवी में ही स्तोमभेद से त्रैलोक्यभाव का उदय होजाता है। यही पार्थिवत्रिलोकी 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त इन्ही तीनों अग्नियों के सर्वहृतयज्ञ से वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति ईश्वरीय देवसल का जन्म होता है।

पार्थिव त्रिवृत्तग्नि को आधार बना कर अन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यद्यपि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्थिव अग्नि की है। अन्तरिक्ष्य वायु में पार्थिव-अग्नि, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता अन्तरिक्ष्य वायु की ही है। एवं दिव्य अग्नि में पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष्य वायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्थमूर्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियामूर्ति ही है। एवं इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है, अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानमूर्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रभव वायु-इन्द्रगर्भित पार्थिव अग्नि है, प्रतिष्ठा त्रिवृत्तस्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सारा त्रैलोक्य है। इसी आधार पर-वैश्वानरो यतते 'सूर्यश' (ऋक्० १।७।१.६), 'आ यो यां माता-पृथिवीम्' (या.नि.द.७।२३) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ-वायु का प्रभव पार्थिव-अग्नि-इन्द्रगर्भित अन्तरिक्ष्य वायु है, प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय सारा त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रभव अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम है, आशय त्रैलोक्य है। यही विदेवसमष्टि स्रज्ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति से सारे भौतिक विषय का आत्मा बन रही है। भूतों के अधिष्ठाता होने से ही इस देवसल को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा जाता है। केनोप-

निषत् में जिन अग्नि-वायु-इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूता-
न्तरात्मा है। इस देवसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्य है, ब्रह्मसत्य की प्रतिष्ठा आत्मसत्य है।

आत्मा के अमृत-ब्रह्म-देव-भूत यह चार विवर्त हैं। षोडशीपुरुष स्वयं अमृतात्मा है।
सपम्भू-परमेष्ठी आदि पांचों पर्व ब्रह्मविवर्त है। अग्नि-वायु-इन्द्र की समष्टि देवविवर्त है,
भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है। यही चारों संस्थाएं अध्यात्म में हैं। इन चारों आध्यात्मिक संस्थाओं में से
अमृतात्मा असंस्कारणीय है। ब्रह्म-देव-भूत तीनों का संस्कार किया जाता है। लौकिक
शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार हैं, १६ स्मार्त्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार हैं, ३२ श्रौतसंस्कार देव-
संस्कार हैं। इन संस्कारों से ब्रह्म-देव-भूत यह तीनों विवर्त शुद्ध संस्कृत बनकर अलभिभूति-
मय बनजाते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।
निसमष्टशुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम् ।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ॥

अध्यात्मसंस्था की उक्त चारों संस्थाओं में अमृतसंस्था के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर
संस्थाओं के नाम बदल जाते हैं। ईश्वरीय देवसत्य का सर्वज्ञ भाग यहा प्राज्ञ नाम से, हिरण्य-
गर्भ भाग तैजस नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है।
इस की प्रतिष्ठा वही सर्वभूतान्तरात्मा है। यह भोक्ता सुपर्ण है, वह साक्षी सुपर्ण है। यह
कर्मकर्मा है, वह कर्मसाक्षी है। दोनों सखा हैं, दोनों सयुक्त हैं। दोनों स्तौम्यत्रिलोकीरूप
ब्रह्मसत्य की शाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिगृह है।

सर्वज्ञभाग सहस्ररीर्ष्य है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपाद है।
मूल-मध्य-अन्त भेद से वह त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा देवसत्य पादरूप वैश्वानर भाग से भूषिण्ड
पर प्रतिष्ठित होरहा है। अध्यात्मसंस्था में जीवरूप से यही दश अंगुल का अतिक्रमण कर
(प्रादेशमात्र बनकर) प्रतिष्ठित होरहा है। इसी देवसत्य का समष्टिरूप से निरूपण करती हुई
मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रगीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद ।

स भूमिं सर्वतस्पृत्वाश्विष्ठदशाङ्गुलम् ॥ (यजुः सं० ३१।१) ।

ईश्वरजगत्

१-परात्परः—एकतः

२-अव्ययः—पञ्चकलः

३-अक्षरः—अक्षरालः

४-आत्मक्षरः—पञ्चकलः

— ० —

माणः— १-क्षयभूः—प्राकृतात्मा

भापः— २-परमेष्ठी— "

वारु— ३-भूर्ध्रः— "

भयम्— ४-पञ्चमाः— "

— ० —

मर्यादादः—
 मरिमाष्टुगिरी { १-नाशः—रुद्रः
 २-दिरण्यगर्भः—वायुः
 ३-पैष, नरः—अग्निः

— ० —

मर्यादादः— ५-भूर्ध्रः

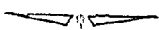
} षोडशीप्रजापतिः
 (अमृतसत्यात्मा)

} अन्नसत्यात्मा

ईश्वरप्रजापतिः

} देवसत्यात्मा सान्नी

} अन्नसत्यात्मा



जीवजगत्

१-परात्परः—एकलः

२-अव्ययः—पञ्चकलः

३-अक्षरः—पञ्चकलः

४-आत्मक्षरः—पञ्चकलः

} शोडशीप्रजापतिः
(अमृतसत्यात्मा)

—०—

माणः—१-अव्यक्तात्मा-प्राकृतात्मा

आपः—२-गदानात्मा— ”

वाक—३-विज्ञानात्मा— ”

अक्षम्—४-प्रज्ञानात्मा— ”

} प्रहससत्यात्मा

जीवप्रजापातः

—०—

अमृताद्यादः { १-प्राज्ञः—इन्द्रः
२-तैजसः—शत्रुः
३-वैश्वानरः—अग्निः

} देवसत्यात्मा भोक्ता

—०—

मर्त्यानादः—५-शरीरम्

} प्रहससत्यम्



१-प्रभवः—आन्तरिक्ष्य-दिव्याग्निर्मितपार्थिवत्रिवृदग्निः

२-प्रतिष्ठा—त्रिवृत्स्तोत्रः.....

३-आशयः—स्तौग्यत्रिलोकी.....

} वैश्वानराग्निः पार्थिवः
(अर्थशक्तिप्रवर्तकः)

—०—

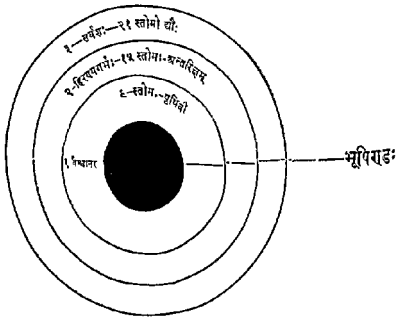
- | | |
|--|---|
| १-प्रभवः-पार्थिव-दिग्वाग्निगर्भित-आन्तरिक्ष्यो वायुः | } हिरण्यगर्भोवायुः-आन्तरिक्ष्यः
(क्रियाशक्तिप्रवर्तकः) |
| २-२-प्रतिष्ठा-पञ्चदशस्तोमः..... | |
| ३-आशयः-स्तौम्यत्रिलोकी..... | |

—:०:—

- | | |
|---|---|
| १-प्रभवः-पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-अग्निगर्भितोदिव्येन्द्रः | } सर्वज्ञ-इन्द्रः-दिव्यः
(ज्ञानशक्तिप्रवर्तकः) |
| ३-२-प्रतिष्ठा-एकविंशस्तोमः..... | |
| ३-आशयः-स्तौम्यत्रिलोकी..... | |

—:०:—

एष सर्वभूतान्तरात्मा



अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों ही प्राणात्मक । हैं अतएव प्राणाग्निवायु ती संपन्न इस देवसत्त्व को हम 'प्राणात्मा' कहने के लिए तत्कार हैं । इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानमन, एवं बुद्धि के सहारे स्थूल-शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्मात्मा इस लोक की यात्रा करता है, एवं आतिवा-टिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है । इस रथी कर्मभोक्ता कर्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)-महत्-अव्यक्त-पोडशी हैं, इस छोर में शरीर है । विज्ञानात्मा सौर है । महद्गर्भिन विदात्मा के वित्तभाग का साक्षात् सम्बन्ध चित्तधर्मावच्छिन्न इसी सौ-विज्ञान के साथ होता है । विज्ञान विदात्मा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपरयन्ति धीराः' यह कहा जाता है । अत्यात्म-संस्था में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्व है । इसी विज्ञानज्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से देवसत्त्व कर्मात्मा प्रकाशित है । कर्मात्मा-मन-बुद्धि तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । त्रिना मन-बुद्धि के कर्मात्मा कर्मभोग करने में सर्वथा अतन्त्र है । अत एव मन बुद्धि को भोगसाधन होने से) भोक्तात्मा में अन्तर्भूत मान लिया जाता है । इसी अग्निप्राय से इस कर्मात्मा रूप देव-सत्त्वात्मक भोक्तात्मा का - 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्नानापिणः' (कठोपनिषत्) यह सत्यात्मक भोक्तात्मा का - 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्नानापिणः' (कठोपनिषत्) यह सत्यात्मक भोक्तात्मा का चक्षुष्यपुरुषावच्छिन्न (सौरविज्ञानात्मावच्छिन्न) भोक्ता देव-सत्त्व 'ग्रहम्' है, यही जीवात्मा है । चन्द्रयुक्त सौ-पुरुषावच्छिन्न साक्षी देवसत्त्व 'गोम्' है, यही परमात्मा है । सौर एवं विज्ञानावच्छिन्न देवप्रयत्नमथिरूप साक्षी और भोक्ता देवसत्त्व के लिए ही उपनिषत् में 'सत्त्वधर्म' शब्द का प्रयोग किया है ।

अथ जरा मन्त्रों की संगति का विचार कीजिए । 'हिरण्यमेव पात्रेण ससस्यापिहितं सुखम्' इत्यादि मन्त्र चक्षुष्यपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना का, दूसरे शब्दों में उसके प्रत्यक्ष करने का उपाय बतलाता है । ऐसी अवस्था में उचित्र यह या कि विज्ञानात्मप्रतिपादक २-१०-११ मन्त्रों के अन्त में ही (विज्ञानात्माधिकरण में ही) 'हिरण्यमेव पात्रेण।' इत्यादि पदा जाते । परन्तु ऐसा न कर अग्निम् सम्भूतिविनाशात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में (१४-५ मन्त्र से आगे) इसे पदा है । ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया गया ? उत्तर स्पष्ट है । उपनिषदुप-

देश प्रधानरूप से जीवानाके स्वरूपज्ञान करवाने के लिए प्रवृत्त हुआ है । जीवसंस्था में-
 'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में श्रोतप्रोत
 है, प्रज्ञान विज्ञान में संपरिष्वक्त है । विना विज्ञान के प्रज्ञान कुछ नहीं कर सकता, साथ ही में
 विना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । न केवल जीवसंस्था में ही,
 अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही स्थिति है । चन्द्रमा (सोम) के विना सूर्य कभी प्रतिष्ठित नहीं
 रह सकता । सौररूप भाकरूप है, ज्योतिर्मय है । इसका यह ज्योतिर्भाव चान्द्रसोमाहुति पर
 निर्भर है । 'त्वं ज्योतिषा विततो वर्ध' के अनुसार सोम ने ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना
 रखा है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । इसी
 प्रकार चन्द्रमा सौरप्रकाश से ही चन्द्ररामय बन रहा है । यही स्थिति अर्थात्मा में है । मन पर
 ही सौरविज्ञानपुरुष प्रतिविम्बित होता है । यदि मन न हो तो उसी क्षण विज्ञानात्मा उत्क्रान्त
 होनाय । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चान्द्रपुरुष का चान्द्रपयना प्रज्ञान सम्बन्ध पर
 ही अन्तस्थित है । निष्कैवल्य चान्द्रपुरुष की उपासना असंभव है । क्योंकि यह कभी निष्कै-
 वल्य (एकाकी) रहता ही नहीं । इसी सारी परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ऋषिने विज्ञानात्मा-
 धिकरण के अन्त में विज्ञानपुरुष की प्राप्ति के उपायभूत 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र को
 न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में पढ़ा है । इससे ऋषि को यही सिखाना है कि जिस
 चान्द्रपुरुष की तुम उपासना करने चले हो, वह उपासना विना प्रज्ञानमन के सहयोग के
 असंभव है । मनोयोग ही चान्द्रपुरुष की उपासना का आधार है ।

“विज्ञानात्मा की उपासना या प्रवार बतलाने वाले 'हिरण्यमेनः' इत्यादि मन्त्र को उसी
 अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा ? इस प्रश्न का
 समाधान तो होगा, परन्तु इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है । प्रकरण वि-
 भाग के अनुसार 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का हमने माणात्माधिकरण नाम से प्रसिद्ध
 कर्मरूपमकरण में समावेश माना है । ऐसा क्यों ? पूर्व कथनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्मा-
 धिकरण में उक्त मन्त्र का समावेश होना चाहिए था ? इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मात्मा

ही है। विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञानात्मा उपासना का साधन है, कर्मात्मा उपासक है। उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है। ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध बतलाना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्यमेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्मात्माधिकरण के अन्त में समावेश करना उचित होता है।

अपि च जयतक कर्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्थाएं प्रतिष्ठित रहती हैं। जीवसंस्था में प्रधानता कर्मात्मा की ही है। कर्मात्मा (भोक्तात्मा)-प्रतिपादक कठोपनिषत् में यह विस्तार से बतलाया जाते वाला है कि वस्तुतः जीवात्मा देवसत्वरूप कर्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्मात्मापरपर्यायिक इस भोक्तात्मा का भोक्ता पना "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेसाहुर्मनीषिणः" के अनुसार बुद्धिरूप चानुपपुरुष, एवं मनोमय प्रज्ञानपुरुष के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इसीलिए तो उपनिषत् में मन एवं बुद्धि को कर्मात्मा के साथ नित्य सम्बद्ध माना है। यद्यपि चानुपपुरुष का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रज्ञानात्मा के साथ है, उतना देवसत्वरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के भोक्तात्मा का मोक्षत्व ही नहीं बन सकता। विज्ञान-प्रज्ञान एक श्रेणि में हैं, भोक्तात्मा दूसरी श्रेणि में है। प्रज्ञान-विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है। इस देवसत्त्व की 'अहंता' (आत्मता) प्रज्ञानसंपरिष्कृत सौरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि-'सूर्य आन्मात्मता) प्रज्ञानसंपरिष्कृत सौरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि-'सूर्य आन्मात्मता) जगतमस्तस्युपश्च' इत्यादि से स्पष्ट है। देवसत्त्वप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्यमेन०' इत्यादि का पढ़ा जाना ही यह सूचित करता है कि चानुपपुरुष का सम्बन्ध प्रज्ञान-कर्मात्मा दोनों से है। 'मैं क्यों हूँ' ? इस प्रश्न का उत्तर है-'देवसत्त्व'। इस देवसत्त्व का 'मैं पना' उसी चानुपपुरुष पर निर्भर है। पूर्व में ही बतलाया गया है कि देवसत्त्व की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से बतलाकर तीसरे 'वायुरनिज-ममृतं' मन्त्रभाग से देवसत्त्व का स्वरूप बतलाया गया है। इस प्रकार इस प्रकारण के तीन

अपि च प्रकारान्तर से मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए । सांसारिक संपत्ति हिरण्यमयपात्र है, संसार दुःखहरा है । सुवर्ण (संपत्ति) में आत्मतत्त्व को आवृत कर रक्खा है । इस हिरण्यमय पात्ररूप वित्तमोह से मुग्ध मनुष्य अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित सत्य आत्मतत्त्व के दर्शन करने में असमर्थ होरहा है । इस पार्थिव भौतिक सम्पत्ति का अधिष्ठाता पृथिवी का अग्निमानी देवता 'पूषा' है । उसी की आराधना से भौतिक आवरण हट सकता है । जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण दूर करने में समर्थ है । हमें प्रयत्नभाव से उसी पार्थिव अग्निमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन् ! आपने शक्ति से सत्यात्म-तत्त्व पर जो भौतिक संपत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को भौतिक बंधन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें । पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्यधर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ । वह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

पूषन्नेरुपे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह तेजः ।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि-योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥२॥
(ई० उ० १६ मं०) ।

सृष्टि के मूलप्रवर्तक प्राण को 'ऋषि' कहा जाता है । स्वायम्भुव अस्रवमाण का ही नाम ऋषि है । पूर्व के अष्टपञ्चात्पाधिकरण में हमने स्वायम्भुव वेद को 'ब्रह्मनिश्चित' कहा है, एवं उस वेद के ऋषिर्माण को 'ब्रह्म' कहा है । उस यजु का यजु भाग ही प्राण है, वही ऋषि है । इसी से आगे की सारी सृष्टि होती है । इस ऋषिप्राण की सप्तर्षि, द्वयर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जाति हैं । विश्व में उपलब्ध होने वाले एकत्व, द्वित्व-त्रित्व-आदि जितने भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्वयर्षि आदि ऋषिप्राण हैं । सात रस, सात उपरस, सात धातु, सात उक्थातु, सात विष, सात उपविष, सात लोक, सात पाताल, सात द्वीप, सात समुद्र, सात महद, सात रंग, सात छन्द, सातसहस्र, शरीर सात धातु, सप्तनाडी, सप्ताचि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितने भी सत्क हैं, उन सब का प्रवर्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है ।

ऋत-सत्य, अग्नी-सोम, सत्य-अनृत, द्यावा-पृथिवी, योषा-वृषा, रवि-प्राण, ब्रह्म-सुब्रह्म, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मूर्त्त-अमूर्त्त, निरुक्त-अनिरुक्त, अपृत-मृत्यु, सत्-असत्, अहो-रात्र, गुरु-कृष्ण, पुरुष-प्रकृति, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, आग-पानी, अन्न-वस्त्र, ओषधि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, श्रोत्रद्वय, चक्षुद्वय, पादद्वय आदि आदि जितने भी द्वैत-मात्र हैं, सब की मूलमतिष्ठा 'द्व्यर्षि' प्राण ही है।

अनोक्त, त्रेताग्नि, वीर्यवयी, मजात्रयी, वेदत्रयी, त्रिसस आदि जितने भी त्रि-मान हैं, उन सबका मूल त्र्यर्षिप्राण है। एवं एकत्वमात्रात्पत्र पदार्थों की मूलमतिष्ठा 'एकर्षि' प्राण है। इन प्राणों के अध्यात्म-अभिर्देवत-अभिनतत्र-अभिभूत भेद से भिन्न भिन्न कार्य हैं, जैसा कि माप्यप्रपमलण्ड की विश्वनिरुक्ति में बतलाया जा चुका है—(देखिए ई. वि. ना. १ ग ३५२-३६२)।

उसी प्रकार में साकृज्ज नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिप्राण का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिप्राण के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्व्यर्षि-एकर्षि यह तीन भेद होना है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होना है—

१- १-गोतमः	} श्रोत्रे ----- द्व्यर्षिः	} सप्तर्षिः (शत० १४, ५१२। ५१५। ५१६। ७)
२- २-भाद्राजः		
३- १-विशामित्रः	} चक्षुषी ----- द्व्यर्षिः	
४- २-जमदग्निः		
५- १-वसिष्ठः	} नासिके ----- द्व्यर्षिः	
६- २-वसिष्ठः		
७- १-अग्निः	} वाक् ----- पञ्चर्षिः	

उक्त सप्तविंशत्यो में से सातवां अग्नि प्राण वाङ्मय है । यह वाङ् (अग्नि)-मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर अन्न खाता है, अतएव-‘अन्नमग्नि’ इस व्युत्पत्ति से इस वाङ्मय प्राण को-‘अग्नि’ कहा जाता है । अग्नि ही देवताओं की परोक्षमाया में ‘अग्नि’ नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

‘ वागेवाग्निः । वाचा (अग्निना) ह्यन्नमद्यते । अग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निः । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवं वेद’ (शत० १४।५।२।६) ।

यह वाङ्मय अग्निरा अग्नि है । पूर्व में जिन ऋषिप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अन्नन्त प्रकार के हैं । उन सब की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मय अंगिरा नाम का एकविंशत्यो ही है, जैसा कि ‘तेऽङ्गिरसः सूनवः (ऋक्. १०।६२।५) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । यद्यपि भृगु-अंगिरा-अग्नि भेद से अंगिराप्राण अग्नि से पृथक् तत्व माना गया है । परन्तु पर-मार्थतः तीनों एक ही हैं । अग्निरा अग्नि ही विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुँच कर भार्गव सोम-रूप में परिणत होजाता है । एवं अंगिरा ही चित्तिभाव को प्राप्त होकर धामच्छन्द बनता हुआ ‘अग्नि’ कहलाने लगता है । यही अंगिरस अग्निप्राण भूषिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकविं-वाङ्मय-पार्थिव अग्निप्राण के द्रुत भाव से आत्रेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के महानात्माधिकरण में चन्द्रोत्पत्ति-प्रकरण में बतलाया जानुका है । अंगिरा धामच्छन्द अथवा अग्नि है, यही वाग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण धाक् रूप से (वाग्निन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ । अग्नि नाम से प्रसिद्ध यह अंगिरा ही मन्त्रगत ‘एकविंशत्यो’ है । ‘प्रजापतिर्वा एकः’ (तैत्ति० मा० ३।५।१६।१) के अनुसार यह एताकी है । इसी अंगिराग्नि से (अंगिराग्नि के कार्यभाग की वृत्ति से) भूषिण्ड का धरूप निष्पन्न हुआ है । इसी एकविंशत्यो पार्थिव वाग्नि, किंवा अंगिराग्नि, किंवा अग्नि का धरूप निष्पन्न हुआ है । धामच्छन्दभाव के कारण यह अग्निमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक नाम ‘पूषा’ है । धामच्छन्दभाव के कारण यह अग्निमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शकता का प्रतिबन्धक होना हुआ तमोमय है, कृष्ण है, क्षायारूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है, जैसा कि निम्न दायन से स्पष्ट है—

१—स गौर्द्रं वर्णमष्टजत पृषणम, इयं वै पृषा, इयं हीदं सर्वं पुष्यति—यदिदं किञ्च” (शत० १४।४।२।२५) ।

यज्ञविद्या के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रश्न किया गया गया है कि, “आज्य (घृत) तरल पदार्थ है। इस की अग्नि में आहुति दी जाती है। उस तरल आज्यद्रव्य की आहुति से घनभावावन्नयुक्त पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है ?” । इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर ब्राह्मणश्रुति में उत्तर दिया है कि—“घृत अवश्य तरल पदार्थ है, परन्तु इसमें द्विग्वयगकन (सुवर्णखण्ड) डालकर इस की आहुति दी जाती है, अतएव अस्थिभावयुक्त पुरुष उत्पन्न होता है” । इस प्रश्नोत्तर का रहस्य यही है कि घृत शुक्र है, यह पार्थिवद्रव्य है, साथ ही में तरल है। परन्तु इस पार्थिव तरल शुक्र में हिरण्यवलय-द्रव्य घनता सम्पादक सौर हिरण्य तेज प्रविष्ट रहता है। इसीसे अद्विभाग का निर्माण होता है। जिस प्रजा के शुक्र में सौरप्राण कम होता है, उस की दृष्टि निर्बल रहती है। सौर संस्कार के जितने वर्ष हैं, पुरुष में उतनी ही दृष्टि है। एक एक वर्ष से एक एक अक्षि का निर्माण होता है। “सप्त च ह वै गतानि विंगतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्च (७२०), उपैतावन्त एव पुरुषन्धीनि च मज्जानश्च” (गो. भा० पू० ५।५।) यद्यपि पारचाय विद्वान् (१२५ भारतीय विद्वान् सुश्रुत भी) दाँतों को दृष्टि नहीं मानते, परन्तु वैदिकसंस्कारशास्त्र के अनुसार दाँत दृष्टि का प्राथमिक रूप है। कहना यह है कि अक्षि-निर्माण सौर तेज से होता है। उपात यिथु में एक वर्ष तक दाँत पैदा नहीं होते। कारण इस का यही है कि एक वर्ष तक इसमें पार्थिवद्रव्य प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण प्रबल नहीं होने पाता, अतः दाँत उपात नहीं होते। वर्ष भर दाँत उत्पन्न न होने का एकमात्र कारण पार्थिव द्रव्यप्राण की ही प्रधानता है। इसी आधार पर—‘तस्य दन्तान्-परोक्षत, सम्पादाद्दन्तवदः पृषा’ (गो० ६।१३) यह कहा जाता है।

शुक्र में पूषा उपात वै अनेकधा स्थिति देखी जाती है। सूर्य को भी पूषा कहा जाता है। वायु भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी को भी पूषा माना गया है। नन्दी नक्षत्र

भी पूषा नाम से व्यञ्जन होता है। पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्धसि (यजु ५.१२२) का पूषा शब्द रेवती नक्षत्र का वाचक है। "सोमः पूषा च चेतनुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्" (साम २.६।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। "पूष्णः पोषेण मघं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरद्भ्य आयुषे वर्चसे" (तैत्ति.मा. १.१२।१।१६) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। "अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) पचने, एष हीदं सर्वं पुष्पति-यदिदं क्रिञ्च" (शत. १.४।२।१।६) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के 'पुष्पन्' शब्द से रेवती नक्षत्र को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी-वायु-सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है, सूर्योऽमलक्षित सुलोक आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा सूर्य कथनानुसार 'एकर्षि' है। रोदसी त्रैलोक्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला अक्षिरस वायुरूप पूषा 'यम' है। जलोत्सव आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है। एकर्षि (पार्थिव पूषा), यम (अन्तरिक्ष पूषा), सूर्य (दिग्ग पूषा) तीनों ही प्राजापत्य हैं, प्रजापति की सन्तान हैं। मूषिण्ड चित्वाग्निमय है। इसमें चित्तेनिवेद्य अंगिरा नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ यही पूषा पार्थिव प्रजापति है। इसी उक्त्य प्रजापति की एकर्षि-यम-सूर्य (आदित्य) यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवस्य स्वरूप में महिगा पृथिवी में रहने वाले जिन अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिष्टुप्स्तोम तक अग्निप्रधान एकर्षि प्राजापत्य, पञ्चदशस्तोम तक वायुप्रधान यम प्राजापत्य, एवं एकविंशस्तोम पर्यन्त आदित्य-प्रधान सूर्य प्राजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्रजापति की यह तीन प्लावस्थाएं हैं। अग्नि-वायु-आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अंगिरा के विवर्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि ऋषि ते) ऋषि नें पहिले 'पूष्पन्' यह कहा है। एवं आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्य भावों का दिग्दर्शन करते हुए—“एकर्षे ! यम ! सूर्य ! प्राजापत्य” यह कहा है।

सूर्य में ज्योति, गौ, आयु, यह तीन मनोता हैं। ज्योति इन्द्र है, हिरण्यमय दे, यही देवभाग है। गौ भाग वरुण है, यही पूषा है—“पयवो वै पूषा”। आयुभाग आय दे, यही

वरुण है। सूर्य में पानी है, ज्योति है, पशु है, तीनों की समष्टि सूर्य है। पयान, भनुगान, छन्द आदि पशु हैं। सूर्य देवनय है, इस लिए वह इन्द्र है। आपोमय है, इस लिए वरुण है। पशुमय है, इस लिए 'पूषा' है। इन तीनों में पूषामाग देवता (ज्योति-हिरण्यपात्र-प्रसन्न) का निरोधी है। पृथिवी से सूर्य तक वह एक ही पूषाग्राण व्याप्त होरहा है। पृथिवीगत पूषा एकर्षि है, अन्तरिक्षगत पूषा यम है, स्वयं दिव्यलोकगत पूषा सूर्य है। जहां एकर्षिग्राण (पृथिवी-य तनोमय द्वायारूप पूषाग्राण) रहता है, वहां ऐन्द्र ज्योतिर्भाग नहीं रहता। वस इती एर्वी पाषिं पूषाग्राण को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—हे पूषा ! आप पृथिव्यवच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षावच्छेदेन यम हैं। दिव्यलोकावच्छेदेन सूर्य हैं। आपमहिमारूप से प्रनोरय में व्याप्त होकर, आपने प्रजापति (मूच-उत्थ'-रूप को प्रजापत्य (वन-मर्क-रूपों में परिणत कर एकर्षि-यम-आदित्य भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होरहे हैं। आप स्वयं (केन्द्रावच्छेदेन) प्रजापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विरर्षमृत होने हुए प्रजापत्य हैं। ऐसे आप अरुनी (कृष्ण) रश्मि-यों को फैनाइर ! माय ही में प्रनोरय में व्याप्त हिरण्यमय सौर भेज का (मायपर्यं के दंगन के लिए) मंत्ररुण कीजिए, सवेष्टि ! आप का जो कल्याणरूप रूप है, मैं उंग ही देखना हूँ—(देखना चाहता हूँ)। जो वह सौर हिरण्यमय पुरुष है, वही मैं हूँ"।

स्य कल्याणतम को, पूषाश्चिद्वज कल्याणरूपको । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ध्रुति कहती है—

यत्ते कल्याणतमं रूपं तत्ते पर्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः (हिरण्यमयः) सोऽहमस्मि”
(न तं पश्यामि-स तु-अहमेवेति भावः) ।

पुरु के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्थिव अंगित भाग पूषा है । त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश भेद से इसके एकविं-यम-सूर्य-यह तीन प्राजापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके साथ अहः (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अहः सौर भाग है, यह चाक्षु-पपुरुष का आवरक होने से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ, अतएव चाक्षुपपुरुष का आवरक बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिष्ठिक छायामाग ही इसका कल्याणतम रूप है । चाक्षुपपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि के अन्धकार में देख सकते ; वह दीखता है-छायामें । सत्यधर्मदर्शन के लिए हमें पूषा के छायारूप इसी कल्याणतम रूप पर दृष्टि जमानी चाहिए, छायामय भूतप्रधान पूषादेवता की ही वपसना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमने-‘पूषनेर्कपे यम सूर्य०’ इत्यादि मन्त्र को “पूषाप्राण का कौनसा रूप सत्यधर्म या साक्षात् करवाने में समर्थ है” इस प्रश्न का समाधान करने वाला बतजाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं होजाती । अपितु उक्तार्थ के साथ साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर-तैजस-प्राणरूप जीव देवसत्य का भी निरूपण करता है । पूषा को चित्त भूविण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्थानीय अग्नि एकर्षि है, पञ्चदशस्थानीय वायु यम है, एकविंशस्थानीय आदित्य सूर्य है । एकर्षि अग्निप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्य-गर्भ का, सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्थिव पूषा प्रजापतिरूप महासत्य है, जिसका कि निरूपण आगे के प्रकरण में होने वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्य है, यही

प्राणात्मा है। मर्यादामृतमय शरीर है। इस भौतिक पूषाभाग का यह देवसत्त्वरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है। सत्यधर्मरूप विज्ञान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूँ। पूषा का कल्याणतम अमृतरूप 'मै' (भोक्ता-देवसत्त्व) हूँ, यह अमृत भाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुष से अभिन्न है, मे उसी का प्रत्यंश हूँ।

- | | |
|---|------------------|
| 1-एरुविं-प्राजापत्यः-अमृताग्निः-त्रिवृत्स्थानीयः-अग्निः-वैश्वानरः (वैश्वानरः) | } देवसत्त्वात्मा |
| 2-यमः-प्राजापत्यः-अमृताग्निः-पञ्चदशस्थानीयः-वायुः-हिरण्यगर्भः (तैजसः) | |
| 3-सूर्यः-प्राजापत्यः-अमृताग्निः-एरुविंशस्थानीयः-इन्द्रः-सर्वज्ञः (प्राज्ञः) | |



वैश्वानर अग्नि-तैजस वायु-प्राज्ञ इन्द्र तीनों की समष्टि देवसत्त्वरूप जीवात्मा है। इसप्रकार यद्यपि 'अहं' भाग में अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रधानता वायु की ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। चिदाभास को ही जीवात्मा कहा जाता है। चित् का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है। इस चित् का प्रतिबिम्ब-'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं द्याम्यहम्' के अनुसार महान् पर ही प्रतिष्ठित है। भृगुतत्त्वं ही महद्ब्रह्म है। इस भृगु की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हैं। महद्ब्रह्म की इन तीन अवस्थाओं के कारण ही वह महत् प्रतिबिम्ब पानी-हवा-सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवसर्ग आप्य जीव, वायव्य जीव, सौम्य जीव मेद से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी में रहने वाले मत्स्यादि जीव आप्य हैं। इन की चेतना का नूनाधार पानी ही है। यदि इन्हें हवा में रख दिया जाता है तो इन आप्य जीवों की चेतना उन्मत्त होजाती है। दूसरा विभाग वायव्य जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले जीव 'वायव्य' हैं। कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्य-वृक्षादि सब वायव्य जीव हैं। बिना वायु के इन की जीवनसत्ता नहीं रह सकती। हम

१-पृष्ठ विंशत्येव पर पूर्ण है। २२ पर ही पक्षिण अमृतोन्द्र है। इसी स्थानाभिन्नता को लक्ष्य में रखकर उप-निषद् में इन्द्र के लिए पूर्ण शब्द का प्रयोग कर दिया है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय । तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है । राक्षस-पिशाच-यक्ष-गंधर्व-ऐन्द्र-पैत्र्य-मानापस-ब्राह्म भेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशालजीव सौम्य हैं । चान्द्रसोम ही इनकी चेतना का आधार है । उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । हमारी अध्यात्मसंस्था में वायु ही प्रधान है । वैश्वानर ध्यान सम्बन्धी है, प्रज्ञाभाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग व्यान सम्बन्धी है । जब तक मध्यस्थ व्यान वायु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राज्ञ प्रतिष्ठित रहते हैं ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति करचन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥

कर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रसगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [कठ ५५—३ ।]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ व्यानवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है । बीच में बैठा हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस लेता है, उस ओर से दिव्यरस लेता है । पार्थिवभाग अर्धप्रधान होने से मर्त्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होने से अमृत है । मध्यस्थ वायु श्वर अनुगत बनता हुआ मर्त्यभावापन्न है, उधर अनुगत रहता हुआ अमृतभावापन्न है । पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है । महर्षि ऐतरेय ने इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रज्ञानपुरुष को 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभाव से इसे हिरण्यमय कहा है । विज्ञानपुरुष भी हिरण्यमय है, प्रज्ञानपुरुष भी हिरण्यमय है । दोनों ही हिरण्यमय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है । विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होने से हिरण्यमय है, एवं प्रज्ञानपुरुष इरामय [पार्थिवान्तरसमय] होने से हिरण्यमय है । (देखिए ऐ० आरण्यक २ । ७ ।) इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि पार्थिव मर्त्य भौतिक रस 'इरा' कहलाता है । सारा अर्थप्रपञ्च पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रखता है । भूतप्रधान होता हुआ यह न्यून का कारण बनता हुआ मृत्यु-

मय है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मर्त्य इरा की ओर [पार्थिव संपत्ति की ओर] झुक जाता है, उसका वह वायुरूप आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। जब तक पार्थिव इराविच में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतत्वस्य तु-आ-शास्ति विचेन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव इरास की आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राज्ञ का आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इरा रहित) बन जाता है तो अमृतप्राज्ञ की प्रधानता से यह भी अमृतरूप बन जाता है—'ज्ञानान्मुक्तिः'। 'देवसत्य ही जीवात्मा है। उसमें प्रधान मयस्य तैजस वायु है। यदि आप आत्मकल्याण चाहते हैं तो अपने इस वायुप्रधान आत्मा को 'अनिर' बनाइए, पार्थिव संपत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनाराक्ति-योगरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तो विश्वास कीजिए, मर्त्यभाव से पृथक्होता हुआ वह उसी समय—'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर ऋषि कहते हैं—

“वायुरनिलममृतम्..... ।

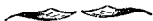
..... ॥”

(ई० उ० १७ मं०)।

(यद्वा वायुः (मध्यस्थस्तैजसात्मा) अनिलो—(अनिरो-पार्थिवरसासक्तिविरहितो) भवति—अथ स आत्मा अमृतभावयुक्तो भवति)—

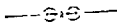
पार्थिव धातु इरा है, इस से भौतिक शरीर बनता है, यही वाक्रूपा भूतचिति है। अन्तरिक्ष धातु वायु है, यही ओज बनता है, यही प्राणचिति है। दिव्य धातु इन्द्र है, इस से मन बनता है, यही देवचिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों विवर्तों से अर्थात् के उक्त तीनों विवर्तों का निर्माण होता है। दिव्यलोक मनोमय है, अन्तरिक्षलोक प्राणमय है, पृथिवीलोक वाह्यमय है—(देखिए मैत्रायणीसंहिता.....)। शरीर मर्त्य है, मन अमृत है। प्राणवायु दोनों के मध्य में है। यदि यह इधर है तो मृत्युमात्रापन्न है, अनिर है तो अमृत है।

- १—शरीरम्—वाक्—पार्थिवधातुः—अग्निः (मृत्युः)—इरामयः (वायुर्धृत्यमयः)
 २—ओजः—प्राणः—अन्तरिक्षं बलम्—वायुः—
 ३—मनः—मनः—दिव्यं ज्ञानम्—इन्द्रः (अमृतम्)—हिरण्यमयः (वायुरनिलममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरण देवसत्त्व से अतिनाभूत चानुपपुरुष की उपासना का उपाय बतलाता हुआ, देवसत्त्व का निरूपण करता हुआ, सर्वान्त में उसे वायुप्रधान बतलाता हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतभाव के लिए पार्थिव विषयों में अनासक्ति रखने का आदेश देता हुआ समाप्त होता है ।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



आकृतात्मधिकरणे
प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



पूर्णमदः →→→→

५-भूः →→→→

अभिदवतम् →→→→

भूतवैभव

पुणमिदम्

५-शरीरम्

अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षरः—

बीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः
शरीरम्

६

भूः ← ————— ← ← ← अर्कान्कदः → → → ————— → शरीरम्

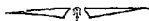
(प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्नः-बीज-देव-भूतमयात्मा
चित्क्यात्मा

१-.....अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

श्रीं कृतो स्मर, कृतं स्मर, कृतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ईशोपनिषद् १७ मन्त्र) ।





शरीरात्मस्वरूपनिदर्शनः

१-पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षडगुणयोगयुक्तम् ।

तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥

(गर्भोपनिषत्) ।

२-खं-वायु-ज्योति-रापथ-पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

(कैवल्योपनिषत्) ।

३-भस्मनिष्ठस्य दहन्ते दोषा भस्माद्रिसंगमात् ।

भस्मत्तानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥

(बृहज्जाबालोपनिषत्)

४-अथ वैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो, रस आसीत्, तन्मूर्धं समुद्रीहन् । तदस्य

शिरोऽभवत् । यच्चिद्रयं समुद्रीहन्, तस्माच्चिद्रः । तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अग्रपन्त,

तस्माद्देवैतच्चिद्रः । अथ पद् सर्वास्मिन्नाशयन्त, तस्माद्दुः शरीरम् ॥

(शत.६ मा० ६ कां । १ प्र. । १ मा. । ४ कं.) ।

५-“आत्मा वै तनूः” (शत० ६।७।२।६।) ।

६-“आत्मनो खेषाध्यह्नाणि प्ररोहन्ति” (शत० ६।७।२।१५ ।)

७-“पाङ्क इतर आत्मा (शरीरं) लोम-त्वङ्-मांस-मस्ति-मज्जा” (तां. मा. ५।१।४) ।

८-“पङ्क्तोऽयमात्मा (शरीरं) पृथिविः” (कौ० मा० २०।३) ।

९-“तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेघति च कुर्यति च” । (तां. मा. ५।१।७) ।

१०-“भूतोऽप्योऽज्ञातां यदात्मा (शरीरम्)” (शत. ६।६।१।१०) ।

११-“तस्मादयं सर्वं आत्मा (शरीरं) उच्यते (अग्निमयः) ।

तद्धैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम् ।

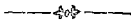
उच्यते एव जीविष्यन्, शीतो मरिष्यन्” (शत. ८।७।२।१) ।

१२-“तत् सर्वं आत्मा (शरीरं) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति” (कौ. प्र. २।७) ।

१३-“बाह्यो ह्यात्मा (शरीरम्)” (शत. ६।६।२।१, ६।६।२।२) ।

१४-“सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः [शरीरं], यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पञ्चपुच्छानि” [शत० ६।१।१।६] ।

१५-“आत्मा [शरीरं] एव-उक्ता” (शत० ६।५।३।४) ।



॥ श्रीः ॥

महाभूतानि सत्वानि संदृप्तानि क्रमेण च ।

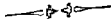
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगिनिना शनैः ॥१॥

यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ।

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरौ हरयः स्थूलात् स्थूलो जडाजडः ॥२॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।

सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥३॥



पनिपत् का बह्व्य विषय प्रायः समाप्त है । आत्मदृष्टि की अपेक्षा से अध्यात्मसंस्था में जो तात्त्विक अंश थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदर्थ गतार्थ है । जो संसारी उक्त आत्मविवर्धों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग-ऐश्वर्यों में तल्लीन रहते हैं, जिन यथाजात गूढ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने—“खाना-पीना यौज्ञ उढ़ाना” (eat drink and

be merry) इसी सिद्धान्त को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का वह प्रियतम शरीर एक दिन मलसात् (राख की ढेरी) होने वाला है । यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसंस्थाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में मिसई जायगा, साथ ही में वह यथाजात इस जन्म-मृत्युपरम्परालक्षण दुःखार्णव से भी कभी छुटकारा न पासकेंगे । अमृतात्मा निकल गया, रह गया भ्रमान्त शरीर ।

विश्वास करो जो शरीर एक दिन भस्म बनने वाला है, इसी भस्मान्त शरीर में अमृतात्मा से अनुग्रहीत कर्मात्मा प्रतिष्ठित है । उसके स्वरूप को पहिचानों । कर्मात्मा द्वारा प्रज्ञानात्मा [अन्तर्भन] पर, प्रज्ञानद्वारा विज्ञानात्मा [बुद्धि] पर, विज्ञानद्वारा महानात्मा पर, महान् द्वारा

अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुंचते हुए, पराकाष्ठा रूप उस पुरुष तत्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एवं जीवन सफल करलो। इस दुर्लभ मानव शरीर को पाकर भी यदि तुमने अपना जन्म एवं जीवन, निरर्थक ही गमा दिया तो तुमने अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मदृष्टि से तुम्हारे उद्धार का साधन है, यही शरीर तुम्हारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का चढ़े सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है —

१-इह चेदवेदीदय सस्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु निचिल्य धीराः प्रेक्षास्माब्जोक्तादमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषत् २।१३) ।

२-अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद्रिमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ (कठोप० ५।१।) ।

३-इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रंसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्त्राय कल्पते ॥ (कठ० ६।४) ।

जिस प्रकार महाविघ्न उस विश्वव्यापक ईश्वर का शरीर है, एवमेव हमारे जीवात्मा का यह भौतिक शरीर हमारा विश्व है। ईश्वरतत्व शरीरपेक्षया ८४ अंगुल का है, इधर जीतत्व भी अपने विश्व की अपेक्षा से ८४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो “गुरुषो वै मजापतेनेदिष्टम्” (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—(शत. २।५।१।१) यह श्रुति चरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अंगुल के परिमाण से ८४ अंगुल का ही होता है। एक ६ महीने का बच्चा भी ८४ अंगुल का ही है, एक युवा भी ८४ अंगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्ममूर्ति का मूल स्तम्भ अष्टाक्षर गायत्री छन्द माना गया है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए ई. उ. दि. ख. प्रब्रानात्माधिकरण पृ. सं. ३१० से ३१३ पर्यन्त) । “अष्टाक्षरा वै गायत्री” इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को अष्ट अक्षर का छन्द माना गया है। प्राणतय का ही नाम अक्षर है। एवं “मादेशमितः प्राणः” (ऐ. आ. १।२।४) के

यह आठों ही पर्व—‘अर्द्धं ह वै प्रजापतेररात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्’ इस सिद्धान्त के अनुसार अमृत—मर्त्य भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसंस्था है, एवं मर्त्य भागों की समष्टि विश्वसंस्था है। विश्व क्षरप्रधान है, आत्मा अव्ययगर्भित अक्षरप्रधान है। क्षर भूतभाग है, भूत ही भूति है, भूति ही मम है, यही भस्मान्त विश्व है। ठीक वही क्रम अप्यात्म में हैं। अधिदैवत की अमृतमयी आत्मसंस्था से अप्यात्मसंस्थाओं का उदय होता है, एवं विश्वसंस्था से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है। विश्व का क्या स्वरूप है ? एवं त्रिरांशमृत शरीर का क्या स्वरूप है ? इन सब विषयों का विशद निरूपण ईशभाष्य के प्रथमखण्ड में किया जा चुका है—(देखिए ई. उ. प्र. खं. विश्वनिरुक्ति ३४७ से ३८० पृष्ठ पर्यन्त)। अतः यहां पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारे शरीर का निर्माण यद्यपि भूपिण्ड से हुआ है, परन्तु भूपिण्ड पञ्चात्मक, किंवा सा लोकात्मक है। अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्ययों का समावेश सिद्ध होजाता है। आपाद—मस्तक शरीर भौतिक है। इसमें उक्त आठों पर्वों का भोग होरहा है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट होजायगा।

उक्त शरीरसंस्था का निरूपण करता हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

.....अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
 श्रौं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ई० उ० १७ मन्त्र) ।

‘अथेदं भस्मान्तं शरीरम्’ इस वाक्य से उपनिषत् को यही बतलाना है कि मर्त्य का वायुरूप आत्मा अनिष्ट (अनिर) बनता हुआ अमृतभाव को प्राप्त होजाता है, परन्तु शरीर मर्त्यमृत बनकर यही रह जाता है। इस प्रकार यह ईशोपनिषत् उपक्रमस्थानीय षोडशी-पुरुष से आरम्भ कर उपसंज्ञा स्वरूप शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मविभागों का संक्षेप-से निरूपण करती हुई अपने—“सर्वोपनिषत्” “पूर्वोपनिषत्” इत्यादि नामों को चरितार्थ कर रही है।

उपनिषदादेश समाप्त हुआ। ईश्वर-एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामने रखकर सर्वान्त में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि "यदि तुम ज्ञानकर्ममय पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का यथार्थ स्वरूप जानना चाहते हो तो ऋतु का स्मरण करो, एवं कृत का स्मरण करो! अल्प-वसायवृत्ति ऋतु है। 'अहमिदं करिष्यामि' (मैं यह करूँगा) इस मानसवृत्ति का नाम ही ऋतु है। इस ऋतु की सफलता 'दत्त' है। कार्यसिद्धि दत्तभाव है, तदर्थ होने वाला संकल्प (इरादा) ऋतुभाव है। पहिले ऋतु होता है, ध्वनन्तर कृतरूप दत्तभाव का उदय होता है। प्रत्येक कर्म में ऋतु-दत्त (ऋतु-कृत) दोनों भाव निविष्ट हैं। मनोयुक्त प्राणव्यापार ऋतु है, वाग्ज्यापार कृत है, दोनों का आलम्बन मन है। मन से कामना का उदय होता है, तदनु-कूल प्राणव्यापार हो पड़ता है, तदनन्तर वाग्ज्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है। प्राण-व्यापार कामनामय है, अतएव ऋतु को मानस व्यापार भी मान लिया जाता है, जैसा कि-
श्रुति कहती है-

“स यदेव मनसा कामयते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय-इति, स एव ऋतुः।”

(शत० १।१।१११)।

“इत्सु ह्ययं ऋतुर्मनोजयः प्रविष्टः” (शत० ३।३।१।७)।

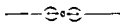
इरादा ऋतु है, इरादे से जो कर्म किया जाता है वह कृत है। जो मनुष्य अपने ऋतु और कृत पर पूर्ण दृष्टि रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है। लौकिक विषय-सम्बन्धी ऋतु और कृत व्यासक्ति के कारण हैं, आत्मानुमाहक ऋतु एवं कृत अनासक्ति के कारण हैं। 'क्या इरादा था, क्या किया' इस प्रकार प्रत्येक कर्म में दोनों पर दृष्टि रखो। इससे सदसद्विवेक होगा, अच्छे बुरे की पहिचान होगी। फलतः सत्कार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी। आत्मबोध के लिए प्रत्येक दशा में-^{**}“इमारा क्या इरादा था, हमने क्या करडाला”

* कि उ मे स्यादिदं कृत्वा कि उ मे स्यादकुर्वेत् ।
इति सचिन्त्य मेधाकी सतत कर्म व्यापरेत् ॥

इस विचारधारा को लक्ष्य में रखो ! इस विचारधारा से कालान्तर में तुम्हें यथार्थ परिणयति का ज्ञान होजायगा । आत्मज्ञान के लिए ऋतु और कृत के स्मरण से अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

अपि च तुमनें आत्मोपनिषद् सुनी, आत्मा का शब्दद्वारा (शब्दद्वारा) तुमनें परिज्ञान हुआ । परन्तु यह शब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि तुम तदनुकूल ऋतु-और कृत का आश्रय न लो । “आत्मा नित्य है, हम और वह अभिन्न हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं” इस प्रकार केवल मुख से शब्द कह देने से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता । आत्मबोध के लिए जहां आत्मस्वरूप श्रवण आवश्यक है, तथैव (श्रवणान्तर) मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक हैं । “आत्माने वायु द्रष्टव्यः—(कथं द्रष्टव्यः) ? श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” । सुनो, मनन करो, अन्तरात्मा में दृढ़ करो, तभी आत्मसाक्षात्कार होगा । मन्तव्यः—ऋतुभाव है, निदिध्यासितव्यः—कृतभाव है । अणानुकूल संकल्प रक्खो, संकल्पानुकूल आत्मोपयोगी निष्काम कर्म करो, यही आत्मबोध के मुख्यद्वार हैं—“कृतो स्मर-कृतं स्मर” । “अभ्यासे भूयान्-समर्थ मन्यन्ते” के अनुसार पुनरुक्ति दृढता के लिए है । साथ ही में यही उपनिषत् समाप्त है, इस समाप्ति सूचना के लिए भी द्विरुक्ति है । “ऋतु का स्मरण करो, कृत को स्मरण में रक्खो” यही ब्रह्माण्ड का अन्यतम मार्ग है ।

इति शरीरात्माधिकरणम् ।



६

उभयोः सत्प्रात्मनोरभिना-ऐकात्म्यम्

स्वयम्भू-परमेष्ठी-भूय-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच ईश्वरीय ब्रह्मसत्त्व हैं, अव्यक्त-मदान्-विज्ञान प्रधान-शरीर यह पांच जीव ब्रह्मसत्त्व हैं । सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

इन तीनों की समष्टि ईश्वरीय देवसत्य है, एवं प्राज्ञ-तेजस-वैश्वानर की समष्टि जीवदेवसत्य है। यह ब्रह्मसत्य और देवसत्य दोनों ही सत्यात्मा अग्निरूप हैं। देवसत्य की अज्ञिता तो राक्षसी है। उधर ब्रह्मसत्य के पाँचों पर्वों में स्वयम्भू चागयिमय है, सूर्य देवामिमय है, पृथिवी अन्नादागिमयी है। मन्व्यपतित परमेष्ठी एवं चन्द्रमा असतोमरूप होने से अग्निरर्गित होते हुए अग्निरूप ही हैं। वेदामिगूर्ति षोडशी पुरुष भी अग्निविभूति से पृथक् नहीं हैं। इस प्रकार आत्मा-ब्रह्मसत्य-देवसत्य सब का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है। आत्मसत्य से ब्रह्मसत्य सत्य है, मन्व्यसत्य से देवसत्य सत्य है—'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यह सत्यत्व साक्षात् अग्नि है। सम्पूर्ण आत्मविभूति का इसी अग्निरूप से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुरागामेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(इशोप० १८ मं०) ।

मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है। केवल 'वयुन' शब्द का अर्थ जानलेना आवश्यक है। अग्नी-चाद के अनुसार सारा विश्व 'वयुन' है। सत्तादृष्टि से, भातिदृष्टि से, एवं उभयदृष्टि से आप जो कुछ पदार्थ प्राप्त करते हैं, एवं देखते हैं, वे सब वयुन हैं। विश्वरूप वयुन ईश्वरप्रजापति का मोर्ग्य पशु है, अतएव वयुन को 'मन्त्र' कहा जाता है। इस वयुन में वय-वयोनाथ यह दो विभाग हैं। प्रत्येक वस्तु में वस्तु और उस का आकार यह दो भाग रहते हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिस का कोई आकार न हो। इस प्रकार से वह वयुन रूप वस्तु धिरी रहती है, वह रहती है। अतएव वय को वह रखने वाला यह आकारभाव 'वयोनाथ' नाम से प्रतिष्ठित है। यही वयोनाथ याज्ञिक परिभाषा में 'हृन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है। वयोनाथ रूप हृन्द से हृन्दित (सीमित) वस्तुभाव ही वय है। वय-वयोनाथ की समष्टि ही वयुन है। अनन्त वयुनों की समष्टि विश्व है। विश्व एक महा वयुन है, विश्व में रहने वाले अथान्तर सारे वयुन हृन्द वयुन हैं। इन वयुनों का जानन वाला (स्वरूपसंपादन करके वाला), अतएव 'जातवेदा'

नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही है । इसी वयुनसित् विश्वमूर्ति अग्नि का स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

“हे अग्ने ! आप संपत्ति (आत्मसम्पत्ति-एवं विश्वसम्पत्ति) के लिए हमें अच्छे मार्ग से ले चलिए । क्योंकि संसार की वयुनरूप जितनी भी सम्पत्ति है, आप ही उस सबके अन्वयतम, शक्त हैं । हमारे आत्मा को कुटिल बनाने वाला [असमार्ग में ले जाने वाला] जो पाप्मा है, उसे हमसे पृथक् कीजिए । हे अग्ने ! हम आपके लिए बार बार नमः वाक् का उच्चारण करते हैं— [आपके अन्न बनते हैं] ” । स्वाहा-स्वधा-स्वगा-धौपद्-श्रौपद्-नमः आदि भेद से अन्न के कई भेद हैं । इनमें मनुष्यरूप अन्न ‘नमः’ है । ‘हम आपको नमस्कार करते हैं’ इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं । अग्नि अन्नाद है । रुत इसकी प्रसन्नता का कारण है । आज हम स्वयं ‘नमः’ बोलते हुए इस अग्नि के नमः रूप अन्न बन रहे हैं । इस प्रकार ब्रह्मसत्त्व-देवसत्त्वात्मभूत वयुनाधिष्ठाता, सन्मार्गप्रवर्तक इसी अग्निदेव को भूयो-भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषद् समाप्त होती है ।

ओं पूर्णामदः पूर्णामिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इति वाजसनेयोपनिषत्-विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णाम् ।

→ एषा काम ब्राह्मी उपनिषत् ←

— १ —

उपनिषत्-निष्कर्ष

तत्त्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भूलता हुआ पाषण्डीन फलाशुपूर्वक भोगों में ही प्रवृत्त रहता है ।

भोगैश्वर्यमसक्तानां तयापहृतचेनसाम ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते" (गीता० २।४४)

इस शार्त्ता उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए धामना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का चरम लक्ष्य एक मात्र सासारिक भोग-वैभवं ही है, उन अविवेकी मनुष्यों का भोगसक्त मन चञ्चल रहता है । मन के साथ बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में सोमरसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है । जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार लेजाने वाली नौका उगमना जाती है—(वायुर्नावभिवाम्भसि—गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जाने से तत्प्रतिष्ठ सूर्यप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कामासक्तिस्थानीय वायु के आघात से चञ्चल बना हुआ समुद्र, किंवा अपस्थानीय मन तत्प्रतिष्ठ नौकास्थानीय बुद्धि को चञ्चल बना देता है । चित्त बुद्धि के साथ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्त' की खामात्रिक स्थिरता गारी जाती है । चित्त का सत्त्वमात्र उत्कान्त होजाता है, रजोमिश्रित तमोमाय बुद्धि और मन पर आक्रमण कर लेता है । ऐसी मलिन बुद्धि कभी आत्मशान्तिलक्षणा समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती । भले ही ऐसा संसारी कहें भर को अपने व्याप को सुखी समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुर-स्तर पूँछा जाय तो इसे वही उच्चर देना पड़ेगा, जो कि उद्धार कामकामी महाराज ययाति के मुख से निकले थे । पुरु द्वारा प्राप्त युवानस्था से भी जब ययाति की तृप्ति न हुई तो खिन्न होकर जन्त में उन्हें कहना पड़ा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शम्भयति ।
हविषा कृच्छरर्त्सेव भूय एवाभिरर्द्धते ॥

इस प्रकार अविवेक के द्वारा दुःखाण्य में निम्न प्राणियों के समुदाय के लिए ही ईशोपनिषत् प्रवृत्त हुई है। उपनिषत् का वक्तव्यशः केवल यही है कि “तुम ईशदृष्टि से भोग मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यावज्जीवन कर्म करते रहो”। निष्कामभाव से कर्म करते करते कालान्तर में तुम्हारा मन अनासक्त बन जायगा, प्रज्ञा स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से वित्तप्रसाद होगा—‘प्रसादे सर्व-दुःखानां हानिरस्योपजायते’। प्रकृत उपनिषत् में निम्न लिखित ६ वाक्यों पर ही दृष्टि रखनी चाहिए—

- १—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा !
- २—मा गृधः कस्यस्विद्धनम् !
- ३—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् !
- ४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् !
- ५—ऋतो स्मर, कृतं स्मर !
- ६—अग्ने नय सुपथा राये !

—:०:—

- १—ईश से छोड़े हुए भाग का (ही) भोग करो !
- २—किसी की सम्पत्ति पर नियत मत डिगाओ !
- ३—काम करते हुए ही जीवन रहने की इच्छा करो !
- ४—जो आदिस में आत्मा है, वही तुम हो !
- ५—अपने इरादे को लक्ष्य में रखो, जो करचुके हो उसे लक्ष्य में रखो !
- ६—साथ ही में अपने बल (अग्निबल) का ठीक मार्ग में उपयोग करो !

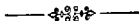
—ॐ(ॐ)ॐ—

१- तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलने वाला है, वह उस अन्तर्यामी की प्रेरणा से (तुम्हारे ही सञ्चित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही नियत है। 'जात्यायुर्भोगाः' इस सिद्धान्त के अनुसार तुम्हारी जाति (योनि), आयु, और भोग तीनों पहिले से ही नियत हैं। तुम्हें जो कुछ मिलने वाला है, वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूसरा नहीं बढ़ा सकता, साथ ही मैं तुम दूसरे का ले भी नहीं सकते। मिलने वाला मिल ही जायगा, न मिलने वाला नहीं ही मिलेगा। विश्वास करो! भोजन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं है। भोजन को जीवन का दास समझो, जीवन को भोजन का गुलाम मत बनाओ! व्यसनों के दास मत बनो, व्यसनों को अपना दास बनाओ! खाने के लिए जिवित मत रहो, जीवित रहने के लिए खाओ! भोजन की दासता में तुम स्वयं संसार के भोजन बन जाओगे, एवं भोजन को अपना दास बनालेने से संसार तुम्हारा भोग बन जायगा। यदि ऐसा नहीं करोगे तो—

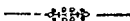


२- तुम्हारी लिप्ता, तुम्हारी फलाकांक्षा, तुम्हारी बाङ्गु तुम्हारे आत्मा को गिरा देगी। तुल्ले अन्न की दासता में अत्मसमर्पण करना पड़ेगा, कर्तव्यों के लिए हीरों की भेट चढ़ानी पड़ेगी, अल्पलाम के लिए सर्वस्व खो देना पड़ेगा, अर्थ की दासता में तुल्ले परमुखापेही बनना पड़ेगा, दूसरों की निङ्कियं सहनी पड़ेगी। सोचो! (मन का व्यापार करो), विचारो (बुद्धि से कामलो)! सोच समझकर कल्याणपथ का आश्रय लो। तुम क्यों दूसरों की संपत्ति में लिप्ता रहते हो। क्या तुम मनुष्य नहीं हो! क्या तुम्हारे पास बुद्धिबल नहीं है! क्या तुम उस सर्वज्ञानधन के अंश नहीं हो! हो और अस्मय हो! तुमने अपने प्रह्लादप्रथ (नासमकी-गलती) से अपना विमूर्तिमान् युवा रखा है। उठो! जागो!! वेदप्ररूपद्रा-रा प्रदत्त वर से आगे बढ़ते चलो!!! आत्मदेवता तुम्हारे साथ है। तुल्ले किस का डर है, तुम्हारे पास क्या कमी है। जानते हो आत्मदेवता का तुम्हारे ऊपर अनुसद करेगी! क्या

तुम्हें श्वात्मबल (Will Power) मिलेगा ? कब तुझारी गई छूटेगी ? कब तुम भोगों के पञ्जे से छूटोगे ? नहीं तो सुनो !



३— जो मनुष्य फल को अपने अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यभाव से केवल कर्म में प्रवृत्त रहना है, विश्व की विभूति उस के चरणों में लौटा करती है। फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुझारे कर्म से। तुम कर्मदशा में ही जब फल की चर्चणा करने लगते हो तो परिणाम इस का यह होना है कि तुझारा मन दोनों तरफ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है। कर्मसिद्धि में जितना बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म अपूर्ण रह जाता है। फलतः पूर्ण कर्म से सम्बन्ध रखने वाले पूर्णफल का उदय नहीं होता। इस प्रकार कर्मप्रवृत्तिकाल में फल की आशा रखते हुए तुम सधे ही फलनाश के कारण बन जाते हो। यही नहीं, फलाशासंस्कार से तुझारा मन लिप्त होजाता है, स्पृहा बढ़ जाती है। यदि तुम स्पृहा हटाना चाहते हो, निवृत्त बनना चाहते हो तो कर्मप्रवृत्तिकाल में सर्वथा अनधिकृत फलाशा का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध चातुर्ण्यधर्ममूलक कर्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो। भोग-लिप्सा के लिए जीवित रहने की इच्छा मन करो, धर्म कार्यों के लिए जीवित रहने की इच्छा करो। परिणाम इस का यह होगा कि धर्म की अनन्यता से फलामिसिद्धि में भी सन्देह न रहेगा, एवं फलाशा से सम्बन्ध रखने वाला संस्कार लेप भी न होगा। अरे ! तुम दिन तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो। त्रैलोक्य की समृद्धि के अधिष्ठाता आदित्य पुरुष के वशव होकर इन तुच्छ सपत्तियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपने वंशजों की कीर्ति मिट्टी में मिला रहे हो। सोचो तुम कौन हो, कहां से आए हो, क्या करना चाहिए था, क्या कर रहे हो। यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बतलाते हैं।

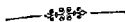


५- सूर्य तुलारे सामने है। त्रैलोक्य इस के प्रकाश से प्रकाशित है। "सूर्य आत्मा जगत-स्तस्थुपश्च" (यजुः सं०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंश हैं। अंश अंशी से अभिन्न है। फलतः जो वह है, वही हम हैं। "हम कौन हैं" इस का यही सचा इतिहास है। जिन धोकेबाजों ने तुलारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुलारे आत्मवैभव का अपहरण कर रखा है, एवं जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझने हुए तुम अपनी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित हो रहे हो, कलङ्कित, कल्पित, कुत्सित, कुनर्ममय उस मिथ्या इतिहासग्रन्थ के पत्रों को जला डालो। अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अन्वेष्टण करो। वह मिलेगा तुम्हें अपने ऋषियों की वाणी में, उपनिषदों में। वह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है। अरने इस सत्य आत्म-इतिहास के बल पर तुम जन्मसिद्ध उस आशानन्दभूला स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे। परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय। कर्म करो, परन्तु सावधानी से। अंश मीच कर स्येञ्जाचारी मत बनना। अपि तु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना—

किं नु मे स्मादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतां ।

इति संचिन्त्य मेधावी कर्म कुर्वीत वा न वा ॥

कर्मजाल बड़ा दुस्तर है। "किं कर्म किपुरुभेमिति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (गीता) के अनुसार कवि (भृगु-सोम) वंशज, सोमगण मन का संयम करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनस्वी भी कमी कमी धोका खा जाते हैं। वे भी कमी कमी वर्षाधम-धर्ममूलक आधिकारिक कर्म की उप्पेक्षा कर अकर्म को कर्म मान बैठते हैं, कर्म को अकर्म मान बैठते हैं। तुम्हें चाहिए कि—



५- तुमने कर्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इरादा (कतु) किया है, उसकी सख परीक्षा कर लो। हाथ ही में जो कर्म कर चुके हो उस पर दृष्टि रखो। सोचो कि अवतक हमने

जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उससे समाज का क्या हित हुआ है ! वर्तमान को भव्य बनाने के लिए अतीत को लक्ष्य में रखो । कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्तमान के कर्मकाण्ड के झपटे में आकर आंख मीच कर अशास्त्रीय कर्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्ममार्ग का विरिडमघोष करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठे । "चुरस्य धारा निशिना दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति" ।

— ❦ —

६- तुम्हारा ऋतु (इरादा) भी बड़ा उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा बड़ा भव्य था । परन्तु सावधान ! कहीं वर्तमान को न भूल जाना । वर्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है, उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना । लम्बे चौड़े इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं । इसके लिए तुम्हें वर्तमान बल का आश्रय लेना पड़ेगा । तुम्हारी अध्यात्मसंस्था में कर्म के प्रयत्नक देवता सोमगर्भित अग्नि हैं । अग्नि अद्विष्ट है, सोम भृगु है । यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म] के सञ्चालक हैं । "भृगुणाम-द्विरसां तपसा तप्यध्वम्" इस श्रौत सिद्धान्त का समादर करते हुए, भृगु-अद्विष्टा-मय अपने शरीर आग्नेय बल को सामने रखते हुए तदनुसार कर्म करो । वही अग्नि देवता तुम्हें सुषम का अनुगामी बनाने वाला है । जो व्यक्ति शक्तिसीमा का उल्लंघन करता हुआ असम्भव कर्मों में प्रवृत्त होजाता है, वह कभी सफल नहीं होसकता । इस प्रकार ऋतु (इरादा), कृत (अतीत), अग्नि (वर्तमान शक्ति) तीनों को लक्ष्य में रखते हुए, फलाश छोड़ते हुए कर्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक, पारलौकिक दोनों विभूतिर्प करवद तुम्हारे सामने लड़ी हैं ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

